आशीर्वाद।

सर्वोपमोपमेय श्रीलश्रीयुक्त गुणिजनमंडलीमंडन पाखण्डमतखण्डन प्रजापालक दुष्टजनघालक स्वधर्मनिरत अखण्डप्रताप श्री श्री १०८ श्रीयुत कुँवर विचित्रशाहजूदेव महोदय करकमलेषु।

दोहा।

मंगल मूरत सुखसदन, गुणगणके आधार।
ऋद्धि सिद्धि पावहु सदा, शाहविचित्र कुमार॥ १॥
क्षेम कुशल सब देशमें, लहै प्रजा आनंद।
गो द्विज संत यती सबै, विचरण करैं स्वछन्द॥ २॥
कविजन बुधजन आपसों, लहैं दान सन्मान।
प्रगटै कीरति लोकतिहुँ, सूरज चन्द समान॥ ३॥
सदा धर्ममें मति रहै, विजय रहे नितसाथ।
राम लषण सीता सहित, बसहिं हिये रघुनाथ॥ ४॥
द्विज बलदेवप्रसादकी, नितनव यही अशीश।
महाराज जीवित रहो, सुखयुत कोटि वरीश॥ ५॥

आशीर्वादक—

बलदेवप्रसाद मिश्र,

दीनदारपुरा-(मुरादाबाद.)

भूमिका ।



जब धर्मज्ञानकी कमीसे पृथ्वीपर और देशोके लोग घोर पशुस्वभावमे लिप्त होरहे थे, जब कि वे लोग 'आहार' 'निद्रा' 'भय' और 'मैथुन' इत्यादि पाशवी वृत्तियोके अधीन थे, जिस आध्यात्मिक शक्तिके प्रभावसे मनुष्य; पशुपक्षी इत्यादिमे अलग माना जाता है, जब कि दूसरे देशोके लोग मनुष्यजातिके इस परमपुरुषार्थ से वंचित थे, जब कि वे लोग विशुद्ध सतोगुणका रस चाखनेसे वंचित रहकर केवल पशुभाव चरितार्थ करते हुए भल्लूकादिकी भाँति वन २ जंगल २ घूमते थे, उस समय इस धर्मक्षेत्र भारतवर्षमे दिव्यस्वभाव त्रिकालदर्शी महायोगी आचार्यगणोने जन्म लिया था। उन लोगोने कितने दिन पहले जन्म ग्रहण किया था, सो तो हम नही कह सकते (१)। परन्तु उन लोगोंके अनन्त ज्ञानभांडारकी महिमाके विचार करनेसे जानपडता है कि, मानो वे अनादि अनन्त कालसे इस जगतमें वर्त्तमान हैं। वे अपूर्व योगबलसे ब्रह्म व ब्रह्माण्ड विषयका तत्त्वनिरूपण करगये उनके उपरान्त जगतमे कितने राजा व राजवंशोका उत्थान और पतन हुआ, पृथ्वीपर कितने उपद्रव और हेरफेर हुए, सनातन धर्मपर कितनी बाधा विपत्तियें आई, परन्तु योगद्वारा प्राप्त किये उनके वे समस्त तत्त्व अबतक ध्रुवतारेकी समान प्रकाशमान होरहे हैं। उनके जिन ज्ञान रत्नोंके गौरवसे यह भारतभूमि अबतक सब जगत्में रत्नोंका भाण्डार समझी जाती है, उन अमोल रत्नोंमेंसे हितोपदेश भी एक रत्न है। महापंडित हितोपदेशप्रणेता विष्णुशर्मा अतिप्राचीन कालके पुरुष हैं। प्राचीन समयके होनेपरभी मनु, बृहस्पति, शुक्र, वाल्मीकि, पराशर, व्यास और

---

(१) "The world does not now contain annals of more indisputable antiquity than those delivered down by the ancient Brahmans."

MR. HALHED

"So for as the etymological investigations of the Sanskrit have hitherto afforded satisfactory results, it may certainly be considered as the parent stock of all the known languages,"

MR. HAMMER.

चाणक्य इत्यादिके पीछे इनका जन्म हुआ था । शहदकी मक्खी जिसप्रकार अनेक फूलोंका रस लायकर अपूर्व मधुचक्र (महाल) वनाती है, विष्णुशर्माजीनेभी वैसेही अपनेसे पहले हुए पंडितोंके शास्त्रोंमेंसे सार निकालकर यह हितोपदेश बनाया है। इसके उपदेश सवही समयमे मनुष्योंके लिये हितकारी हैं। क्या योगी, क्या भोगी इन उपदेशोंसे सवही उपकार पाय सकते हैं । यह योगीको योगकी सिद्धि, भोगीको पवित्र भोगकी शक्ति, रागीको रागकी शक्ति, और शोकार्त्तको धीरज बँधाता है। राजा, प्रजा, गृही, सन्यासी, पंडित, मूर्ख, धनी, निर्द्धन, वालक, वृद्ध, युवा और आतुर, सबके निमित्तही यह स्नेहमयी माताकी समान है,—

"मङ्गल्या च मनोहरा च जगतो मातेव गङ्गेव च" । (भवभूति)

समयानुसार इस हितोपदेशके गुणका गौरव जब देशविदेशोंमें फैलगया, तव अनेक देशोंके गुणग्राही सज्जन इस देशमें आयकर यह अपूर्व मधुसग्रह करने लगे । क्रम २ से 'हितोपदेश' पृथ्वीके अनेक देशोंकी अनेक भाषाओंमे अनुवादित हो अनेक आकारोंसे फैलगया (१) । इसकी नीतियुक्त कथाएँ अत्यन्त असभ्य जातिके वीचमें भी अनेक प्रकारके नामोसे प्रचारित हुई ।

एशिया, यूरोप व अमेरिकाकी समस्त जातियें और समस्त धर्मावलम्बी पुरुषगण ईश्वरीय वचनके समान इस हितोपदेशके उपदेशोंमें श्रद्धा भक्ति दिखलाते हैं।

हितोपदेशके कर्त्ता किस समयमें कहांपर उत्पन्न हुए थे, उनका वास्तविक नाम विष्णुशर्मा था या नहीं इस समस्त ऐतिहासिक वृत्तान्तके यथार्थरूपसे जाननेका कोई उपाय नहीं है। भारतवर्षके प्राचीन आचार्यलोगोंने अपने अपने में अपना कुछभी वृत्तान्त नहीं लिखा है । वह लोग किस समयमें, किस किस कुलमें और किस अवस्थामे उत्पन्न हुए थे, उनका नाम क्या, व कैसा था इत्यादि आधुनिक ऐतिहासिक वृत्तान्त कुछभी ज्ञात नहीं होता ।

(१) हिब्रु, लैटिन्, ग्रीक, माल्टिक, इटालिक, जार्मनिक, फ्रेंच, स्पेनिश, अरबी, फारसी, तुर्की, चीन, पल्हवि, बंगला, उर्दू , अंगरेजी, हिन्दी, गुजराथी, मराठी इत्यादि पृथ्वीकी प्राचीन और आधुनिक भाषाओंके गद्यपद्यमें विष्णुशर्माके हितोपदेश और पञ्चतंत्रका अनुवाद हुआहै । भूमिकाके पीछे कोल्ब्रुक साहबका लिखा अंगरेजी विवरण देंगे ।

अपना वृत्तान्त लिखकर क्या करते, क्योंकि वह तो सम्पूर्णतः अपने आपको भूल तन्मयभावसे ज्ञानचिन्तामे मग्न रहते थे. और उस महायोगमें सिद्धि प्राप्त करके अपनेको चरितार्थ समझते थे । वरन् इसकी उनको कुछभी इच्छा नहीं थी, कि ग्रन्थमें अपना वृत्तान्त लिखे । इसी कारण रामायण, महाभारतादि ग्रन्थोंमें उन अद्वितीय ज्ञानभाडारके सृष्टि करनेवालोका कोइ विवरण नहीं है । (१) उनके वनाये ज्ञानभाडारोंकी आब्रह्मस्तम्बव्यापिनी विशालता देख उनके आकारका ध्यान करनेसे हृदयके बीचमे उनकी एक २ विराट्मूर्ति प्रगट होजाती है । यद्यपि उन्होंने अपना लौकिक परिचय नही दिया, परन्तु जो परिचय कि देना चाहिये, उस अलौकिक ज्ञानपरिचयको देगयेहैं । व जीवगणके कल्याणकी कामनासे जो अनमोल ज्ञानधन एकत्र करगये हैं, वह 'यावच्चन्द्रदिवाकरौ' तक उनका आत्मपरिचय देगा । महावीर कर्णने कहा था;—

"सूतो वा सूतपुत्रो वा यो वा को वा भवाम्यहम् ।
दैवायत्तं कुले जन्म ममायत्तं हि पौरुषम् ॥"

"मैं सूतपुत्र वा सूत अथवा जो कोईभी हू मेरी जाति और कुलके परिचयसे क्या होगा ? क्योंकि हमारा असली परिचय तो मनुष्यत्व है" । इसकारण हितोपदेशके कर्ताका नाम, धाम और वंशका परिचय न पानेसेभी कोई क्षति नहीं है, उनका यह हितोपदेशही अनन्तकालतक जीवलोकका महोपकारसाधन करके उनके मनुष्यत्वका परिचय प्रदान करेगा ।

पचतत्र और हितोपदेश ये दो ग्रन्थ विष्णुशर्माजीके वनाये हुए माने जातेहैं । 'पंचतत्र' उनका प्रथम ग्रन्थ है, और उससे सार निकालकर पीछे उन्होने 'हितोपदेश' वनाया । दोनों ग्रन्थाका एकही प्रतिपाद्य है । पंचतत्रमें जो विस्तारसे है, हितोपदेशमें प्रायः उसका सक्षेप है इसलिये पचतंत्रही हितोपदेश-

(१) अधिक तो क्या कहैं उन लोगोंने अपने २ ग्रन्थोमे अपना नामतक नहीं लिखा । 'वाल्मीकि' 'वेदव्यास' इत्यादि उनके असली नाम नहीं हैं । रामायणके कवि जव महायोगसाधन कररहे थे; जव कि उनके देहपर क्रमसे वॅमई जमगई तव वह 'वाल्मीकि' नामसे विख्यात हुए । वेदविभाग करके महाभारत कर्त्ता 'व्यास' या 'वेदव्यास' के नामसे प्रसिद्ध हुए थे

का मूलस्वरूप है (१) इन दो ग्रन्थोंकी प्रस्तावनामें जो परिचय पायाजाता है, वह यह है,–

(१) पचतत्रमें पाच तत्र है यथा,–(१) मित्रभेद, (२) मित्रप्राप्ति, (३) काकोलूकीय, (४) लब्धप्रणाश, (५) अपरीक्षितकारक। हितोपदेशके चार परिच्छेद है, यथा,–(१) मित्रलाभ, (२) सुहृद्भेद, (३) विग्रह, (४) सन्धि। पञ्चतत्रके मित्रभेदसे हितोपदेशका मित्रभेद सकलित हुआ। पचतंत्रकी 'मित्रप्राप्ति' से हितोपदेशका 'मित्रलाभ' सकलित है। हितोपदेशमे विग्रह और सन्धि व आनुपङ्गिक अन्यान्य कथाएँ पञ्चतत्रके पांच तत्रोसे आवश्यकतानुसार सग्रह कीगई हैं। यहां दोनो ग्रथोकी कमताई व अधिकाईकी गणना लिखीगई।

पंचतत्रमें परिच्छेद	...	...	...	५
" मूलकी आनुपाङ्गिक कथाएँ		...	...	६३
" श्लोकसख्या	...	...	...	१०२४
" पृष्ठांक...	...	...	...	३१५

इनम ६ श्लोक प्रस्तावनाके। प्रथमतत्रमे श्लोक ४२५, और कथा २२। दूसरे तत्रमें १८५ श्लोक और ६ कथा। तीसरेमें १८४ श्लोक, और कथा ४। चतुर्थमें ११८ श्लोक, और १६ कथा। पाचवे तत्रमे श्लोक १०६ और कथा १५।

हितोपदेशके परिच्छेद	...	...	...	४
" मूलकी आनुपङ्गिक कथा		....	...	३८
" श्लोकसख्या	...	...	...	७२४
" पृष्ठाक...	...	...	...	१३५

इनमें ४७ श्लोक प्रस्तावनाके हैं। मित्रलाभमें २१२ श्लोक, कथा ८। सुहृद्भेदमे ४ श्लोक, कथा ९। विग्रहमें श्लोक १८९ और कथा ९। सन्धिमें श्लोक ३२ और कथा १२। बम्बईमे मुद्रित नारायणबालकृष्ण और काशीनाथ पाण्डुरके प्रकाशित पचतत्र और हितोपदेश दोनोही रायल १२ पेजीके आकारमे छपे है। इसकारण उनसे यह गिनती दीगई, और २ सस्करणोंमें श्लोकसख्या वरन् अधिक देखी जाती है। जानसनके विलायती मुद्रित हितोपदेशमे श्लोकसख्या ७४५ है। इस संस्करणमें श्लोकसख्या समेत ७५३ है। इत्यादि।

१ म, पंचतत्र ।—दाक्षिणात्यप्रदेशमें मिहिलारोप्य (१) नामक एक नगर है। वहाँपर दातालोगोके लिये कल्पवृक्षस्वरूप अमरशक्ति नामक एक राजाथा । वहुशक्ति (२) उग्रशक्ति, और अनन्तशक्ति, नामक उसके तीन पुत्र अति ढीठ होगये । राजाने उनको कुमार्गी देख एक समय मत्रियोंसे पुकारकर कहा, " आपलोग जानते है कि,— हमारे ये पुत्र कैसे कुमार्गी हुए हैं । हम इनकी चिन्तासे यह राज्य और यह सपत्ति पायकरभी सुखी नही है। हमारे दरवारमे ५०० सौ पण्डित हैं, सो अव ऐसा करना चाहिये कि, जिससे हमारे पुत्र सुशिक्षित हो " तव एक मत्रीन कहा,—हे महाराज! शब्दशास्त्र सीखनेमे वहुत विलम्व होगा, इसकारण इनकी शिक्षाके लिये कोई संक्षिप्त शास्त्र स्थिर करना उचित है । इस स्थानमें विष्णुशर्मा नाम एक ब्राह्मण है, वे समस्त नीतिशास्त्रके मर्मको जानते हैं उनके हाथमे आप कुमारोंको सोप दीजिये । राजाने उसी समय आदरपूर्वक विष्णुशर्माजीको वुलायकर कहा; " हे भगवन् ! आप कृपाकरके हमारे इन ढीठपुत्रोंको नीतिशास्त्र सिखाइये । विष्णुशर्मा वोले,— " हम अतुलसम्पत्ति पानेपरभी विद्याको नहीं वेचेंगे । हम विनामूल्य कुमारोंको विद्यादान करेंगे । हम प्रतिज्ञा करते हैं कि, जो छै महीनेके वीचमे कुमारगणोंको सुशिक्षित न करसके, तो इस नगरको त्यागदेगे । हम कुछ स्वार्थके लिये ऐसा नहीं कहते; हमारी उमर ८० वर्षकी हुई; हमने विषयकी वासना त्यागदी है। हम निष्काम होकर आपकी प्रार्थना पूर्ण करेंगे " राजा ब्राह्मणकी यह प्रतिज्ञा सुनकर परम प्रसन्न हुए और उनके हाथमे पुत्रोको सोपदिया। विष्णुशर्माभी मित्रभेद, मित्रप्राप्ति, काकोलूकीय, लब्धप्रणाश, अपरीक्षितकारक यह पाच तंत्र वनायकर राजकुमारोंको पढाने लगे । वे राजकुमारभी इसके पढनेसे छै मासमें सुशिक्षित होगये । तवसे " पचतत्र " नामक नीतिशास्त्र पृथ्वीपर प्रचारित हुआ ।

---

(१) किसी २ पुस्तकमे 'महिलारोप्य' ऐसा नामहै । इससमय इस नगरका ऐतिहासिक वृत्तान्त नही जानाजाता ।

(२) किसी २ पुस्तकमे 'वहुशक्ति' के स्थानमें 'वसुशक्ति' और 'अनन्तशक्ति' के स्थानमें 'अनेकशक्ति' नाम है ।

२ य; हितोपदेश—गंगाजीके किनारे पाटलिपुत्र (१) नामक एक नगर है, वहां समस्त राज्ययोग्य गुणोंसे भूषित सुदर्शन नामक एक राजा था। उसके पुत्र मूर्ख और कुमार्गी हुएथे। उसने एक समय समस्त पंडितोंको बुलवाय एक सभा कराई, और सबसे कहा;—"हे आर्यगण! आप लोगोंमे क्या कोई ऐसे पंडित हैं जो हमारे इन मूर्ख और ढाठ पुत्रोंको नीतिशिक्षा देकर उनका पुनर्जन्म साधन कर सकें"। उनमेंसे बृहस्पतिजीके समान सब नीतिशास्त्रोंके मर्मको जाननेवाले विष्णुशर्मा नाम एक विख्यात पण्डितने राजासे कहा,—"हे राजन्! इन राजपुत्रोंने महान् वंशमें जन्म ग्रहण किया है, हम इनको नीतिशास्त्र सिखावेंगे"। राजानेभी परमप्रसन्न हो विष्णुशर्माका यथायोग्य सन्मान कर उनके हाथमें पुत्रोंको सौंपदिया। विष्णुशर्मानेभी हितोपदेश रचकर उनको पढाया, जिसके पढनेसे वे कुमार बहुत शीघ्र सुशिक्षित और सच्चरित्र हुए।

पंचतंत्रके मंगलाचरणमें है,—

" नमो मनुबृहस्पतिव्यासवाल्मीकिप्रभृतिभ्यः ॥ "

मनु, बृहस्पति, व्यास और वाल्मीकि इत्यादिके चरणोंमें नमस्कार है। अनन्तर श्लोकसे उन्होंने,—मनु, बृहस्पति, शुक्राचार्य, पराशर, व्यास और पंडित चाणक्य इन नीतिशास्त्र जाननेवालोंकी वन्दना की है; यथा,—

" मनवे वाचस्पतये शुक्राय पराशराय ससुताय।
चाणक्याय च विदुषे नमोऽस्तु नयशास्त्रकर्तृभ्यः ॥"

इसके पीछे यह श्लोक है, यथा,—

"सकलार्थशास्त्रसारं जगति समालोक्य विष्णुशर्मेदम्।
तन्त्रैः पञ्चभिरेतच्चकार सुमनोहरं शास्त्रम् ॥ "

विष्णुशर्माजीने जगतके समस्त नीतिशास्त्रोंकी समालोचना करके पांच तंत्रोंमें ग्रन्थ बनाया।

हितोपदेशके मुखबन्ध जो कईएक श्लोक हैं, उनमें एक श्लोक यह है कि—पंचतंत्र व और दूसरे ग्रन्थोंसे सार संकलन करके यह हितोपदेश बनाया गया,—

---

(१) 'पाटलिपुत्र',—वर्त्तमान पटनानगर।

"मित्रलाभः सुहृद्भेदो विग्रहः सन्धिरेव च।
पञ्चतन्त्रात्तथान्यस्माद्ग्रन्थादाकृष्य लिख्यते ॥"

इस समस्त प्रमाणोके देखनेसे यह पायाजाता है कि, उन्होने एकही भाशयसे ये दोनो ग्रन्थ बनाये हैं। प्रथम पचतंत्र और पीछे उसकोही सक्षिप्त, सुमार्जित और परिवर्तित करके यह हितोपदेश बनाया है, और तत्पूर्ववर्ती मनु, पराशर, व्यास, वृहस्पति, शुक्राचार्य और चाणक्य इत्यादि नीतिशास्त्रकारोंके ग्रन्थोसे आवश्यकतानुसार (उपादन) सग्रह किये है (१)। उनक ग्रन्थोंसे उनका वृत्तान्त इससे अधिक और नहीं पाया जाता।

---

(१) चाणक्यने अपने नीतिशास्त्रके अधिकाश श्लोक मनु, वृहस्पति और महाभारतादिसे सग्रह किये हैं। तिसके पीछे विष्णुशर्माजीने चाणक्यसगृहीत नीतिशास्त्र और मनु व महाभारतादिसे सारसग्रह किया है। इसकारण विष्णुशर्माजीके ग्रन्थमे चाणक्यके श्लोक अधिक दिखाई देते हैं। इसमें कोई सन्देह नहीं कि, मनु और भारतादि ग्रन्थोका समस्त नीतिशास्त्रकारोंनेही आश्रय लिया है। महाभारतमें राजधर्मके ५९ अध्यायके मध्य नीतिशास्त्र रचनेवालेंके सम्बन्धमे यह वृत्तान्त लिखाहै कि, पूर्वकालमे ब्रह्माजीने देवतालोगोंकी प्रार्थनासे लोकरक्षाके लिये एकलक्ष अध्यायमें प्रथम नीतिशास्त्र बनाया। शिवजीने ब्रह्माजीसे वह नीतिशास्त्र प्राप्तकर उसको सक्षेपसे दशहजार अध्यायमें बनाया। शिवजीका एक नाम 'विशालाक्ष' है, इसीलिये शिवप्रणीत नीतिशास्त्रका नाम 'वैशालाक्ष' प्रसिद्ध हुआ। इन्द्रजीने शिवजीके निकट यह नीतिशास्त्र प्राप्तकर इसको सक्षेपसे पाचहजार अध्यायोंमे बनाया। इन्द्रका एकनाम बाहूदन्ती है, इसीलिये इन्द्रप्रणीत नीतिशास्त्रका नाम 'बाहूदन्तिक' हुआ, वृहस्पतिजीने इन्द्रजीके बनाये नीतिशास्त्रको तीन सहस्र अध्यायोमें रचा। वृहस्पतिजीके बनाये नीतिशास्त्रका नाम 'बार्हस्पत्य' प्रसिद्ध हुआ। शुक्राचार्यजीने फिर उसको सक्षेप करके एकहजार अध्यायोमें बनाया शुक्राचार्यजीका एक नाम 'उशना' है, इसलिये उनके बनाये नीतिशास्त्रका नाम 'औशनस' प्रसिद्ध हुआ। फिरभी,–गरुडपुराणमे देखाजाता है कि, चाणक्यने वृहस्पतिजीके बनाये 'नीतिसार' नामक ग्रन्थका अवलबन करके श्लोकसग्रह कियाथा। अतएव 'नीतिसार' ग्रन्थके श्लोक और चाणक्यके श्लोक प्रायः एकही रूपके है। दण्डिप्रणीत दशकुमार चरित्रके विश्रुत चरितमे लिखा है कि, विष्णुगुप्त अर्थात् चाणक्यने मौर्य्यवशीय महाराज चन्द्रगुप्तके लिये पूर्व प्रचलित नीतिशास्त्रको सक्षेपकरके छै. हजार श्लोकोंमे बनाया।

विष्णुशर्मजीने, अधिकाश रत्न जगत्के प्राचीन रत्नभाण्डार, मानव, वार्हस्पत्य, महाभारत इत्यादि मूलग्रन्थोसे सग्रह किये हैं; परन्तु उन्होंने इन रत्नरूपी कथाओंमें ऐसे अपूर्व डोरे पोहे हैं कि,उनकी असाधारण बहुदर्शिता,अद्भुत सारग्राहिता, और विचित्र रचनाकौशलकी मुक्तकण्ठसे प्रशंसा कीजाती है । उनके रचेहुए प्रांजल, सरल और विशुद्ध गद्यकी समान सस्कृत साहित्यमे गद्य नहीं हैं । उनकी चमत्कारिणी गद्यरचना संस्कृतकी गद्यरचनाका एक नमूना है । अतएव उन्होंने प्राचीन उपादान लेकर प्रतिभाके बलसे एक नये पदार्थकी सृष्टि की है । हितोपदेशकी कथाओंका मूलतत्त्व निरूपण करना अति दुष्करहै । मनुष्यसमाजकी शैशवावस्थामे लिपिप्रणालीका अधिक प्रचार न होनसे, पुरुषपरम्परागत प्रवादवाक्य और कथाओके सूत्रसेही पुरुषोकी नीतिशिक्षाका निर्वाह होता था । इसके उपरान्त, लिपिप्रणालीके विशेष प्रचारित होनेपर यह नीतिगर्भ प्रवाद और कथाये क्रमसे देशी भाषाओंमें लिखीगई, और समाजकी आदिमे अवस्थाका परिचायक एकजातीय स्थायी सम्पत्तिरूपमे परिगत होता हुआ चला । क्रमसे यह लिपिबद्ध प्रवाद और कथा अपने गुणसे जैसे २ पृथक् २ जातियोंमें बैठगई स्थानभेदसे पुरुषस्वभावकी विभिन्नताके वश उतनेही भिन्न आकारोंमें फैलतीरहीं । इस मीमासाके सत्य होनेपर यह अवश्यही मानना पडेगा कि, हितोपदेशकी कथाएँ हमारे देशको नीतिशिक्षा सिखानेके लिये सभ्य भारतकी अति पुरातन और श्लाघनीय सम्पत्ति हैं । महाभारत, भारतवर्षकी अति पुरातन सम्पत्ति है । प्रायः चारसहस्रवर्ष पहले यह महाभारत बनायागया है (१) जातिका अति पुरातन चित्र होनेसे महाभारतकी नीति भूरिभूरि प्रवाद और कथाओंके सूत्रमे उदाहृत हुई हैं । इसलिये हितोपदेशकी (२) कोई २ महाभारतके पूर्वमेंभी वर्त्तमान थी । इससे स्पष्ट जानाजाता है कि, विष्णु-

(१) सर्व प्रकारकी ऐतिहासिक और पौराणिक गणनाको मिलाकर देखनेसे जानाजाता है कि, कुरुपाण्डवोंका युद्ध हुए अड्तीससौ वर्ष बीते हैं । अतएव इसमें कुछ संशय नहीं कि, महाभारत प्राय. चारहजार वर्षसे अधिक समयका ग्रन्थ है ।

(२) हितोपदेशकी जो कथा महाभारतमे हैं, सो उनमेंसे कुछ एक परिशिष्टमें दिखाई गई ।

शर्माजीने कुछ कथाएँ इन प्राचीन प्रबन्धोसे, और कुछ पुरुषपरम्परासे चली आईहुई प्राचीन किंवदन्तियो (कहावतों) से संकलित करके मनोहर डोरेमें पिरोई हैं। जब विष्णुशर्माजीने यह सब कथा यथारीतिसे लिपिबद्ध कर लीं तब क्रम २ से उनकी लिपिबद्ध मनोहर कथावली यूरोपमे 'पिल्पेकी कथावली' (Pilpay's Fable) के नामसे प्रचलित हुई। और दूसरे देशोंमे और २ नामोसे प्रसिद्ध हुई हैं। इन कथाओंकी मूलनीति अभिन्न होनेपरभी भिन्न २ जातिकी भिन्न २ प्रकृति, जीवनप्रणाली, रीति, नीति और रुचि प्रभृतिकी विचित्रताके अनुसार अनेक आकारोंमें ग्रथित हुई हैं। सुविख्यात पडित महामति कोलब्रुक् साहबने इस हितोपदेशके विषयमे गभीर विवेचनाके द्वारा जो निर्णय कियाहै, वह अविकल इस भूमिकाके शेषमे उद्धृत हुआ है। पडिताग्रगण्य ताराकुमार कविरत्नके द्वारा सगृहीत और अनुवादित वंगभाषाके हितोपदेशसे इस अनुवादमे विशेष सहायता मिलीहै अतएव पं० ताराकुमारजी कविरत्नको वारम्वार धन्यवाद दिया जाताहै। इसके उपरान्त मै अपने परममित्र लाला पन्नालाल जैनकोभी धन्यवाद देताहूं कि, जिनके वारम्वार उत्साह दिलानेसे यह अनुवाद तैयार हुआ।

जिस प्रणालीसे हितोपदेशका यह संस्करण सम्पादन कियागया है, वह संक्षेपसे नीचे दिखाते हैं।

१ मूलसंस्कृत।

भारतवर्ष और यूरोपमेंकी छपीहुई अनेक पुस्तकोंके सहित मिलायकर सम्पूर्ण परिशुद्ध पाठ मूलमे रक्खागयाहै। श्लोकोमे जो अशुद्ध पाठ बहुत दिनोसे चला आता था उसका यथासाध्य सशोधन करदियागयाहै।

२ भाषानुवाद।

प्रतिपृष्ठमे मूल और अनुवाद दियागयाहै। अनुवाद सरल अविकल और मूलका भावव्यंजक करनेकी यथासाध्य चेष्टा कीगई है।

३ हिन्दीव्याख्याप्रभृति।

सर्व साधारणको सम्पूर्णरूपसे सुगम करनेके लिये अनुवादके नीचे प्रयोजनानुसार भाषामे अतिसरल व्याख्या और प्रमाण प्रयोजन इत्यादिभी लिखेगये हैं।

४ भूमिका ।

इस ग्रन्थके बनानेवाले विष्णुशर्माजीके सम्बन्धमें जो कुछ जाननेयोग्य था वह भूमिकामें विस्तारसहित लिखागया । सुप्रसिद्ध पंडित कोलब्रुक् साहबने हितोपदेशके सम्बन्धमें बहुत ढूँढभालकर जो अभिप्राय प्रकाश कियाहै, वह इस भूमिकाके पीछे अविकल उद्धृत हुआ है ।

५ निघंटु ।

प्रथम निघण्टुमें सब कथाओंकी संख्या, और सबके पत्राङ्क यथाक्रमसे लिखेगये हैं । दूसरे निघंटुमें हितोपदेशमें वर्णन कीहुई समस्त नीतिका सूचीपत्र इसप्रकारसे बनायागया है कि, जिस सूचीपत्रको देखकर पाठकगण प्रयोजनानुसार नीति, और उसके प्रमाण प्रयोगादि अतिशीघ्र निकाल सकें ।

६ हितोपदेशके उपदेश ।

हितोपदेशमें जो अमूल्य उपदेश हैं, इस प्रकरणमें उनका संक्षेपसे वर्णन कियागयाहै, अर्थात्– इसकी सार २ नीतियोंका मर्म प्रगटकर प्रमाण प्रयोगादिके सहित अतिसरल भाषामें दिखायागया है ।

७ परिशिष्ट ।

विष्णुशर्माजीने जिस २ मूलग्रन्थसे सार संग्रह कर जिस आकारसे अपने ग्रन्थमें मिलायाहै, परिशिष्टमें वही विस्तारसहित वर्णन कियागयाहै । समस्त श्लोकोंका मूलानुसन्धान और विविध पाठोंकी समालोचना आदिभी इस परि-[illegible]में लिखी है ।

बलदेवप्रसाद मिश्र,

COLEBROOKE'S

INTRODUCTORY REMARKS

Prefixed to the Edition of the Hitopadesa,

PUBLISHED AT CALCUTTA 1804

To promote and facilitate the study of the ancient and learned language of India, in the College of Fort William, it has been judged requisite to print a few short and easy compositions in the original *Sanskrit* The first work chosen for this purpose, and inserted in the present volume, under its title of *Hitopades'a* or 'Salutary Instruction,' had been translated by Mr. WILKINS, and by the late Sir WILLIAM JONES, as the text of a very ancient collection of apologues, familiarly known, in the numerous versions of it, under the name of 'Fables of Pilpay.' The great advantage, which may be derived by students, from consulting correct translations, at their first acquiantance with *Sanskrit* literature has indicated this work as the fittest for selection; although it be not strictly the original text, from which those beautiful and celebrated apologues were transferred into the languages of Persia, and of the West.

In the concluding line of the poetical preface to the *Hitopades'a*, it is expressly declared to have been drawn from the *Panchatantra* and other writings. The book, thus mentioned as the chief source, from which that collection of fables was taken, is divided into five chapters, as its name imports; it consists, like the *Hitopades'a*, of apologues, recited by a learned *Brahman* named VISHN'U S ARMAN, for the Instruction

of his pupils, the sons of an Indian monarch; but it contains a greater variety of fables, and a more copious dialogue, than the work, which has been chiefly compiled from it; and, on comparison with the Persian translations now extant, it is found to agree with them more nearly, than that compilation, both in the order and the manner in which the tales are related.

To compare them, it has been first necessary to exclude all the additions, which have been made by translators. These have been explained by ABU'LFAZL, with the history of the publication itself, in the preface to his own version, entitled *Aya'r da'nish*, and by HUSAIN WA'EZ, in the introduction to the *Anwa'ri Suhaili*.

They recite from ABULMALA'S preface to his translation of the *Calilah u Damnah* that BARZUYAH, an eminent and learned physician, being purposely sent into *Hindusta'n* by NU'SHI'RVA'N, king of Persia, brought a transcript of this with other books, which were preserved among the be guarded treasures of the kings of India, and it was immediately translated into *Pehlevi*, for the gratification of the Persian Monarch, under the superintendence of his minister BUZURCHUMIHR.

From this version in *Pehlevi*, by BUZURCHUMIHR, or by BARZU'YAH, (and which is said to have borne the title of *Humayun nameh Javidan Khird*, and testament of *Hushenk*) the book was translated into the Arabic language by *Ima'm* Abu'l HASAN ABDULLAH BEN'L MUKAFFA in obedience to the commands of ABU JAFFER MANSUR, second *Khalif* of the house of ABBAS. From Arabic, it was restored into Persian by direction of ABU'L HASAN NASR'UDDIN AHMED, a prince of the race of SAMA'N, and was clothed in verse by the poet RU'DACI, for *Sultan* MAHMUD [illegible] SABUCTAGI'N, it was again translated

in prose, from the Arabic of ABDULLAH, by desire of *Abulmuzaffr* BAHRA'M SHAH, son of *Sultan* MASAU'D a descendant of *Sultan* MAHMU'D of *Ghazna*, and this version, the author of which was ABU'LMALA NASARULLAH, is the same which has been since current under the title of *Calilah u Damnah* It underwent a revision, and received the embellishment of flowery language from HUSSAIN WA'IZ CA'SHAFI, at the suggestion of *Amir Shaikh* AHMED, surnamed SUHAILI', a chieftain commanding under *Sultan'* HUSAIN MIRZA, of the house of TAIMU'R; and this highly polished version is named from the author's patron *Anwa'ri Su'haili* It was lastly revised, and put into plainer, but elegant language, by ABU'L FAZL, in obedience to the orders of the Emperor AKBAR.

This amended translation comprises sixteen chapters; ten of which, as ABU'LFAZL' states in his preface, were taken from the *Hindi* original entitled *Caratac* and *Damanac*; and six were added by BUZERCHUMIHR, namely, the four last, containing stories recited by the *Brahman* BI'DPA'I in answer to the questions of the King DA'BISHLI'M; and the two first, consisting of a preface by BUZERCHUMIHR, with an introduction by BARZU'YAH Both these introductory chapters had been omitted by HUSAIN WA'IZ, as foreign to the original work: but he substituted a different beginning, and made other additions, some of which are indicated by him, and the rest are pointed out by ABU'LFAZL; who has nevertheless retained them, as appendages not devoid of use, and therefore admissible in a composition intended solely to convey moral instruction. The whole of the dramatic part including all the dialogue between DA'BISHLI'M king of India and BI'DPA'I of PILPAI, a *Bra'hman* of *Sara'ndip* as well as the finding of HUSHENK'S legacy, (from both which the work itself has derived two of the names, by which it has been most frequently distinguished);

appears to have been added by the translators, although the appellations of the king, and of the philosopher, are stated to be of Indian origin.* For ABU'LFAZL has inserted the story at the place of the second chapter, after expressly declaring, in one place that the substance of the work begins with the third; and in another, that the two first were added by the author of the *Pehlevi* translation.

Setting apart then the dramatic introduction, in which the Persian differs from both the *Panchatantra* and the *Hitopades'a* and beginning the comparison from the third chapter of the *Calilah u Damnah*, it is found, that the fable of the ox † and lion, with all the subseqent dialogue between the shakals *Curataca* and *Damanaca*, constituting the first chapter of the *Panchatantra*, corresponds with the Persian imitation, excepting, however, a few transpositions, and the omission of some apologues, as well as the insertion of others.

Thus the fable of "The Ape and the Carpenter's wedge," which is first in both works, is immediately followed, in the *Panchatantra*, by that of 'The Shakal and the drum' but the Persian translators have here introduced a different apologue. They have placed the story of 'The Thief and the Mendicant,' with others included in it, immediately after that of 'The Fox and the drum,' but the *Panchtantra* interposes another tale

* HUSAIN WAIZ and ABU'LFAZL explain *Bidpai*, as equivalent to the [illegible] term *Hakim Mehraban*, and, according to the ingenious conjecture [illegible] William Jones, that appellation is corrupted from the Sanskrit [illegible]. The name of Dabishlim, interpreted [illegible], or great king, [illegible] term of the same signification [illegible] Persian [illegible] (for the [illegible] translated from the [illegible]

† [illegible] should be [illegible] and [illegible] found on the [illegible]

the omission of which, however, induces no imputation of the good taste of the translators They have next substituted two fables, (The Sparraw, the Hawk, and the Sea' and 'The Reformed Tyrant),'for a story of a wheelwright's marriage with a king's daughter

The next three fables are alike in the *Sanskrit* and Persian; but two, which follow (*viz* 'The Louse and the Bug, and 'The Blue Shakal,') are omitted by the translators; who have evinced their judgment in the rejection of the first.

The fable of "The Three Fish." is placed next by the Persian authors, and is followed by five others, which do not occur in the *Panchatantra*. These are succeeded by three more which are placed by the *Sanskrit* author, immediately after the fable of "The Blue Shakal" and before that of 'The Three Fish'

Here the *Panchatantra* introduces a story of an elephant, whose death was procured through the means of a gad-fly, by birds whom he had aggrieved. But it has been omitted in the Persian, and so has the next fable, of 'The Lion and the Leopard'

The remaining apologues, belonging to the first chapter are alike in both works; excepting that of 'The Gardener the Bear, and the Fly,' which is inserted last but one, in th Persian translation ; but which does not occur in the *Panchatantra*.

Many of these fables are also found in the *Hitopades'a* but arranged in quite a different order, being interspersed with others, through the three last chapters of that compilation

Without further particularizing the variations of the Persian from the *Sanskrit*, it may be sufficient to say, that the

the general arrangement of the fables, with the third, fifth, sixth, seventh, eighth, and ninth, chapters of the *Ayardanish* and that more than half of the fables, contained in that part of the Persian work, which purports to have been derived from the Indian text, corresponds exactly to similar apologues in the *Sanskrit*. In most instances of omission, a reason may be easily conjectured for the rejection of the original stories and those, which have been substituted for them. As well as the few contained in the remaining chapters, which are not avowedly additional, may have been taken by the first translator, either from other Indian works, (for BARZU'YAH is stated to have brought more than one book from *Hindustan*,) or, though not acknowledged by him, may have been drawn from different sources. It probably was more his design to present to the King of Persia a pleasing collection of apologues than a strictly faithful translation of a single Indian work.

This collection of fables has been translated more frequently, and into a greater variety of languages, than any other composition not sacred and, although the earliest paraphrase, in *Pehlevi*, be now lost, its Arabic version is extant or lately was so; and may be easily verified through the translations made into more than one language, upon the Arabic text.

It is unnecessary to speak of another Arabic version said to have been taken from the original text of a pretended king of India named ISAM, three hundred years before the time of ALEXANDER; or to mention that made from the testament of HUSHENK (entitled *Jawidan Khird*), by HASAN, son of SOHAIL, Minister of AL MAMUN, the seventh *Khalif* of the *Abbasi* dynasty. For both these pretended versions are probably the same with ABDULLAH'S but erroneously ascribed to other authors.

From his Arabic text, a Greek translation, entitled Stephanites and Ichnelates, was completed, seven hundred years ago, by SIMEO SETHUS, for the Emperor ALEXIUS COMNENUS. One in Syriac, under the title of *Calaleg* and *Damnag*, is probably taken from the Arabic, though purporting to be derived immediately from the Indian text The Turkish versions (for there are more than one) have been derived mediately or immediately from the Arabic . and several Latin and Italian translations have been drawn from the Greek of SETHUS · not to mention another Latin one from the Hebrew, nor the German and Spanish versions from the Latin and the Italian All these, as well as the French translation of Gaulmin David SAID GAULMIN and CARDDONNE, from the Persian *Calilahu Damnah*, and from the Turkish *Humayun nameh* and *Anuari Suhailh*, as also the English version from the French appear to have been compared with considerable attention by various persons ; but, excepting two unfaithful imitations in Latin and Italian, the general correspondence of the rest seems to be acknowledged *

We may conclude, therefore, that the Persian *Calilah u Damnah*, and *Aya'r da'nish*, exhibit a sufficiently exact representation of the Arabic translation from the *Pehlevi*; and that after, rejecting avowed additions, we ought to find there a near resemblanc to the Indian original From a careful collation of both *Sanskrit* works with the genuine parts of the Persian translation, it is evident, as has been already shown, that the *Panchtantra* corresponds best with them; end there can be little hesitation in pronouncing this to be the original

* See Bibliotheca Græca of Fabricius, vol. xi p 460, and vol x p 324, Bibliothèque Orientle of d Herbelot, pp 1118, 206, 245, 399, and 456, Works of Sir W Jones, vol xi p 4 and As Res vol. i p 429 also Wilkin's Heetopades, preface, p xiii.

text of the work, which was procured from India by NU'SHI'RVA'N more than twelve hundred years ago.

This fact is not without importance in the general history of Indian literature; since it may serve to establish the greater antiquity of authors who are quoted in the *Panchatantra*; and amongst others, that of the celebrated astrologer VARA'HA MIHIRA, who is cited by name in one passage of the first chapter.

The *Hitopadesa*, cotaining nearly the same fables told more concisely and in a different order, has been translated into Persian, in comparatively recent times, by *Maulavi* TAJU'DDI'N who entitled it *Muferrehu'lkulu'b*; and who does not appear, from his preface, to have been aware, that the work, translated by him, was any way connected with the *Calilahu Damnah*.

This, as well as the *Hindi* version of it, by *Mir* BAHADUR ALI which has been printed for the use of the College of Fort William, and which is entitled *Akhlaki Hindi* may afford some help to a student, reading the *Hitopades'a*, for his first exercise in the *Sanskrit* language. He will find still more effectual assistance in the English translations by SIR WILLIAM JONES and MR. WILKINS; and, for this advantage, no less than for its easy style, the *Hitopades'a* has the first place in the present collection of *Sanskrit* works.



हितोपदेशके नीतिविषयका-निघंटु।

हितोपदेशमें जो उपदेश लिखे हैं, वे संक्षेपसे निघंटुके आकारमें नीचे दिखाये जाते हैं। जिनको जिस उपदेशका प्रयोजन है, वे यह निघंटु देखकर अनायास उस ग्रन्थसे निकाल सकते और समझ सकते हैं कि, मनुष्यमात्रका सब कार्योंमें, सब अवस्थाओंमें, सब स्थानोंमे, और सब समयमे यह अत्याज्य बन्धु है, सुखदुःखमें, सम्पद् विपद्में, स्वदेश परदेशमे, गृह वनमें, जीवन मरणमे यह एकही सहायकारी है। इसीलिये हमारे गुणग्राही बापदादे पूर्व पुरुषगण बालकपनमें मैयाके दूधके संग इन उपदेशोंको पाठकरते और इनके गुणोंसेही संसारसंग्राममें जय प्राप्त करते थे।

सांकेतिकचिह्न;-

अव—अवतरणिका, ग्रन्थका मुखबन्ध। **मित्र**—मित्रलाभ प्रकरण। **सु**—सुहृद्भेद प्रकरण। **वि**—विग्रह प्रकरण। **संधि**—सन्धि प्रकरण। इन संकेतोंके पीछे जो श्लोकसंख्या है, वह सब इन्हीप्रकरणोंकी श्लोकसंख्या जानो।

विषय,	प्रकरण और श्लोकसंख्या।

अकपट बन्धु मित्र० २८, २१९, २२०, २२३, २२४, २२६ मित्र० देखो।

अजितेन्द्रिय—मित्र० १७, २९, १५०, १६९, सन्धि ८७ इन्द्रिय देखो।

अज्ञान—मोह—सन्धि० ८५।

अतिथि—अतिथिसत्कार—आतिथ्य—मित्र० ६०, ६१, ६२, ६४, ६५।

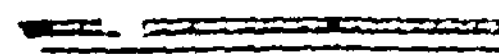
अतिलोभ—संधि० १५ लोभ देखो।

अतिव्यय—अपव्यय सु० ९३, वि० १२६, १२७।

अतिसञ्चय—मित्र० ११४।

अदृष्ट—दैव—नियति—भाग--अव० २८। २९ मित्र० २०। ५१। ५२। ५३। ७६। संधि २९।

इति हितोपदेशनीतिविषय-निघंटु
समाप्त ।



॥ श्रीः ॥

अथ हितोपदेश ।

भाषाटीकासमेत ।

मङ्गलाचरणम् ।

सिद्धिः साध्ये सतामस्तु प्रसादात्तस्य धूर्जटेः ।
जाह्नवीफेनलेखेव यन्मूर्ध्नि शशिनः कला ॥ १ ॥

दोहा—गंगाफेनसुरेखसम, चन्द्रकला जिहि भाल ।
ता धूर्जटिकी हो दया, काजसिद्धि तत्काल ॥ १ ॥

आभाष ।

श्रुतो हितोपदेशोऽयं पाटवं संस्कृतोक्तिषु ।
वाचां सर्वत्र वैचित्र्यं नीतिविद्यां ददाति च ॥ २ ॥

इस हितोपदेश ग्रन्थको जो श्रवण करता है, वह संस्कृत बोलनेमे निपुण होजाताहै, उसको सब स्थानमे विचित्र वाणी प्राप्त होती है, और नीतिविद्याभी वह पाय लेता है ॥ २ ॥

अजरामरवत्प्राज्ञो विद्यामर्थं च चिन्तयेत् ।
गृहीत इव केशेषु मृत्युना धर्ममाचरेत् ॥ ३ ॥

पंडितको उचित है कि, अपनेको अजर अमर जान करके विद्या और धनकी संसारमें चिन्ता करै और धर्मका आचरण इस प्रकारसे करै कि, मानों मौतसे केश पकड़े गये है । (अर्थात् धर्मको यह जानकर आचरण करना चाहिये कि, मानों मृत्यु निशदिन शिरपै गाज रही है ।) ॥ ३ ॥

सर्वद्रव्येषु विद्यैव द्रव्यमाहुरनुत्तमम् ।
अहार्यत्वादनर्घ्यत्वादक्षयत्वाच्च सर्वदा ॥ ४ ॥

जितने कुछ धनरत्न इस जगत्में हैं उन सब धनरत्नोंसे यह विद्याधन सबकी सम्मतिमें श्रेष्ठ है; न इसको कोई छीन सकता, न इसको कोई मोल ही लेस-

कना, न इसका कभी क्षय ही होसकताहै, इस कारण यह विद्याधन ही इस संसारमें निश्चय अमोल रत्न धन है ॥ ४ ॥

संयोजयति विद्यैव नीचगापि नरं सरित ।
समुद्रमिव दुर्धर्षं नृपं भाग्यमतः परम् ॥ ५ ॥

नीचे चलनेवाली नदीभी जिस प्रकार समुद्रमे मिल जाती है, इसी भाति नीचके पाले पडी विद्याभी उसको दुर्द्धर्ष राजाके पास पहुँचा देती है, इसके आगे भाग्य है ॥ ५ ॥

विद्या ददाति विनयं विनयाद्याति पात्रताम् ।
पात्रत्वाद्धनमाप्नोति धनाद्धर्मं ततः सुखम् ॥ ६ ॥

विद्या विनयको एव विनय सुपात्रताको देतीहै और सुपात्रताके होनेसे धनकी प्राप्ति होती है, धनको अच्छे कार्योंमे लगानेसे धर्म मिलता है और धर्मके प्रभावसे सुखलाभ होताहै ॥ ६ ॥

विद्या शस्त्रस्य शास्त्रस्य द्वे विद्ये प्रतिपत्तये ।
आद्या हास्याय वृद्धत्वे द्वितीयाद्रियते सदा ॥ ७ ॥

दो विद्या है कि,-जिनसे जगत्मे प्रतिष्ठा मिलती है-शस्त्रविद्या और शास्त्रविद्या, परन्तु पहिली (शस्त्रविद्या) बुढापेमे हास्य करानेवाली है, और दूसरी (शास्त्रविद्या) का सदा आदर होताहै ॥ ७ ॥

यन्नवे भाजने लग्नः संस्कारो नान्यथा भवेत ।
कथाच्छलेन बालानां नीतिस्तदिह कथ्यते ॥ ८ ॥

कथारम्भः ।

अस्ति भागीरथीतीरे पाटलिपुत्रनामधेयं नगरम् । तत्र सर्वस्वामिगुणोपेतः सुदर्शनो नाम नरपतिरासीत् । स भूपतिरेकदा केनापि पठ्यमानं श्लोकद्वयं शुश्राव–

गंगाजीके तीर पाटलिपुत्र (पटना) नामका एक नगर है, वहांपर समस्तराजगुणालङ्कृत सुदर्शन नामक एक राजा था। एक समय उस राजाने किसीके मुखसे ये दो श्लोक श्रवण किये, यथा–

"अनेकसंशयोच्छेदि परोक्षार्थस्य दर्शकम् ।
सर्वस्य लोचनं शास्त्रं यस्य नास्त्यन्ध एव सः ॥ १० ॥

जो अनेक सशयको नाश करती है और परोक्ष अर्थको दिखाती है, केवल एक वही विद्या सबकी आँख है, वह आँख जिसको नहीं है वह अन्धा है॥१०॥

यौवनं धनसंपत्तिः प्रभुत्वमविवेकिता ।
एकैकमप्यनर्थाय किमु यत्र चतुष्टयम् ॥ ११ ॥"

यौवन (जवानी), धनसम्पत्ति, प्रभुता, अज्ञानता इनमेसे यह एक २ भी अनर्थके लिये है, फिर वहाकी तो बात ही क्या है, जहा ये चारों होगे ॥ ११ ॥

इत्याकर्ण्यात्मनः पुत्राणामनधिगतशास्त्राणां नित्यमुन्मार्गगामिनां शास्त्राननुष्ठानेनोद्विग्नमनाः स राजा चिन्तयामास–

राजाने जब ये दो श्लोक सुने, तब शास्त्रज्ञानहीन, सदा खोटे मार्गपर चलनेवाले अपने पुत्रगणोका शास्त्रके विरुद्ध अनुष्ठान विचार, ऊबेहुए चित्तसे इस प्रकार चिन्ता की–

कोऽर्थः पुत्रेण जातेन यो न विद्वान्न धार्मिकः ।
काणेन चक्षुषा किं वा चक्षुःपीडैव केवलम् ॥ १२ ॥

जो विद्वान भी नहीं, और धार्मिकभी नहीं, ऐसे पुत्रके उत्पन्न होनेमे क्या फल है? क्योंकि, कानी आख तो केवल पीडाही देनेवाली होती है । (कानी आखसे दीखता नहीं परन्तु दुखनेको वहभी आजाती है) ॥ १२ ॥

अजातमृतमूर्खाणां वरमाद्यौ न चान्तिमः ।
सकृद्दुःखकरावाद्यावन्तिमस्तु पदेपदे ॥ १३ ॥

पुत्र तीन प्रकारके होते हैं—अजात (पैदाही नहीं हुए) मृत (होकर मरे-हुए) और मूर्ख । इनमेसे पहले दो (अजात, मृत) अच्छे हैं, परन्तु पिछला (मूर्ख) श्रेष्ठ नहीं, कारण कि, अजात और मृत तो एकही वार दु ख देतेहैं, परन्तु अन्तका (मूर्ख) तो पग २ पर दु.ख देता है ॥ १३ ॥

किंच-

वरन्-

स जातो येन जातेन याति वंशः समुन्नतिम् ।
परिवर्तिनि संसारे मृतः को वा न जायते ॥ १४ ॥

उसकाही सार्थक जन्म है कि, जिसका जन्म वश और अपनी जातिकी उन्नति करता है, नहीं तो इस घूमतेहुए ससारके भीतर कौन नहीं मरता, और कौन नही जन्म लेता ॥ १४ ॥

अन्यच्च-

और भी-

गुणिगणगणनारम्भे न पतति कठिनी सुसंभ्रमाद्यस्य ।
तेनाम्बा यदि सुतिनी वद वन्ध्या कीदृशी भवति॥१५॥

गुणियोकी गणनाके आरम्भ होनेपर अग्रभागमे जिसकी लीक नहीं पडती ऐसे पुत्रसे जो माता पुत्रवती हो, तो फिर बॉझ स्त्री कैसी होती है ॥ १५ ॥

अपि च-

और भी-

दाने तपसि शौर्ये च यस्य न प्रथितं यशः ।
विद्यायामर्थलाभे च मातुरुच्चार एव सः ॥ १६ ॥

दान, तप, शूरता, विद्या और अर्थके प्राप्त करनेमे जिसका यश नहीं फैला है, वह पुत्र केवल माताके मल मूत्रकी समान है ॥ १६ ॥

अपरं च-

और भी-

वरमेको गुणी पुत्रो न च मूर्खशतान्यपि ।
एकश्चन्द्रस्तमो हन्ति न च तारागणोऽपि च ॥ १७ ॥

---

(१) सुसम्भ्रमा यस्य इत्यपि पाठ उपलभ्यते ।

गुणी पुत्र एकही अच्छा है, परन्तु मूर्ख शत (१००) भी भले नही। तारागणोके समूहभी अन्धकारका नाश नहीं करते, परन्तु चन्द्रमा अकेलाही अँधि-यारेका नाश करताहै ॥ १७ ॥

पुण्यतीर्थे कृतं येन तपः क्वाप्यतिदुष्करम्।
तस्य पुत्रो भवेद्वश्यः समृद्धो धार्मिकः सुधीः ॥ १८ ॥

जिस मनुष्यने पुण्य तीर्थमे अत्यन्त कठिन वहुतसी तपस्या की है, उसका ही पुत्र शान्त दान्त समृद्ध धार्मिक और श्रेष्ठ वुद्धिवाला होताहै ॥ १८ ॥

तथा चोक्तम्—

वैसाही कहाहै--

अर्थागमो नित्यमरोगिता च
प्रिया च भार्या प्रियवादिनी च।
वश्यश्च पुत्रोऽर्थकरी च विद्या
षड् जीवलोकस्य सुखानि राजन् ॥ १९ ॥

हे राजन्! नित्य धनकी प्राप्ति, नीरोगता, प्यारी स्त्री, जो कि, मधुर वचन वोलनेवाली हो, सदा वशमे रहनेवाला पुत्र, और फलदायक विद्या, यही छः संसारके सुख है ॥ १९ ॥

को धन्यो बहुभिः पुत्रैः कुशूलापूरणाढकैः।
वरमेकः कुलालम्वी यत्र विश्रूयते पिता ॥ २० ॥

कुठलेके पूरण करनेवाले धान्य आढकके समान गुणरहित वहुतसे पुत्रोसे कौन धन्य हुआहै, परन्तु कुलको सहारा देनेवाला एकही पुत्र अच्छा है कि, जिससे पिताका नाम सुना जाताहै ॥ २० ॥

ऋणकर्ता पिता शत्रुर्माता च व्यभिचारिणी।
भार्या रूपवती शत्रुः पुत्रः शत्रुरपण्डितः ॥ २१ ॥

वह पिता शत्रुकी समान है जो ऋण कर जाता है, वह माता शत्रु है, जो व्यभिचार करती है, और अत्यन्त रूपवाली स्त्री भी शत्रु है, और मूर्ख पुत्र भी शत्रु है ॥ २१ ॥

अनभ्यासे विषं विद्या अजीर्णे भोजनं विषम्।
विषं सभा दरिद्रस्य वृद्धस्य तरुणी विषम् ॥ २२ ॥

अभ्यास न करनेसे विद्या विष है, और अजीर्णमें भोजन विष है, दरिद्रके लिये सभा विष है, बूढ़के लिये जवान स्त्री विष है ॥ २२ ॥

यस्य कस्य प्रसूतोऽपि गुणवान्पूज्यते नरः ।
धनुर्वंशविशुद्धोऽपि निर्गुणः किं करिष्यति ॥ २३ ॥

गुणवान् चाहे जिस वंशमें जन्मा हो, उसका सबही मान करतेहै। और उत्तम कुलमें पैदा होकरभी निर्गुण मनुष्य क्या करेगा ? क्योंकि उत्तम बाँसका धनुष होनेपरभी गुण प्रत्यञ्चा न होनेपर उससे क्या फल मिल सकताहै ? ॥ २३ ॥

हा हा पुत्रक ! नाधीतं सुगतैतासु रात्रिषु ।
तेन त्वं विदुषां मध्ये पङ्के गौरिव सीदसि ॥ २४ ॥

हा ! शोक है, पुत्र ! इतनी रात्रियाँ वृथा बीत गई, इनमें तैने न पढा इस कारण तू विद्वानोंके मध्यमें इस प्रकारकी दुर्गतिको पावेगा कि, जैसे कीचडमें फँसकर गायकी दुर्दशा होती है ॥ २४ ॥

तत्कथमिदानीमेते मम पुत्रा गुणवन्तः क्रियन्ताम् ।

इसकारण इस समय अपने यह पुत्र किस उपायसे गुणवान् किये जायँ ?

आहारनिद्राभयमैथुनं च
समानमेतत्पशुभिर्नराणाम् ।
धर्मो हि तेषामधिको विशेषो
धर्मेण हीनाः पशुभिः समानाः ॥ २५ ॥

आहार, निद्रा, भय, विहारकरना, ये चारों बातें पशु व मनुष्योंमें समान हैं, केवल एक धर्मही मनुष्यमें अधिक है, फिर जब मनुष्यमें यह धर्मही नहीं, मनुष्यभी पशुके समान है ॥ २५ ॥

:-

-ते-

धर्मार्थकाममोक्षाणां यस्यैकोऽपि न विद्यते।
अजागलस्तनस्येव तस्य जन्म निरर्थकम्॥ २६॥

धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष इन चारोमेसे जिसको एकभी प्राप्त नहीं, तो उसका जन्म ऐसा निरर्थक है, जैसे बकरीके गलेका थन व्यर्थ है॥ २६॥

यच्चोच्यते–

जो कहाजाता है कि,–

आयुः कर्म च वित्तं च विद्या निधनमेव च।
पञ्चैतान्यपि सृज्यन्ते गर्भस्थस्यैव देहिनः॥ २७॥

आयु, कर्म, धन, विद्या, और मृत्यु, ये पांच बाते प्राणीके गर्भवासकालमेही सिरजी जाती है॥ २७॥

किंच–

औरभी–

अवश्यंभाविनो भावा भवन्ति महतामपि।
नग्नत्वं नीलकण्ठस्य महाहिशयनं हरेः॥ २८॥

भालका लिखा हुआ अवश्यही होकर रहेगा, जो सबमे श्रेष्ठ बड़े है वेभी उसका खडन नही करसकते, क्योकि कपालकेही दोषसे शिव सदा नगे रहते, और कपालकेही दोषसे विष्णुजी सर्पकी शेजपर शयन करते है॥ २८॥

अपि च–

और दूसरे–

यदभावि न तद्भावि भावि चेन्न तदन्यथा।
इति चिन्ताविषघ्नोऽयमगदः किं न पीयते॥ २९॥

जो नही होनेवाला है, उसको कौन करसकताहै? और जो होनहार है, उसको कौन मेट सकता है; सर्व चिन्ता विषका नाश करनेवाला यह ज्ञानऔषध लोग क्यों नहीं पान करते?॥ २९॥

एतत्कार्याक्षमाणां केषाञ्चिदालस्यवचनम्।

ये बातें कुछ एक आलसीलोग आलस्यके ही वश होकर कहा करते हैं।

यतः–

क्योंकि;–

न दैवमपि सञ्चिन्त्य त्यजेदुद्योगमात्मनः ।
अनुद्योगेन तैलानि तिलेभ्यो नाप्तुमर्हति ॥ ३० ॥

भागके भरोसे पर अपना उद्योग छोडना नहीं चाहिये क्योकि, विना यत्न किये तिलसे तेल नही निकलता ॥ ३० ॥

अन्यच्च-

और भी कहाहै कि,--

उद्योगिनं पुरुषसिंहमुपैति लक्ष्मीः ।
दैवेन देयमिति कापुरुषा वदन्ति ॥
दैवं निहत्य कुरु पौरुषमात्मशक्त्या
यत्ने कृते यदि न सिद्ध्यति कोऽत्र दोषः ॥ ३१ ॥

उद्योगी पुरुषश्रेष्ठ सदा लक्ष्मीको प्राप्त करता है और कायर पुरुष सदा भाग्यके भरोसे पर बैठा रहताहै । भाग्यही देताहै, ऐसा वचन तो कायरही कहाकरते हैं, भाग्यको छोडकर अपना पौरुष दिखाओ, यदि यत्न करनेपरभी सिद्धि न हो तो इसमे क्या दोष है ? ॥ ३१ ॥

यथा ह्येकेन चक्रेण न रथस्य गतिर्भवेत् ।
एवं पुरुषकारेण विना दैवं न सिद्ध्यति ॥ ३२ ॥

जिस प्रकार एक पहियेसे रथकी गति नहीं होती, ऐसेही पुरुषार्थके विना भाग्य नहीं फलता ॥ ३२ ॥

तथा च--

और भी--

पूर्वजन्मकृतं कर्म यद्दैवमिति कथ्यते ।
तस्मात्पुरुषकारेण यत्नं कुर्यादतन्द्रितः ॥ ३३ ॥

पहले जन्मका किया कर्म प्रारब्ध (दैव) कहाता है, इसकारण आलस्यको त्याग पुरुषार्थ करके यत्न (उपाय) करो ॥ ३३ ॥

यथा मृत्पिण्डतः कर्ता कुरुते यद्यदिच्छति ।
एवमात्मकृतं कर्म मानवः प्रतिपद्यते ॥ ३४ ॥

जैसे मट्टीके पिण्डसे कुम्भकार (कुम्हार) इच्छानुसार वस्तु बनाता है, तैसेही मनुष्य अपने किये हुए कर्मको आपही पाता है ॥ ३४ ॥

अन्यच्च--

और भी--

काकतालीयवत्प्राप्तं दृष्ट्वापि निधिमग्रतः ।
न स्वयं दैवमादत्ते पुरुषार्थमपेक्षते ॥ ३५ ॥

काकतालीय न्यायसे अचानक सन्मुख आईहुई निधिको निहारकरभी दैव (प्रारब्ध) अपने आप नही देता, वरन् पुरुषार्थकी आवश्यकता रखता है ॥ ३५ ॥

उद्यमेन हि सिद्ध्यन्ति कार्याणि न मनोरथैः ।
न हि सुप्तस्य सिंहस्य प्रविशन्ति मुखे मृगाः ॥ ३६ ॥

उद्यमके विना केवल इच्छासेही कार्य नही होते वरन् उद्यमसेही होतेहै, कारण कि, मृग (हिरन) आपही सोतेहुए सिहके मुखमे प्रवेश नही करते है ॥ ३६ ॥

मातृपितृकृताभ्यासो गुणितामेति बालकः ।
न गर्भच्युतिमात्रेण पुत्रो भवति पंडितः ॥ ३७ ॥

माता पिताके अभ्यास करानेसे बालक गुणवान् होता है न कि, केवल गर्भसे निकलते ही पुत्र पडित होता है ॥ ३७ ॥

तथा च-

और भी-

माता शत्रुः पिता वैरी येन बालो न पाठितः ।
न शोभते सभामध्ये हंसमध्ये बको यथा ॥ ३८ ॥

वह बाप और वह माता वैरीकी तुल्य हैं, जिन्होने अपने बालकको नहीं पढाया, वह बालक सभाके बीचमे इसप्रकारसे शोभित नहीं होता, जैसे हसोके बीचमें बगला ॥ ३८ ॥

रूपयौवनसंपन्ना विशालकुलसंभवाः ।
विद्याहीना न शोभन्ते निर्गन्धा इव किंशुकाः ॥ ३९ ॥

रूप-यौवन-सम्पन्न, बडे भारी कुलमें उत्पन्न हुए मनुष्य (कुलीन) विद्याहीन होकर इसप्रकार शोभित नहीं होते, जैसे गन्धरहित ढाकके फूल ॥ ३९ ॥

मूर्खोऽपि शोभते तावत्सभायां वस्त्रवेष्टितः ।
तावच्च शोभते मूर्खो यावत्किंचिन्न भाषते ॥ ४० ॥

सभामें वस्त्र पहरेहुए मूर्ख तवतक शोभा पाता है कि, जवतक मूर्ख कुछ बोलता नहीं है (जहा बोला कि, कलई खुल जाती है.) ॥ ४० ॥

एतच्चिन्तयित्वा स राजा पंडितसभां कारितवान्। राजोवाच। भो भोः पंडिताः! श्रूयताम्-अस्ति कश्चिदेवम्भूतो विद्वान् यो मम पुत्राणां नित्यमुन्मार्गगामिनामनधिगतशास्त्राणामिदानीं नीतिशास्त्रोपदेशेन पुनर्जन्म कारयितुं समर्थः। यतः-

उस राजाने इन सब बातोंको सोच विचारकर पंडितोंको बुलवाय एक सभा की। राजाने कहा, हे पंडितगण! आप लोगोंमें कोई ऐसे भी पंडित हैं कि, जो सदाही खोटे मार्गपर चलनेवाले शास्त्रज्ञानहीन हमारे पुत्रोंको नीतिशास्त्रका उपदेश देकर उनका दूसरा जन्म करानेकेलिये समर्थ होसके? क्योंकि-

काचः काञ्चनसंसर्गाद्धत्ते मारकतीं द्युतिम्।
तथा सत्संनिधानेन मूर्खो याति प्रवीणताम्॥ ४१॥

काच, सुवर्णकी संगतिमें मरकत मणिकी कान्तिको धारण करता है, ऐसेही सज्जनोंका संग करनेसे मूर्खभी प्रवीण (चतुर) होजाता है॥४१॥

उक्तं च-

कहा है कि-

हीयते हि मतिस्तात! हीनैः सह समागमात्।
समैश्च समतामेति विशिष्टैश्च विशिष्टताम्॥ ४२॥

कुपात्रमे करनेसे कोई क्रिया फलवती नहीं होती। सैकडो प्रकारके उपाय करनेसेभी बगला तोतेकी समान नहीं पढाया जाता है ॥ ४३ ॥

अन्यच्च,–

और दूसरे,–

अस्मिंस्तु निर्गुणं गोत्रे नापत्यमुपजायते।
आकरे पद्मरागाणां जन्म काचमणेः कुतः ॥ ४४ ॥

यह वश गुणरहित पुत्रोको उत्पन्न नहीं करता । * पद्मराग मणियोकी खानिसे कहीं काच पैदा होसकता है ? ॥ ४४ ॥

अतोऽहं षण्मासाभ्यन्तरे तव पुत्रान्नीतिशास्त्राभिज्ञान्करिष्यामि।' राजा सविनयं पुनरुवाच–

इसलिये हम छ महीने के भीतर ही आपके पुत्रोको नीतिशास्त्रमे सुशिक्षित करेगे'।

राजाने फिर नम्रतासे कहा–

'कीटोऽपि सुमनःसङ्गादारोहति सतां शिरः।
अश्मापि याति देवत्वं महद्भिः सुप्रतिष्ठितः ॥ ४५ ॥

'कीडा भी फूलके संगसे श्रेष्टोके शिरपर चढताहै, वडेजनोसे आदरके साथ प्रतिष्ठित होनेपर पत्थरभी देवपनेको प्राप्त होता हैं ॥ ४९ ॥

अन्यच्च–

और भी–

यथोदयगिरेर्द्रव्यं सन्निकर्षेण दीप्यते।
तथा सत्संनिधानेन हीनवर्णोऽपि दीप्यते ॥ ४६ ॥

जैसे उदय पर्वतकी वस्तु सूर्यके समीप होनेसे प्रकाशित होती है, वैसेही हीनजाति भी साधुलोगोके समागमसे प्रकाशित होती है ॥ ४६ ॥

गुणा गुणज्ञेषु गुणा भवन्ति
ते निर्गुणं प्राप्य भवन्ति दोषाः।
आस्वाद्यतोयाः प्रभवन्ति नद्यः
समुद्रमासाद्य भवन्त्यपेयाः ॥ ४७ ॥

---

* पद्मराग--माणिक ।

गुण गुणजाननेवालोंके सन्मुख गुणही होते हैं, परन्तु दुष्टके संगको पाकर विपरीत होजाते हैं। नदी स्वादिष्ट जलवाली होतीहै परन्तु समुद्रमे पहुँचकर पीनेके अयोग्य अर्थात् खारे जलवाली होजाती है ॥ ४७ ॥

तदेतेषामस्मत्पुत्राणां नीतिशास्त्रोपदेशाय भवन्त प्रमाणम्' इत्युक्त्वा तस्य विष्णुशर्मणो बहुमानपुरःसरं पुत्रान्समर्पितवान् ॥ अथ प्रासादपृष्ठे सुखोपविष्टानां राजपुत्राणां पुरस्तात्प्रस्तावक्रमेण स पंडितोऽब्रवीत-'भो राजपुत्राः शृणुत-

इस लिये हमारे इन पुत्रोंको नीतिशास्त्र सिखानेके लिये आपही योग्य हैं' राजा यह कह उन विष्णुशर्माजीका सन्मान करके उनके हाथमे अपने पुत्रोंका समर्पण करता हुआ ॥ तिसके पीछे वह राजपुत्र जब राजभवनकी छतपर सुखसे बैठगये, तब उन पंडितजीने प्रसंगके क्रमसे कहा--'हे राजपुत्रगण ! श्रवण करो-

काव्यशास्त्रविनोदेन कालो गच्छति धीमताम् ।
व्यसनेन च मूर्खाणां निद्रया कलहेन वा ॥ ४८ ॥

काव्यशास्त्रके आनंदसे बुद्धिमानोंका समय बीतता है, और विषय, निद्रा, और कलहसे मूर्ख अपना समय व्यतीत करते हैं ॥ ४८ ॥

तद्भवतां विनोदाय काककूर्मादीनां विचित्रां कथां कथयामि' । राजपुत्रैरुक्तम्-आर्य ! कथ्यताम् ।

॥ इति कथारम्भः समाप्तः ॥

इसलिये तुम्हारे आनंदके लिये हम काक कच्छपादिकी विचित्र कथा कहते हैं' । राजपुत्रोंने कहा, हे आर्य ! कहिये ।

॥ इति कथारम्भ समाप्त ॥

मित्रलाभः ।

विष्णुशर्मोवाच-'शृणुत, संप्रति मित्रलाभः प्रस्तूयते यस्यायमाद्यः श्लोकः-

विष्णुशर्मा बोले-'सुनो, अब मित्रलाभकी कथा कहताहूं, जिसका प्रथम श्लोक यह है-

असाधना वित्तहीना बुद्धिमन्तः सुहृत्तमाः ।
साधयन्त्याशु कार्याणि काककूर्ममृगाखुवत् ॥ १ ॥'

अर्थ—उपायहीन द्रव्यहीन मित्रगण परस्पर मिलकर कार्योंको शीघ्र सिद्ध करते हैं। जिस प्रकार बुद्धिमान् काक, कछुए, मृग और चुहेने किया' ॥ १ ॥

राजपुत्रा ऊचुः—'कथमेतत् ?' विष्णुशर्मा कथयति—

राजपुत्र बोले—'यह किस प्रकारसे है ?' तब विष्णुशर्मा कहने लगे:—

'अस्ति गोदावरीतीरे विशालः शाल्मलीतरुः।तत्र नाना-दिग्देशादागत्य रात्रौ पक्षिणो निवसन्ति।अथ कदाचिदवसन्नायां रात्रावस्ताचलचूडावलंबिनि भगवति कुमुदिनीनायके चन्द्रमसि लघुपतनकनामा वायसः प्रबुद्धः कृतान्तमिव द्वितीयमायान्तं पाशहस्तं व्याधमपश्यत् । तमवलोक्याचिन्तयत्—'अद्य प्रातरेवानिष्टदर्शनं जातम् । न जाने किमनभिमतं दर्शयिष्यति।' इत्युक्त्वा तदनुसरणक्रमेण व्याकुलश्चलितः। यतः—

गोदावरीके तीर पर एक बडाभारी सेमलका वृक्ष है, अनेक दिशा और अनेक देशोंसे पक्षिगण आकर रात्रिके समय उस वृक्ष पर बसेरा लेते है । एक समय रात्रिके बीतजाने, और भगवान् कुमुदिनीकान्त चन्द्रमाके अस्ताचल शिखरका आश्रय लेने पर लघुपतनक नामक एक कागने जागकर देखा कि, दूसरे यमराजकी समान एक व्याध फंदा हाथमें लिये चलाजाता है। इस व्याधेको देखकर उस कागने विचारा—'आज सवेरेही सवेरे अशुभ दर्शन हुआ । न जाने क्या अमगल होगा ?' यह विचारकर व्याकुलचित्तसे वह काक उस व्याधका अनुसरण करने लगा । क्यों कि,—

शोकस्थानसहस्राणि भयस्थानशतानि च ।
दिवसेदिवसे मूढमाविशन्ति न पंडितम् ॥ २ ॥

हजारों शोक, और सैकडो भयके स्थान दिन प्रतिदिन मूर्खको प्राप्त होते हैं, पंडितको नहीं होते ॥ २ ॥

अन्यच्च विषयिणामिदमवश्यं कर्तव्यम्—

और विषयी लोगोंको यह अवश्य करना उचित है—

उत्थायोत्थाय बोद्धव्यं महद्भयमुपस्थितम् ।
मरणव्याधिशोकानां किमद्य निपतिष्यति ॥ ३ ॥

सेजसे उठ २ कर प्राप्त होनेवाले बडे भयको जानना योग्य है कि, मरण, व्याधि, शोकमेसे आज कौन आनकर उपस्थित होगा ? ॥ ३ ॥

अथ तेन व्याधेन तण्डुलकणान्विकीर्य जालं विस्तीर्णम् । स च प्रच्छन्नो भूत्वा स्थितः । तस्मिन्नेव काले चित्रग्रीवनामा कपोतराजः सपरिवारो वियति विसर्पंस्तांस्तण्डुलकणानवलोकयामास । ततः कपोतराजस्तण्डुलकणलुब्धान्कपोतान्प्रत्याह–'कुतोऽत्र निर्जने वने तण्डुलकणानां संभवः । तन्निरूप्यतां तावत । भद्रमिदं न पश्यामि । प्रायेणानेन तण्डुलकणलोभेनास्माभिरपि तथा भवितव्यम् ।

इसके पीछे उस व्याधने चावलकी किनकीको बखेरकर जाल फैलाया, और वहां आपभी छिपकर टिका रहा । ठीक उसी समय, चित्रग्रीव नामक एक कपोतराज अपने परिवारसहित आकाशमे घूमता २ उन समस्त चावलके दानोको देखता हुआ तब कबूतरोको चावलके दानोका लोभी देखकर कबूतरोंके राजाने कहा–'इस निर्जन वनमे चावलके दाने कहासे आये । इसकारण पहले इस बातकी खोज खबर लीजाय । यह तो भला विदित नहीं होता कदाचित् उन चावलके दानोके लोभसे हमपरभी वैसा न हो जैसे 'कि –

कङ्कणस्य तु लोभेन मग्नः पङ्के सुदुस्तरे ।
वृद्धव्याघ्रेण संप्राप्तः पथिकः स मृतो यथा ॥ ४ ॥'

कङ्कणके लोभसे दुस्तर कीचडमे फँसा पथिक (मुसाफिर बूढे व्याघ्रसे पकडा जाकर मारागया ॥ ४ ॥

कपोता ऊचुः– 'कथमेतत ? ' कपोतराजः कथयति ।
तब कबूतर बोले–'यह कैसे हुआ' कबूतरोंका राजा कहने लगा.

कथा १.

अहमेकदा दक्षिणारण्ये [illegible]
[illegible] स्नातः कुशहस्तः सरस्तीरे ब्रूते– भो भो पान्थाः इदं सुवर्ण-

कङ्कणं गृह्यताम्'। 'ततो लोभाकृष्टेन केनचित्पान्थेनालोचितम्–'भाग्येनैतत्संभवति। किंत्वस्मिन्नात्मसंदेहे प्रवृत्तिर्न विधेया। यतः–

'मैंने एक समय दक्षिण वनमें घूमते २ देखा कि एक बूढा व्याघ्र स्नान करके हाथमे कुश लिये सरोवरके किनारे पर खडाहुआ कह रहाहै कि,–'हे यात्रिगण! इस सुवर्णके कङ्कणको ग्रहण करो'। अनन्तर लोभसे खिंचा हुआ एक यात्री विचारने लगा,–'भाग्यसेही ऐसा लाभ हुआ करताहै, परन्तु जिसमे जीवनका सशय है उसमे लोभ करना भला नहीं। कारण कि–

अनिष्टादिष्टलाभेऽपि न गतिर्जायते शुभा।
यत्रास्ते विषसंसर्गोऽमृतं तदपि मृत्यवे॥ ५॥

अनिष्टसे वाञ्छित वस्तु मिलने परभी अच्छी दशा नहीं होती, विषके साथ रहते हुए अमृतसे भी मृत्युका भय निश्चय है॥ ५॥

किंतु सर्वत्रार्थार्जने प्रवृत्तिः संदेह एव। तथा चोक्तम्–
परन्तु अर्थ (धन) उपार्जन करनेमें तो सबहीं स्थानोमे सशय है। कहाभी है कि,'–

न संशयमनारुह्य नरो भद्राणि पश्यति।
संशयं पुनरारुह्य यदि जीवति पश्यति॥ ६॥

मनुष्य विना सशयमें आरूढ हुए कल्याणों (भलाइयो) को नही देखता और जब वह सशयमे आरूढ होकर जीताहै, तो फिर भलाइयोंको देखताहै॥ ६॥

तन्निरूपयामि तावत्।' प्रकाशं ब्रूते–'कुत्र तव कङ्कणम्।' व्याघ्रो हस्तं प्रसार्य दर्शयति। पान्थोऽवदत्–'कथं मारात्मके त्वयि विश्वासः'।'व्याघ्र उवाच–'शृणु रे पान्थ! प्रागेव यौवनदशायामतिदुर्वृत्त आसम्। ततः अनेकगोब्राह्मणमानुषाणां वधान्मे पुत्रा मृता दाराश्च। वंशहीनश्चाहम्। ततः केनचिद्धार्मिकेणाहमादिष्टः-'दानधर्मादिकं चरतु भवान्'।' तदुपदेशादिदानीमहं स्नानशीलो दाता वृद्धो गलितनखदन्तो न कथं विश्वासभूमिः।

उक्तं च–

इज्याध्ययनदानानि तपः सत्यं धृतिः क्षमा ।
अलोभ इति मार्गोऽयं धर्मस्याष्टविधः स्मृतः ॥ ७ ॥

इसलिये खोज करके देखूं' । फिर पुकार कहा—'कहा है तुम्हारा कंकण' व्याघ्रने हाथ वढ़ायकर दिखाया । यात्री बोला—'तू हिंसकस्वभाव है, तुझमे विश्वास क्या?' व्याघ्रने कहा,—'सुन रे पथिक! पहले मै जवानीके समय बडा दुराचारी था । अनेक गो, ब्राह्मण और दूसरे अनेक मनुष्योकी हिंसा करनेके पाप हमारे स्त्री पुत्र मर गये हैं । मैं निर्वंश होगया हू । तिसके पीछे एक धार्मिक मुझे उपदेश दिया कि, तुम दान धर्मादिका आचरण करो उसहीके उपदेशसे इस समय नित्य स्नान और दान किया करता हू । मैं वृद्ध होगया हू, मेरे न और दात गिर पडे है । फिर मै क्यों विश्वासका पात्र नही हूगा.

कहाभी है-

यज्ञ करना, वेद पढना, दान देना तप करना, सत्य बोलना, धैर्यना, क्षमा लोभ न करना, यह धर्मका आठ प्रकारवाला मार्ग कहा गया है ॥ ७ ॥

तत्र पूर्वश्चतुर्वर्गो दम्भार्थमपि सेव्यते ।
उत्तरस्तु चतुर्वर्गो महात्मन्येव तिष्ठति ॥ ८ ॥

इनमेसे प्रथमके चार पाखण्डके लियेभी किये जाते है, परन्तु पिछले च तो सदा साधुजनोंमेंही रहते हैं ॥ ८ ॥

मम चैतावाँल्लोभविरहो येन स्वहस्तस्थमपि सुवर्णकङ्कणं यस्मै कस्मैचिद्दातुमिच्छामि । तथापि व्याघ्रो मानुषं खादतीति लोकप्रवादो दुर्निवारः । यतः-

मने लोभको यहातक त्याग दियाहै कि—अपने हाथका यह सुवर्णमय कङ्कण जिस तिसको देना चाहता हू तथापि बाघ मनुष्यको खाता है, यह लोकापवाद मिटनेवाला नहीं । क्योंकि,—

गतानुगतिको लोकः कुट्टिनीमुपदेशिनीम्।
प्रमाणयति नो धर्मे यथा गोघ्नमपि द्विजम्॥ ९॥

ससार देखादेखीकी चाल चलनेवाला है। उपदेश करनेवाली कुटनीको धर्मके विषयमें प्रमाण नहीं करते, जैसे गोघाती ब्राह्मणको॥ ९॥

मया च धर्मशास्त्राण्यधीतानि। शृणु–

मैने धर्म शास्त्रभी पढाहै। सुन;--

मरुस्थल्यां यथा वृष्टिः क्षुधार्ते भोजनं तथा।
दरिद्रे दीयते दानं सफलं पाण्डुनन्दन!॥ १०॥

जैसे मरुभूमि (मारवाड) में वर्षा, क्षुधासे पीडितको भोजन कराना सफल है हे पाण्डुनन्दन! (पाण्डुके पुत्र युधिष्ठिर!) वैसेही दरिद्रको दियाहुआ दान सार्थक होताहै॥ १०॥

प्राणा यथात्मनोऽभीष्टा भूतानामपि ते तथा।
आत्मौपम्येन भूतेषु दयां कुर्वन्ति साधवः॥ ११॥

आप अपने प्राणोंको जैसा प्यार करता है, दूसराभी अपने प्राणोंको वैसाही प्यार करता है। साधु लोग ऐसाही जानकर सब प्राणियोपर दया करते है॥ ११॥

अपरं च–

दूसराभी--

प्रत्याख्याने च दाने च सुखदुःखे प्रियाऽप्रिये।
आत्मौपम्येन पुरुषः प्रमाणमधिगच्छति॥ १२॥

प्रत्याख्यान (भिक्षुकको कुछ न देकर टालदेना), पराये चित्तमें सुख दुःख उपजाना और दसरेके प्रति प्यारा या कुप्यारा वचन कहना दान इनमें कौन श्रेष्ठ है, इसका प्रमाण पुरुष अपने समान जाने॥ १२॥

अन्यच्च।

औरभी–

मातृवत्परदारेषु परद्रव्येषु लोष्टवत्।
आत्मवत्सर्वभूतेषु यः पश्यति स पण्डितः॥ १३॥

पराई स्त्रीको माताकी समान, पराये द्रव्यों (धनादि) को डेलेकी समान और सब प्राणियोंको अपनी समान जो देखताहै वही पंडित है ॥ १३ ॥

त्वं चातीव दुर्गतस्तेन तत्तुभ्यं दातुं सुयत्नोऽहम्। तथा चोक्तम्-

तुम अति दरिद्र हो इसी कारण तुमको यह (कंगन) देनेकेलिये मैं इतना यत्न करताहू । वैसा कहाभी है कि;--

दरिद्रान्भर कौन्तेय ! मा प्रयच्छेश्वरे धनम् ।
व्याधितस्यौषधं पथ्यं नीरुजस्य किमौषधैः ॥ १४ ॥

हे युधिष्ठिर! दरिद्रोंका भरण पोषण करो, ऐश्वर्यवान्को धन न दो, व्याधिवालेको औषध हितकारी है, निरोगीको दवाइयोंसे क्या फल है? ॥ १४ ॥

अन्यच्च-

और भी-

दातव्यमिति यद्दानं दीयतेऽनुपकारिणे ।
देशे काले च पात्रे च तद्दानं सात्त्विकं विदुः ॥ १५ ॥

देनाही उचित है, ऐसा समझकर जो दान अनुपकारी (जो पुरुष अपने कार्यमें न आताहो) को दियाजाय देश, काल और पात्रमें दियाजाय उस दानको सात्त्विक कहते हैं ॥ १५ ॥

तदत्र सरसि स्नात्वा सुवर्णकङ्कणं गृहाण ' । ततो यावदसौ जातविश्वासः सरः स्नातुं प्रविशति तावदेव महापंके निमग्नः पलायितुमक्षमः । पंके पतितं दृष्ट्वा व्याघ्रोऽवदत्- 'अहह ! महापङ्के पतितोऽसि । अतस्त्वामहमुत्थापयामि ' इत्युक्त्वा शनैःशनैरुपगम्य तेन व्याघ्रेण धृतः स पान्थोऽचिन्तयत्-

इसलिये तुम इस सरोवरमें स्नान करके सुवर्णके कंगनको ग्रहण करो'। तबके पीछे उसके वचनका विश्वास करके जैसे ही वह (यात्री) सरोवरमें स्नान करनेको पैठा कि, वैसेही गहरी कीचड़में फँसकर भागनेकी सामर्थ्यसे हीन होगया। उसको कीचड़में फँसाहुआ देखकर व्याघ्रने कहा,-'अहह ! तुम गम्भीर कीचड़में फँसेहो इसकारण मैं तुमको निकालता हूँ' इस प्रकार यह कहकर धीरे २ जाकर ज्यों उसको (यात्रीको) पकड़ा त्यों उस पथिकने विचारा,-

'न धर्मशास्त्रं पठतीति कारणं
न चापि वेदाध्ययनं दुरात्मनः।
स्वभाव एवात्र तथातिरिच्यते
यथा प्रकृत्या मधुरं गवां पयः ॥ १६ ॥

'धर्मशास्त्रका पाठ या वेदका पढना' दुरात्माको साधुताका कारण नही होसक्ता। जिसका जो स्वभाव है वही सबसे प्रबल है; जैसे गायका दूध स्वभावसेही मीठा होताहै ॥ १६ ॥

किंच-
और देखो,--

अवशेन्द्रियचित्तानां हस्तिस्नानमिव क्रिया।
दुर्भगाऽऽभरणप्राये। ज्ञानं भारः क्रियां विना ॥ १७ ॥

जिसकी इन्द्रियाँ और मन वशमे नहीं, उनके कार्य हाथीके स्नानकी समान हैं। जैसे प्रायः विधवा स्त्रियोंको गहना भार है ऐसेही विना अनुष्ठानके ज्ञान बोझेकी समान है * ॥ १७ ॥

तन्मया भद्रं न कृतं यदत्र मारात्मके विश्वासः कृतः।

इस लिये मैने जो हिंसक स्वभाववाले जीवका विश्वास किया सो भला नहीं किया ॥

तथा ह्युक्तम्-
वैसाही कहाहै-

नदीनां शस्त्रपाणीनां नखिनां शृङ्गिणां तथा।
विश्वासो नैव कर्तव्यः स्त्रीषु राजकुलेषु च ॥ १८ ॥

नदियोका, जिनके हाथमें शस्त्र हो उनका, नखवालोका, सींगवालोका, स्त्रियोंका, और राजकुलका कभी विश्वास नहीं करना चाहिये ॥ १८ ॥

अपरं च-
और भी--

* हाथी नहा धोकर जैसे फिर अपने अंगोमे धूल डाल लेताहै, वैसेही अजितेन्द्रिय पुरुष ज्ञानका उपदेश पाकरभी निन्दनीय आचरणोसे अपनी आत्माको दूषित करते है, इसकारण ज्ञानके समान सदाचार न रहनेसे उस ज्ञानका रहना विधवा स्त्रीके अंगमे गहने रहनेकी नाई है।

सर्वस्य हि परीक्ष्यन्ते स्वभावा नेतरे गुणाः ।
अतीत्य हि गुणान्सर्वान्स्वभावो मूर्ध्नि वर्तते ॥ १९

सबके स्वभावही परखे जाते हैं, उनके पृथक् गुणोंकी परीक्षा नहीं कीजाती, कारण कि, सब गुणोंको उल्लंघन कर स्वभावही शिरके ऊपर रहता है ॥ १९

अन्यच्च-

और भी,-

स हि गगनविहारी कल्मषध्वंसकारी
दशशतकरधारी ज्योतिषां मध्यचारी ।
विधुरपि विधियोगाद्ग्रस्यते राहुणासौ
लिखितमपि ललाटे प्रोज्झितुं कः समर्थः ॥ २० ॥'

वह आकाशमें विहार करनेवाला, अंधकारनाशकारी, सहस्र किरणोंका धारण करनेवाला, प्रकाशवान्, तारागणोंके मध्यमें घूमनेवाला चंद्रमा भी भाग्यके वश हो राहुसे ग्रसा जाता है, इसकारण माथेपरके लिखे हुएको मेटनेमें कौन समर्थ है? ॥ २० ॥'

इति चिन्तयन्नेवासौ तेन व्याघ्रेण व्यापादितः खादितश्च । अतोऽहं ब्रवीमि--' कङ्कणस्य तु लोभेन ' इत्यादि । अतः सर्वथाऽविचारितं कर्म न कर्तव्यम् । यतः-

इसप्रकार विचार करते हुए पथिकको व्याघ्रने प्राण संहार करके उसको भोजन किया । इस कारण मैंने ' कंगनके लोभसे ' इत्यादि कहाथा । इसलिये सब भांतिसे विना सोचे विचारे काम करना उचित नहीं है । क्योंकि,-

सुजीर्णमन्नं सुविचक्षणः सुतः
सुशासिता स्त्री नृपतिः सुसेवितः ।
सुचिन्त्य चोक्तं सुविचार्य यत्कृतं
सुदीर्घकालेऽपि न याति विक्रियाम् ॥ २१ ॥

एतद्वचनं श्रुत्वा कश्चित्कपोतः सदर्पमाह--'आः किमेवमुच्यते?

यह वचन सुनकर एक कबूतर गर्व सहित बोला;—आः ! यह सब क्या कहतेहो?—

वृद्धानां वचनं ग्राह्यमापत्काले ह्युपस्थिते।
सर्वत्रैवं विचारेण भोजनेऽप्यप्रवर्तनम् ॥ २२ ॥

विपद्का समय प्राप्त होनेपर बड़ोंके वचन ग्रहण करने चाहिये और जो सब जगहही इसका विचार किया जायगा तो भोजनमे भी प्रवृत्ति नहीं होसकती। ॥ २२ ॥

यतः–

क्योंकि,--

शङ्काभिः सर्वमाक्रान्तमन्नं पानं च भूतले।
प्रवृत्तिः कुत्र कर्तव्या जीवितव्यं कथं नु वा ॥ २३ ॥

पृथ्वीपर अन्न पान सबहीमें तो अनेक प्रकारकी शंका है; फिर किसमे प्रवृत्ति ाजाय और किसप्रकारसे प्राण रखने चाहियें ॥ २३ ॥

ाथा चोक्तम्--

ौरभी कहा है कि;—

ईर्ष्यी घृणी त्वसंतुष्टः क्रोधनो नित्यशङ्कितः।
परभाग्योपजीवी च षडेते दुःखभागिनः ॥ २४ ॥'

ईर्षा करनेवाला, घिन करनेवाला, सदा कोप करनेवाला, सदा असन्तुष्ट, ौर सदाही शंकित रहनेवाला, और दूसरेके भाग्यसे (भरोसेसे) जीनेवाला, ये ः सदा दुःख भोगनेवाले हैं ॥ २४ ॥

एतच्छ्रुत्वा सर्वे कपोतास्तत्रोपविष्टाः। यतः--

ह बात सुनकर सब कबूतर उन समस्त चावलोंके दानो पर जायकर बैठे। ारण;--

सुमहान्त्यपि शास्त्राणि धारयन्तो बहुश्रुताः।
छेत्तारः संशयानां च क्लिश्यन्ते लोभमोहिताः ॥ २५ ॥

जिन्होने बड़े शास्त्र पढे है, जिन्होंने बहुत ज्ञान उपार्जन किया है, और जो दूसरेके संशयोंको छेदन करनेवाले हैं, वेभी लोभमें पडकर कष्ट पाते हैं ॥ २५ ॥

अन्यच्च-

और देखो,-

लोभात्क्रोधः प्रभवति लोभात्कामः प्रजायते ।
लोभान्मोहश्च नाशश्च लोभः पापस्य कारणम् ॥२६॥

लोभसेही काम होताहै, लोभसेही क्रोध होता है, लोभहीसे मोह तथ
नाश होताहै और लोभही पापका कारण है ॥ २६ ॥

अन्यच्च-

और देखो,-

असंभवं हेममृगस्य जन्म
तथापि रामो लुलुभे मृगाय ।
प्रायः समापन्नविपत्तिकाले
धियोऽपि पुंसां मलिना भवन्ति ॥ २७ ॥

सुवर्णके मृगका जन्म असम्भव है, तथापि श्रीरामचन्द्रजी मृगपै लुभाये, व
वा विपत् समयके आनेपर पुरुषोंकी बुद्धि मलिन होजाती है ॥ २७ ॥

अनन्तरं ते सर्वे जालेन बद्धा बभूवुः । ततो यस्य
वचनात्तत्रावलम्बिताः पक्षिणस्तं सर्वे तिरस्कुर्वन्ति ।

इसके पीछे वे समस्त कपोत (कबूतर) जालमें बँधे । तिसके उपरा
जिसकी बात सुन सब वहां जाकर बैठेथे उसका सबही कबूतर निरादर करनेलगे

तथा चोक्तम्-

कहाभी है कि,-

न गणस्याग्रतो गच्छेत्सिद्धे कार्ये समं फलम् ।
यदि कार्यविपत्तिः स्यान्मुखरस्तत्र हन्यते ॥ २८ ॥

समूहके आगे न चले, क्योंकि कार्यके सिद्ध होनेपर फल तो बराबर मिल
है और जो काममें कहीं कुछ विपत्ति होगई, तो वह सबसे प्रथम अगाड़ी
मारा जाता है ॥ २८ ॥

तथा चोक्तम् ।

कहा भी है कि,-

आपदां कथितः पन्था इन्द्रियाणामसंयमः।
तज्जयः सम्पदां मार्गो येनेष्टं तेन गम्यताम्॥ २९॥

इन्द्रियोको अपने वशमें न करनाही आपत्तिका मार्ग कहाहै और इन्द्रियोके जयसे सम्पत्तिका मार्ग प्राप्त होताहै जो इन मार्गोमें अच्छा लगे उसीमें चले॥ २९॥

तस्य तिरस्कारं कृत्वा चित्रग्रीव उवाच-'नायमस्य दोषः। यतः--

उस कबूतरका सबसे निरादर होते हुए देखकर चित्रग्रीव कहने लगा, -'यह उसका दोप नहीं है। कारण,--

आपदामापतन्तीनां हितोऽप्यायाति हेतुताम्।
मातृजंघा हि वत्सस्य स्तम्भीभवति बन्धने॥ ३०॥

आनेवाली विपद्का हेतु हितभी होजाता है, जैसे दुहनेके समय बछडेके बाँधनेमें उसकी माताकी जंघाही खंभा होजाती है *॥ ३०॥

अन्यच्च-

औरभी देखो,--

स बन्धुर्यो विपन्नानामापदुद्धरणक्षमः।
न तु भीतपरित्राणवस्तूपालम्भपण्डितः॥ ३१॥

वही बन्धु है, जो विपद्में पडे हुवोंको आपत्तिसे छुटकारा करानेमे समर्थ है। और वह मित्र नहीं है जो भयभीत हुएकी रक्षा करनेवाली वस्तुके उल्हाने देनेमें चतुर है॥ ३१॥

विपत्काले विस्मय एव कापुरुषलक्षणम्। तदत्र धैर्यमवलम्ब्य प्रतीकारश्चिन्त्यताम्। यतः--

और विपद्के समय बुद्धिहीन होजाना भी कायर पुरुषका लक्षण है, इसलिये अत्र धीरज धारण करके छुटकारेकी चिन्ता कीजानी उचित है। क्योंकि,--

विपदि धैर्यमथाभ्युदये क्षमा
सदसि वाक्पटुता युधि विक्रमः।

---

* गाय दुहनेके समय उस गायकीही जांघसे अबभी कहीं २ बछडेको बांधदिया करते है, इस कारण देखो बछडेकी माताका शरीरही बछडेके बाँधनेको खूँटारूप होगया।

यशसि चाभिरुचिर्व्यसनं श्रुतौ ।
प्रकृतिसिद्धमिदं हि महात्मनाम् ॥ ३२ ॥

विपद्में धीरता, ऐश्वर्यमें क्षमा, सभामे वाणीकी चतुरता, युद्धमें पराक्रम यशमे रुचि, वेदमें व्यसन, ये महात्मा पुरुषोंके स्वभावसेही सिद्ध हैं ॥ ३२

संपदि यस्य न हर्षो विपदि विषादो रणे च धीरत्वम ।
तं भुवनत्रयतिलकं जनयति जननी सुतं विरलम् ॥ ३३ ॥

संपत्तिमे जिसे हर्ष न हो, विपत्तिमे शोक न हो, रणमें धीरता हो ऐसे तीन लोकोंके तिलक पुत्रको बहुतही थोडी माताये उत्पन्न करती है ॥ ३३ ॥

अन्यच्च--
औरभी--

षट् दोषाः पुरुषेणेह हातव्या भूतिमिच्छता ।
निद्रा तन्द्रा भयं क्रोध आलस्यं दीर्घसूत्रता ॥ ३४ ॥

निद्रा, तन्द्रा (ऊँघना) भय, क्रोध, आलस्य, देरमें काम करना, ये छ दोष संसारमें लक्ष्मी चाहनेवाले पुरुषको दूर करने चाहिये ॥ ३४ ॥

इदानीमप्येवं क्रियताम्, सर्वैरेकचित्तीभूय जालमादायो ड्डीयताम् ।

इस समय भी इसप्रकारसे किया जाय, आओ ! हम सब एकहृदय हो जाल लेकर उडचलें ।

यतः ।
कारण,--

अल्पानामपि वस्तूनां संहतिः कार्यसाधिका ।
तृणैर्गुणत्वमापन्नैर्बध्यन्ते मत्तदन्तिनः ॥ ३५ ॥

अल्प वस्तुओंका भी समूह कार्य सिद्ध करनेवाला होताहै, तिनके रस्सीके पनको प्राप्त होकर मतवाले हाथियोंको बाँधते हैं ॥ ३५ ॥

संहतिः श्रेयसी पुंसां स्वकुलैरल्पकैरपि ।
तुषेणापि परित्यक्ता न प्ररोहन्ति तण्डुलाः ॥ ३६ ॥

मनुष्योंको अपने थोडे भी कुलके लोगोंसे संगति श्रेष्ठ है, (क्योंकि) तुषसे छूटे हुए चावल नहीं उगते ॥ ३६ ॥

इति विचिन्त्य पक्षिणः सर्वे जालमादायोत्पतिताः। अनन्तरं स व्याधः सुदूराज्जालापहारकांस्तानवलोक्य। पश्चाद्धावन्नचिंतयत्।

इसप्रकार विचारकर सब पक्षी जाल लेकर उडे। इसके उपरान्त जब उस व्याधने दूरसे देखा कि, वे पक्षी जाल लेकर भागे जाते हैं अर्थात् उडेजाते हैं, तब वह उनके पीछे २ दौडकर इसप्रकारसे विचारने लगा;-

संहतास्तु हरन्त्येते मम जालं विहङ्गमाः।
यदा तु निपतिष्यंति वशमेष्यंति मे तदा॥ ३७॥

ये सब पक्षी मिलकर मेरे जालको लिये भागे जाते है, पर जब ये अवश होकर गिरेंगे तब मेरे वशमें पडेंगे॥ ३७॥

ततस्तेषु चक्षुर्विषयातिक्रांतेषु पक्षिषु स व्याधो निवृत्तः। अथ लुब्धकं निवृत्तं दृष्ट्वा कपोता ऊचुः--'स्वामिन्! किमिदानीं कर्तुमुचितम्'। चित्रग्रीव उवाच-

इसके पीछे जब वे पक्षिगण दृष्टिकी पहुँचसे निकल गये तब वह व्याध लौट गया। इसके उपरान्त व्याधको लौटाहुआ देखकर कबूतर बोले,--'प्रभो! इस समय क्या करना चाहिये?'। चित्रग्रीव बोला;-

'माता मित्रं पिता चेति स्वभावात्त्रितयं हितम्।
कार्यकारणतश्चान्ये भवंति हितबुद्धयः॥ ३८॥

'माता, पिता, मित्र, ये तीनों * स्वभावसेही हित करनेवाले हैं, व और दूसरे लोग किसी कार्यवश हितबुद्धिवाले होतेहै॥ ३८॥

तदस्माकं मित्रं हिरण्यको नाममूषिकराजो गंडकीतीरे चित्रवने निवसति। दंतबलेन सोऽस्माकं पाशांश्छेत्स्यति।' इत्यालोच्य सर्वे हिरण्यकविवरसमीपं गताः। हिरण्यकश्च सर्वदापायशङ्कया शतद्वारं विवरं कृत्वा निवसति।

इसलिये हमारा मित्र हिरण्यक नामक चूहोंका राजा गंडकी नदीके तीर चित्रवनमें वास करता है, वह अपने दांतोंके बलसे हमारे जालबन्धनोको काट डालेगा,। इसप्रकार विचारकर सब हिरण्यकके बिलके निकट गये। हिरण्यक सदा विपद्के भयसे सौ द्वारोंका बिल बनाकर उसमें वास करताथा।

* स्वभावत. अपने यथार्थ मित्रके वश होकर।

अनागतभयं दृष्ट्वा नीतिशास्त्रविशारदः ।
अवसन्मूषिकस्तत्र वृद्धः शतमुखे बिले ॥ ३९ ॥

भावी भयको विचारकर नीतिशास्त्रका विशारद (जाननेवाला) वृद्ध चूहा शतद्वारका बिल बनाय उसके भीतर रहताथा ॥ ३९ ॥

ततो हिरण्यकः कपोतावपातभयाच्चकितस्तूष्णीं स्थितः । चित्रग्रीव उवाच-'सखे हिरण्यक किमस्मान्न संभाषसे'। ततो हिरण्यकस्तद्वचनं प्रत्यभिज्ञाय ससंभ्रमं बहिर्निःसृत्याब्रवीत्- 'आः! पुण्यवानस्मि प्रियसुहृन्मे चित्रग्रीवः समायातः।

हिरण्यक कबूतरोंके गिरनेके शब्दसे चकित हो चुपचाप रहा। चित्रग्रीव बोला, 'सखे हिरण्यक' हमसे क्यों नहीं बोलते ! हिरण्यकभी उसकी यह बात सुन बोल पहँचान हडबडाय कर बाहर आय बोला,-'अहो! मै कैसा पुण्यवान् हूं, हमारे प्रियबन्धु चित्रग्रीव आये है ।

यस्य मित्रेण संभाषा यस्य मित्रेण संस्थितिः ।
यस्य मित्रेण संलापस्ततो नास्तीह पुण्यवान् ॥ ४० ॥

अपने मित्रके साथ जिसका संभाषण है और जो सदा मित्रके साथ रहता है जिसकी वार्तालाप सदा मित्रके साथ होती है, उसकी तुल्य पुण्यवान् संसारमें और कोई नहीं है ॥ ४० ॥

पाशबद्धांश्चैतान्दृष्ट्वा सविस्मयः क्षणं स्थित्वोवाच-'सखे किमेतत्'। चित्रग्रीवोऽवदत्-'सखे अस्माकं प्राक्तनजन्मकर्मणः फलमेतत् ।

वह (हिरण्यक चूहा) उन (कबूतरों), को जालमें बँधा हुआ देखकर क्षणभर तो विस्मित होरहा, फिर उसने पूछा, सखे' यह क्या हुआ?' चित्रग्रीव बोला, 'मित्र' यह हमारे पूर्वजन्मके कर्मका फल है ।

यस्माच्च येन च यथा च यदा च यच्च
यावच्च यत्र च शुभाशुभमात्मकर्म ।
तस्माच्च तेन च तथा च तदा च तच्च
तावच्च तत्र च विधातृवशादुपैति ॥ ४१ ॥

जिस कारणसे, जिस उपायसे, जिस प्रकारसे, जिस समय, जो कोई जितना पाप पुण्य करता है, उसी कारणसे, उसी उपायसे तथा उसी प्रकारसे, उसीसमय, उतनाही फल उसको वहां भाग्यके वश होकर मिलताहै ॥ ४१ ॥'

रोगशोकपरीतापबन्धनव्यसनानि च।
आत्मापराधवृक्षाणां फलान्येतानि देहिनाम् ॥ ४२ ॥

रोग, शोक, संताप, बन्धन, व्यसन (दुःख) यह सब उनके दुष्कृतरूपी वृक्षोके फल है ॥ ४२ ॥'

एतच्छ्रुत्वा हिरण्यकश्चित्रग्रीवस्य बन्धनं छेत्तुं सत्वरमुपसर्पति। चित्रग्रीव उवाच–'मित्र! मामैवम्। अस्मदाश्रितानामेषां तावत्पाशांश्छिन्धि, तदा मम पाशं पश्चाच्छेत्स्यसि'। हिरण्यकोऽप्याह–'अहं चाल्पशक्तिः, दन्ताश्च मे कोमलाः, तदेतेषां पाशांश्छेत्तुं कथं समर्थः। तद्यावन्मे दन्ता न त्रुटयन्ति तावत्तव पाशं छिनाद्मि। तदनन्तरमेषामपि बन्धनं यावच्छक्यं छेत्स्यामि'। चित्रग्रीव उवाच-'अस्त्वेवम्। तथापि यथाशक्त्येतेषां बन्धनं खण्डय'। हिरण्यकेनोक्तम्–'आत्मपरित्यागेन यदाश्रितानां परिरक्षणं तन्न नीतिविदां संमतम्'। यतः-

यह सुनकर हिरण्यक चित्रग्रीवके बन्धन काटनेके लिये शीघ्रतासे आगे बढा। तब चित्रग्रीव बोला,–'मित्र! नहीं नहीं!! ऐसा न करो। तुम पहले हमारे इन सब आश्रित जनोंके बन्धन काटो, हमारे बन्धन पीछे काटना'। हिरण्यक बोला,–'हममें सामर्थ्य थोडीहै और दाँतभी कोमल है, इस कारण मैं इन सबके बन्धन किस प्रकारसे काट सकता हूं, इसलिये जबतक मेरे दाँत नहीं टूटजायँ, तबतक तो तुम्हारे बन्धन काटूं, तिसके पीछे यथाशक्ति इन सबकेभी बन्धन काटूंगा।' चित्रग्रीव बोला;-'यह बात ठीक है, तथापि तुम यथासाध्य इनकेही बन्धन काटो।'

---

१ विधाताके हाथसे। २ अर्थात् अपने कर्मोंके दोषसेही सब यह समस्त दुःख भोग करते है।

हिरण्यक बोला,-'आत्मत्याग*करके आश्रय लेनेवालोंकी रक्षा करना, नीति जाननेवालोंको सम्मति नहीं है, क्योंकि,-

आपदर्थं धनं रक्षेद्दारान्रक्षेद्धनैरपि ।
आत्मानं सततं रक्षेद्दारैरपि धनैरपि ॥ ४३ ॥

आपत्तिके लिये धनको रखावे, धनसे स्त्रियोंकी रक्षा करे, और स्त्री व धनसेभी अधिक सदा अपनी रक्षा करे ॥ ४३ ॥

अन्यच्च--
और भी--

धर्मार्थकाममोक्षाणां प्राणाः संस्थितिहेतवः ।
तान्निघ्नता किं न हतं रक्षता किं न रक्षितम् ॥ ४४ ॥'

धर्म, अर्थ, काम मोक्ष जो कुछभी हैं, इन सबके होनेके हेतु प्राण हैं सो, इनके (प्राणोंके) मारनेवालेने क्या नहीं मारा ? और इसके बचानेवालेने क्या नहीं बचाया ? ॥ ४४ ॥'

चित्रग्रीव उवाच-'सखे ! नीतिस्तावदीदृश्येव। किंत्वहमस्मदाश्रितानां दुःखं सोढुं सर्वथाऽसमर्थः । तेनेदं ब्रवीमि । यतः-

चित्रग्रीव बोला--'मित्र ! नीतिशास्त्रकी कथा ठीक ऐसी ही है किन्तु मैं किसी प्रकारसे अपने आश्रित गणोंका दुःख नहीं देखसकूंगा, इसीलिये ऐसा कहताहूं क्योंकि,--

धनानि जीवितं चैव परार्थे प्राज्ञ उत्सृजेत् ।
सन्निमित्ते वरं त्यागो विनाशे नियते सति ॥ ४५ ॥

दूसरे हितके लिये ज्ञानी पुरुषको अपना धन और जीवन भी त्यागदेना चाहे। विनाश होना अवश्य ठहराया गया है, इसलिये भले जनोंके अर्थ त्याग श्रेष्ठ है ॥ ४५ ॥

अयमपरश्चासाधारणो हेतुः-
और एक असाधारण कारण यह है कि,-

जातिद्रव्यगुणानां च साम्यमेषां मया सह ।
मत्प्रभुत्वफलं ब्रूहि कदा किं तद्भविष्यति ॥ ४६ ॥

* आत्मत्याग—अपना जीवन धन व और किसीके अर्थ त्याग करना।

जाति, द्रव्य, गुणोंमे इन सबकी मेरे साथ बराबरी है, फिर भला मेरी प्रभुताईका फल बतलाओ कि, वह कब और क्या होगा ? ॥ ४६ ॥

अन्यच्च ।

औरभी–

विना वर्तनमेवैते न त्यजन्ति ममान्तिकम् ।
तन्मे प्राणव्ययेनापि जीवयैतान्ममाश्रितान् ॥ ४७ ॥

विना आजीविकाकेभी ये मेरे साथको नहीं छोडते, इसकारण मेरे प्राण–व्यय करकेभी इन मेरे आश्रितोंको बचाओ ॥ ४७ ॥

किंच--

वरन्--

मांसमूत्रपुरीषास्थिनिर्मितेऽस्मिन्कलेवरे ।
विनश्वरे विहायास्थां यशः पालय मित्र ! मे ॥ ४८ ।

मास, मूत्र, विष्ठा और अस्थि इनसे बने हुए नाशवान शरीरमे आशा छोड़कर, हे मित्र ! मेरे यशको पाल ॥ ४८ ॥

अपरं च पश्य–

औरभी देख–

यदि नित्यमनित्येन निर्मलं मलवाहिना ।
यशः कायेन लभ्येत तन्न लब्धं भवेन्नु किम् ॥ ४९ ॥

अनित्य, मलधारी* शरीरसे नित्य निर्मल यश प्राप्त करना, जो वह प्राप्त किया गया, तो फिर क्या नहीं मिलगया ? ॥ ४९ ॥

यतः–

क्योंकि--

शरीरस्य गुणानां च दूरमत्यन्तमन्तरम् ।
शरीरं क्षणविध्वंसि कल्पान्तस्थायिनो गुणाः ॥५०॥'

शरीरका व गुणोका अन्तर (फरक) वहुतही बडा है, शरीर क्षणभरमें विध्वस होजाता है, और गुण प्रलयके समयतक रहनेवाले हैं ॥ ५० ॥'

---

* मलधारी–विष्ठा, मूत्र, श्लेष्मा इत्यादि घिनकारी अपवित्र पदार्थोंकी खानि ।

इत्याकर्ण्य हिरण्यकः प्रहृष्टमनाः पुलकितः सन्नब्रवीत् ‘ साधु मित्र! साधु !! । अनेनाश्रितवात्सल्येन त्रैलोक्यस्यापि प्रभुत्वं त्वयि कपोतानां युज्यते ’। एवमुक्त्वा तेन सर्वेषां बन्धनानि छिन्नानि । ततो हिरण्यकः सर्वान्सादरं संपूज्याह--‘सखे चित्रग्रीव ! सर्वथात्र जालबन्धनविधौ दोषमाशङ्क्यात्मन्यवज्ञा न कर्तव्या ।

इस वचनको सुनकर, हिरण्यक अत्यन्त आनन्दित और पुलकित होकर कहनेलगा--‘ धन्य मित्र ! धन्य!! आश्रित रहनेवालोंके प्रति तुम इस प्रकारकी वात्सल्यताके गुणसे त्रिलोकीके कबूतरोंके अधीश्वर होनेके योग्य हो ’। उसने यह कहकर समस्त कबूतरोंके बन्धन काट डाले । इसके उपरान्त हिरण्यक आदर सन्मान सहित सबकी यथोचित पूजा करके बोला;--‘सखे चित्रग्रीव ! किसी भांतिसे जालमें बन्धनके कार्य पर दोषकी शंका करके तुम कभीभी अपनी निन्दा न करना ।

यतः--
क्योंकि --

योऽधिकाद्योजनशतात्पश्यतीहामिषं खगः ।
स एव प्राप्तकालस्तु पाशबन्धं न पश्यति ॥ ६१ ॥

जो पक्षी शतयोजनकी भी अधिक दूरीसे अपने भक्ष्य मांसको देख लेता है वही काल प्राप्त होनेपर जालके फंदेको नहीं देखता ॥ ६१ ॥

अपरं च--
और भी,--

शशिदिवाकरयोर्ग्रहपीडनं
गजभुजंगमयोरपि बन्धनम् ।
मतिमतां च विलोक्य दरिद्रतां
विधिरहो बलवानिति मे मतिः ॥ ६२ ॥

चन्द्रमा, और सूर्यका ग्रहणसे पीड़ित होना, हाथी और साँपकाभी बन्धनमें पड़ना और मतिमानोकी दारिद्रताको देखकर मेरी ऐसी बुद्धि होतीहे कि, भाग्यही प्रबल है ! * ॥ ५२ ॥

अन्यच्च-

औरभी--

व्योमैकान्तविहारिणोऽपि विहगाः संप्राप्नुवन्त्यापदं।
बध्यन्ते निपुणैरगाधसलिलान्मत्स्याः समुद्रादपि ॥
दुर्नीतं किमिहास्ति किं सुचरितं कः स्थानलाभे गुणः
कालो हि व्यसनप्रसारितकरो गृह्णाति दूरादपि ॥५३॥'

आकाशमे एकान्त विहार करनेवाले पक्षीभी विपद्को प्राप्त होते हैं। चतुर मनुष्य गंभीर जलवाले समुद्रसेभी मछलियोको वांध लेते है । इस संसारमें क्या दुर्नीत है ? क्या सुचरित्र है ? स्थानप्राप्तिमें कौन गुण है ? कालही नाश करनेको दुःखरूप भुजा फैलाये दूरसे पकडलेता है ॥ ५३ ॥'

इति प्रबोध्यातिथ्यं कृत्वालिङ्ग्य च चित्रग्रीवस्तेन संप्रेषितो यथेष्टदेशान्सपरिवारो ययौ। हिरण्यकोऽपि स्वविवरं प्रविष्टः।

हिरण्यक इस प्रकारसे उसको समुझाय बुझाय और अतिथिसत्कार करके भेटपूर्वक विदा देता हुआ। चित्रग्रीव परिवारसाहित इच्छित स्थानको चला गया। हिरण्यकनेभी अपने विलमे प्रवेश किया।

यानि कानि च मित्राणि कर्तव्यानि शतानि च।
पश्य मूषिकमित्रेण कपोता मुक्तबन्धनाः ॥ ५४ ॥

मनुष्यको प्रत्येक जातिके सैकडों मित्र करने उचित है। देखो ! चुहेके मित्र होनेसे कबूतरके बन्धन छूटे ॥ ५४ ॥

अथ लघुपतनकनामा काकः सर्ववृत्तान्तदर्शी साश्चर्यमिदमाह-'अहो हिरण्यक ! श्लाघ्योऽसि । अतोऽहमपि त्वया सह मैत्रीमिच्छामि। अतो मां मैत्र्येणानुग्रहीतुमर्हसि । एतच्छ्रुत्वा हिरण्यकोऽपि विवराभ्यन्तरादाह-'कस्त्वम्'। स ब्रूते-

* इस जगतमें किसीकी चाहे जैसी शक्ति क्यों न हो, यह भाग्यके हाथसे किसी-प्रकार छुटकारा नहीं पासकता।

'लघुपतनकनामा वायसोऽहम्' । हिरण्यको विहस्याह-'का त्वया सह मैत्री । यतः-

इसके पीछे, लघुपतनक नामक कौवा, यह समस्त वृत्तान्त देखकर विस्मित हो चुहेसे कहने लगा-'हे हिरण्यक ! तुम धन्य हो ! मै भी तुम्हारे साथ मित्रता करनेकी इच्छा करता हू' इसलिये हमारे साथ मित्रता स्थापन करके मुझपर अनुग्रह करो, । हिरण्यक भी यह वचन सुन भट्टकहीमेंसे बोला-'भाई ! तुम कौन हो?' कौवा बोला,-'मैं कौआ हूँ, मेरा नाम लघुपतनक है' । यह सुन हिरण्यक हँसकर कहनेलगा -'तुम्हारे सग कहां मित्रता सभव होसकती है ? ' कारण,-

यद्येन युज्यते लोके बुधस्तत्तेन योजयेत् ।
अहमन्नं भवान्भोक्ता कथं प्रीतिर्भविष्यति ॥ ५५ ॥

इस ससारमे जिसका जोड जिसके साथ लगता है, पडितको उचित है कि, उसकेही साथ उसको मिलावे । मैं आपका अन्न (भोजन) आप मेरे भक्षक (खानेवाले) फिर भला प्रीति कैसे होगी ? ॥ ५५ ॥

अपरं च-

औरभी देखो-

भक्ष्यभक्षकयोः प्रीतिर्विपत्तेरेव कारणम् ।
शृगालात्पाशबद्धोऽसौ मृगः काकेन रक्षितः ॥ ५६ ॥'

भक्ष्य (खानेके योग्य) के साथ भक्षक (खानेवाले) की प्रीतिका होना विपत्तिहीका कारण है । शृगालके वचनसे बँधा हुआ मृग कौएसे रक्षा किया गया ॥ ५६ ॥'

ऽब्रवीत-'कथमेतत् ?' हिरण्यकः कथयति-

ने पूछा,-'वह किसप्रकार ?' हिरण्यक कहने लगा-

कथा २.

अस्ति मगधदेशे चम्पकावतीनामारण्यानी, तस्यांचिरान्महता स्नेहेन मृगकाकौ निवसतः । स च मृगः स्वेच्छया भ्राम्यन्हृष्टपुष्टाङ्गः केनचिच्छृगालेनावलोकितः । तं दृष्ट्वा शृगालोऽचिन्तयत् । 'आः ! कथमेतन्मांसं सुललितं भक्षयामि । भवतु

विश्वासं तावदुत्पादयामि'। इत्यालोच्योपसृत्याब्रवीत-'मित्र! कुशलं ते'। मृगेणोक्तम्--'कस्त्वम्'। स ब्रूते-'क्षुद्रबुद्धिनामा जम्बुकोऽहम्। अत्रारण्ये बन्धुहीनो मृतवन्निवसामि। इदानीं त्वां मित्रमासाद्य पुनः सबन्धुर्जीवलोकं प्रविष्टोऽस्मि। अधुना तवानुचरेण मया सर्वथा भवितव्यम्'। मृगेणोक्तम्-'एवमस्तु' ततः पश्चादस्तं गते सवितरि भगवति मरीचिमालिनि तौ मृगस्य वासभूमिं गतौ। तत्र चम्पकवृक्षशाखायां सुबुद्धिनामा काको मृगस्य चिरमित्रं निवसति। तौ दृष्ट्वा काकोऽवदत्-'सखे चित्राङ्ग! कोऽयं द्वितीयः'। मृगो ब्रूते--'जम्बुकोऽयम्। अस्मत्सख्यमिच्छन्नागतः'। काको ब्रूते-'मित्र! अकस्मादागन्तुना सह मैत्री न युक्ता। तथा चोक्तम्-

मगध देशमे चम्पकवती नामक एक वडा वन है। वहाँपर बहुत दिनोसे परम प्रेमसहित एक हरिण और एक काक रहतेथे। एक शृगालने देखा कि'-वह मृग इच्छानुसार विचरण करनेसे दिव्य हृष्ट पुष्ट हुआ है। उस मृगको देखकर शृगालने विचारा,-'अहा! किस उपायसे इसका मधुर मांस भक्षण करूँ'। अच्छा! इसके मनमे विश्वास तो उपजाऊँ'। इसप्रकार कपट रच उसके सन्मुख जाकर बोला -'मित्र! भले तो हो?'। मृग बोला,-'तुम कौन?' शृगाल बोला,-'मैं शृगाल हूँ, मेरा नाम क्षुद्रबुद्धि है। मै इस वनमे बन्धुहीन होकर मरेहुएकी समान रहताहूँ। इस समय तुमको बन्धु पायकर मेरी मृतकदेहमें फिर प्राण आये, इस समय मैं सब-भाँतिसे तुम्हारा सेवक होकर रहूँगा'। मृग बोला,-'तब ऐसाही हो'। इसके उपरान्त मरीचिमाली सूर्य भगवान् छिपगये। तब मृगके साथ २ वह शृगाल भी मृगके वासस्थान पर गमन करता भया। उस स्थानमे मृगका एक बहुत दिनोका मित्र सुबुद्धिनामक कौआ चम्पकवृक्षकी शाखापर वास करता था, उसने दो जनोंको देखकर पूछा,-'सखे मृग! यह दूसरा कौन है?' मृगने कहा,-'यह शृगाल मेरे साथ बन्धुता करनेकी इच्छासे आयाहै'। काक बोला;-'मित्र! अचानक एक आनेवालेसे मित्रता करनी योग्य नही। इसलिये तुमने भला काम नहीं किया। कहाभी है कि.-

अज्ञातकुलशीलस्य वासो देयो न कस्यचित् ।
मार्जारस्य हि दोषेण हतो गृध्रो जरद्गवः ॥ ५७ ॥'

जिस किसीका कुल और स्वभाव न जाना गया हो, उसको निवास करनेका स्थान नही देना चाहिये । कारण कि, बिलावके दोपसे जरद्गवनाम गिद्ध मारा गया ॥ ५७ ॥'

तावाहतुः-'कथमेतत' । ? काकः कथयति-

मृग और शृगालने पूछा,-' यह कैसे ?'। काक बोला,-

कथा ३

अस्ति भागीरथीतीरे गृध्रकूटनाम्नि पर्वते महान्पर्कटीवृक्षः। तस्य कोटरे दैवदुर्विपाकाद्गलितनखनयनो जरद्गवनामा गृध्रः प्रतिवसति । अथ कृपया तज्जीवनाय तद्वृक्षवासिनः पक्षिणः स्वाहारात्किंचित्किंचिदुद्धृत्य ददति , तेनासौ जीवति। शावकरक्षां च करोति । अथ कदाचिद्दीर्घकर्णनामा मार्जारः पक्षिशावकान्भक्षितुं तत्रागतः। ततस्तमायान्तं दृष्ट्वा पक्षिशावकैर्भयार्तैः कोलाहलः कृतः । तच्छ्रुत्वा जरद्गवेनोक्तम्- 'कोऽयमायाति ' । दीर्घकर्णो गृध्रमवलोक्य सभयमाह- 'हा! हतोऽस्मि । यतः ।

गगाजीके किनारे गृध्रकूटनामक पर्वतपर एक बडा भारी पाकरका वृक्ष है ।

तावद्भयस्य भेतव्यं यावद्भयमनागतम् ।
आगतं तु भयं वीक्ष्य नरः कुर्याद्यथोचितम् ॥ ५८ ॥

जबतक विपद् नहीं आनपड़े, तबतक विपद्से भय करना चाहिये, परन्तु जब विपद् आन ही पड़े तब उस विपद्को देख मनुष्यको उचित उपाय करना योग्य है ॥ ५८ ॥

अधुनास्य संनिधाने:पलायितुमक्षमः । तद्यथा भवितव्यं तद्भवतु । तावद्विश्वासमुत्पाद्यास्य समीपमुपगच्छामि' इत्यालोच्योपसृत्याब्रवीत--'आर्य त्वामभिवन्दे'। गृध्रोऽवदत्-'कस्त्वम्'। सोऽवदत--'मार्जारोऽहम्'। गृध्रो ब्रूते--'दूरमपसर। नो चेद्धन्तव्योऽसि मया'। मार्जारोऽवदत--'श्रूयतां तावदस्मद्वचनम्। ततो यद्यहं वध्यस्तदा हन्तव्यः। यतः--

इस समय अत्यन्त निकट आय गया हूँ, इससे अब भागना कठिन है। अब उपस्थितके अनुसार कार्य कियाजाय। विश्वास उत्पन्न कराकर इसके सन्मुख जाऊँ' मनही मन इस प्रकार विचार सन्मुख जायकर कहने लगा;--'हे आर्य ! आपको प्रणाम करताहूँ'। गिद्धने कहा;--'तुम कौन?' उसने कहा;--'मैं बिलाव'। गिद्धने कहा,-'दूर हो, नहीं तो तेरा प्राणसंहार करडालूँगा'। 'बिलाव बोला;--पहले मेरी बात तो सुनलीजिये; तिसके पीछे जो मैं मारडालनेके योग्य हूँ तो मुझको मारडालना! कारण;--

जातिमात्रेण किं कश्चिद्धन्यते पूज्यते क्वचित् ।
व्यवहारं परिज्ञाय वध्यः पूज्योऽथवा भवेत् ॥ ५९ ॥'

जातिमात्रसे कहीं कोई वध किया जाता या पूजा जाता है ? व्यवहारको जानकरही वध करने योग्य या पूजने योग्य होता है ॥ ५९ ॥'

गृध्रो ब्रूते--'ब्रूहि किमर्थमागतोऽसि'। सोऽवदत्-'अहमत्र गङ्गातीरे नित्यस्नायी निरामिषाशी ब्रह्मचारि चान्द्रायणव्रतमाचरंस्तिष्ठामि। यूयं धर्मज्ञानरता विश्वासभूमय इति पक्षिणः सर्वे सर्वदा ममाग्रे प्रस्तुवन्ति। अतो भवद्भ्यो विद्यावयोवृद्धेभ्यो धर्मं श्रोतुमिहागतः, भवन्तश्चैतादृशा धर्मज्ञा यन्मामतिथिं हन्तुमुद्यताः। गृहस्थधर्मश्चैषः--

गिद्धने कहा,-'कह ! तू किसकारणसे आया है ?' बिलाव बोला,-'मैं इस गंगाजीके किनारे रहताहूँ, नित्य स्नान करताहूँ और मांसरहित भोजन करताहूँ, और ब्रह्मचर्य पालन करके चान्द्रायण व्रतका अनुष्ठान करताहूँ । आप धर्मके जाननेवाले और प्रेम व विश्वासके पात्र हैं, पक्षिगण सदाही मेरे निकट आनकर आपका ऐसा गुण कीर्त्तन किया करते हैं। इसकारणसे मैं आपको ज्ञानमें और अवस्थामें बडा जानकर आपके निकट धर्मकथा श्रवण करनेके लिये इस स्थानमें आयाहूँ। किन्तु आप ऐसे धर्मके मर्मको जाननेवाले हैं कि, आये हुए अतिथिकोही मारडालनेके लिये तैयार हुएहैं । शास्त्रमें गृहस्थका धर्म इसप्रकारसे

अपरं च—

औरभी कहाहै कि;—

निर्गुणेष्वपि सत्त्वेषु दयां कुर्वन्ति साधवः।
न हि संहरते ज्योत्स्नां चन्द्रश्चाण्डालवेश्मनः॥ ६३॥

साधुजन निर्गुण जीवोंपरभी दया करते हैं, चन्द्रमा अपनी चांदनी चंडालके घरसेभी नही हरता अर्थात् नहीं खेचलेताहै॥ ६३॥

अन्यच्च—

औरभी—

अतिथिर्यस्य भग्नाशो गृहात्प्रतिनिवर्तते।
स तस्मै दुष्कृतं दत्त्वा पुण्यमादाय गच्छति॥ ६४॥

अतिथि निराश हो जिसके घरसे लौट जाता है, वह उसके अर्थ अपने किये पाप देकर उसके पुण्य लेकर चला जाता है॥ ६४॥

अन्यच्च—

औरभी—

उत्तमस्यापि वर्णस्य नीचोऽपि गृहमागतः।
पूजनीयो यथायोग्यं सर्वदेवमयोऽतिथिः॥ ६५॥'

उत्तम वर्णके घर आयाहुआ नीच अतिथि भी यथायोग्य पूजनीय है क्योंकि, अतिथि सर्वदेवमय है॥ ६५॥'

गृध्रोऽवदत्-'मार्जारो हि मांसरुचिः, पक्षिशावकाश्चात्र निवसन्ति। तेनाहमेवं ब्रवीमि'। तच्छ्रुत्वा मार्जारो भूमिं स्पृष्ट्वा कर्णौ स्पृशति। ब्रूते च—'मया धर्मशास्त्रं श्रुत्वा वीतरागेणेदं दुष्करं व्रतं चान्द्रायणमध्यवासितम्। परस्परं विवदमानानामपि धर्मशास्त्राणाम्—'अहिंसा परमो धर्मः' इत्यत्रैकमत्यम्। यतः—

गिद्धने कहा;—'विलाव मासका खानेवाला होता है, और पक्षियोंके बच्चे इस स्थानमें वास करते हैं। इसीकारणसे मैं ऐसा कहता हूं'। विलावने भी यह बात सुनते ही पृथ्वीको छूकर कानोंमें हाथ दिये और कहा;—'मैंने धर्मशास्त्रको श्रवण कर संसारका त्याग करके यह कठिन चान्द्रायण व्रत ग्रहण किया है। (प्रमाणस्व-

रूप) धर्मशास्त्रोंमे परस्पर मतभेद रहनेपर भी 'अहिंसा परम धर्म है' इस वचनको सबही शास्त्र एकवाक्यतासे स्वीकार करते हैं । क्योकि;--

> सर्वहिंसानिवृत्ता ये नराः सर्वसहाश्च ये ।
> सर्वस्याश्रयभूताश्च ते नराः स्वर्गगामिनः ॥ ६६ ॥

जो मनुष्य सर्वहिंसाओंसे निवृत्त हैं और जो सब कुछ सहनेवाले हैं; जो सब जीवोंको आश्रय देनेवाले हैं, वेही लोग स्वर्गको जाते हैं ॥ ६६ ॥

अन्यच्च-

औरभी देखो-

> एक एव सुहृद्धर्मो निधनेऽप्यनुयाति यः ।
> शरीरेण समं नाशं सर्वमन्यत्तु गच्छति ॥ ६७ ॥

केवल एक धर्मही मित्र है, जो मरनेपरभी साथ जाता है, व और सब कुछ तो शरीरके संगही लय होजाताहै ॥ ६७ ॥

किंच ।

और देखो-

> योऽत्ति यस्य यदा मांसमुभयोः पश्यतान्तरम् ।
> एकस्य क्षणिका प्रीतिरन्यः प्राणैर्विमुच्यते ॥ ६८ ॥

जो जिसके मांसको आहार करता है, उन दोनोंके अन्तरको देखो, एकको तो क्षणभरके लिये सुख होता है परन्तु दूसरा एकवारही अपने प्राणोंसे मारा जाता है ॥ ६८ ॥

अपि च ।

औरभी;-

> मर्तव्यमिति यद्दुःखं पुरुषस्योपजायते ।
> शक्यस्तेनानुमानेन परोऽपि परिरक्षितुम् ॥ ६९ ॥

मरनेका दुःख जो पुरुषको होता है उस दुःखका अनुमान करके पराये प्राणीकी रक्षा भी की जा सकती है ॥ ६९ ॥

शृणु पुनः ।

और सुनो -

---

१ [illegible]

स्वच्छन्दवनजातेन शाकेनापि प्रपूर्य्यते।
अस्य दग्धोदरस्यार्थे कः कुर्यात्पातकं महत् ॥ ७० ॥'

स्वयं वनमे उपजे हुए शाकसे भी उदर पूर्ण किया जाता है, फिर इस जले हुए पेटके निमित्त कौन महापाप करे ? ॥ ७० ॥'

एवं विश्वास्य स मार्जारस्तरुकोटरे स्थितः।

इसप्रकारसे विश्वास उपजाकर बिलाव वृक्षकी कोटरमें वास करने लगा।

ततो दिनेषु गच्छत्सु पक्षिशावकानाक्रम्य कोटरमानीय प्रत्यहं खादति। अथ येषामपत्यानि खादितानि तैः शोकार्त्तैर्विलपद्भिरितस्ततो जिज्ञासा समारब्धा। तत्परिज्ञाय मार्जारः कोटरान्निःसृत्य बहिः पलायितः। पश्चात्पक्षिभिरितस्ततो निरूपयद्भिस्तत्र तरुकोटरे शावकास्थीनि प्राप्तानि। अनन्तरं त ऊचुः–'अनेनैव जरद्गवेनास्माकं शावकाः खादिताः' इति सर्वैः पक्षिभिर्निश्चित्य गृध्रो व्यापादितः। अतोऽहं ब्रवीमि'अज्ञातकुलशीलस्य' इत्यादि। इत्याकर्ण्य स जम्बुकः सकोपमाह–'मृगस्य प्रथमदर्शनदिने भवानप्यज्ञातकुलशील एवासीत्। तत्कथं भवता सहैतस्य स्नेहानुवृत्तिरुत्तरोत्तरं वर्द्धते।

फिर धीरे २ दिन वीतनेलगे और वह (विलाव) भी प्रतिदिन पक्षियोंके बच्चे पकड २ अपने कोटरमें लाय भक्षण करने लगा। अनन्तर उसने जिनके बच्चोंको भक्षण किया वे शोकसे आर्त हो विलाप कर इधर उधर खोजने लगे। विलावभी यह जानकर कोटरसे निकल कर भागा। पीछेसे पक्षियोंने इधर उधर ढूँढते २ उस वृक्षके कोटरमें अपने बच्चोंकी हड्डियां देखीं, इसके उपरान्त वे बोले–'इस जरद्गवनेही हमारे बच्चोंको खाया है'। यह निश्चय कर सब पक्षियोंने एकत्र हो उस गिद्धको मारडाला। इसीलिये मैं कहताहूं कि, 'जिसका कुल शील ज्ञात नहीं उसको आश्रय नहीं देना चाहिये'। यह कथा सुन वह शृगाल क्रोधसे बोला कि,–'जिस दिन तुम्हारे साथ मृगकी प्रथम मित्रता हुई थी उस दिन तुम्हारा भी तो कुल शील नहीं जाना गया था। फिर किसप्रकारसे तुम्हारे साथ इसका स्नेह अबतक बराबर बढताही जाताहै।

यत्र विद्वज्जनो नास्ति श्लाघ्यस्तत्राल्पधीरपि ।
निरस्तपादपे देशे एरण्डोऽपि द्रुमायते ॥ ७१ ॥

जहां सुविज्ञ विद्वान् पुरुष नहीं है, वहां मूर्खभी प्रशंसाके योग्य है, वृक्षहीन देशमें एरंड (अंडी) भी वृक्ष गिना जाताहै ॥ ७१ ॥

अन्यच्च--

और दूसरे--

अयं निजः परो वेति गणना लघुचेतसाम् ।
उदारचरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम् ॥ ७२ ॥

यह अपना है, यह पराया है, यह गणना ओछी बुद्धिवालोंकी है, उदारचरित्रवालोंके तो जगतही कुटुम्ब है ॥ ७२ ॥

यथायं मृगो मम बन्धुस्तथा भवानपि ' । मृगोऽब्रवीत्-'किमनेनोत्तरेण । सर्वैरेव विश्रम्भालापैः सुखिभिः स्थीयताम् । यतः--

और यह मृग जिसप्रकारसे हमारा बन्धु है, वैसेही तुम भी हमारे बन्धु हो' । मृगने कहा - इसप्रकारके उत्तर प्रत्युत्तरसे क्या प्रयोजन है ? आओ हम सबही परस्पर प्रेमकी बात करके सुखको प्राप्त करते हुए निवास करें । क्योंकि,--

न कश्चित्कस्यचिन्मित्रं न कश्चित्कस्यचिद्रिपुः ।
व्यवहारेण मित्राणि जायन्ते रिपवस्तथा ॥ ७३ ॥

न कोई किसीका मित्र है न कोई किसीका शत्रु है, व्यवहारसे ही शत्रु मित्र होते हैं ॥ ७३ ॥

काकेनोक्तम्- एवमस्तु । अथ प्रातः सर्वे यथाभिमतदेशं गताः । एकदा निभृतं शृगालो ब्रूते- सखे अस्मिन्वनैकदेशे सस्यपूर्णक्षेत्रमस्ति । तदहं त्वां नीत्वा दर्शयामि ' । तथा कृते सति मृगः प्रत्यहं तत्र गत्वा सस्यं खादति । ततो दिनकतिपयेन गतेन क्षेत्रपतिना तं दृष्ट्वा पाशो योजितः । अन

* [illegible]

न्तरं पुनरागतो मृगस्तत्र चरन्पाशैर्बद्धोऽचिन्तयत्-'को मामितः कालपाशादिव व्याधपाशात्त्रातुं मित्रादन्यः समर्थः' । तत्रा-न्तरे जम्बुकस्तत्रागत्योपस्थितोऽचिन्तयत्-'फलिता तावद-स्माकं कपटप्रबन्धेन मनोरथसिद्धिः । एतस्योत्कृत्यमानस्य मांसासृग्लिप्तान्यस्थीनि मयाऽवश्यं प्राप्तव्यानि। तानि बाहु-ल्येन भोजनानि भविष्यन्ति' ।स च मृगस्तं दृष्ट्वोल्लासितो ब्रूते-'सखे छिन्धि तावन्मम बन्धनम् । सत्वरं त्रायस्व माम् । यतः-

कौएने फिर कहा;-'ऐसाही हो' । इसके उपरान्त प्रभातकाल होनेपर सबही अपने २ इच्छित स्थानोमे गये । एक दिन शृगालने एकान्तमे मृगसे कहा;-'सखे मृग ! इस वनके एक स्थानमे नाजसे भरापुरा एक खेत है । मैं तुमको संग ले चलकर वह दिखाता हूं' । गीदडके नाजका खेत दिखाने पर मृग प्रति-दिन वहा जाकर नाज खाया करै । इसप्रकारसे कई एक दिन बीत गये, खेतके स्वामीने खेतको खाया हुआ देखकर उस स्थानमे जाल लटका दिया । इसके पीछे मृग फिर वहां आयकर इधर उधर घूमते घूमते जालमे फँसकर विचारने लगा-'मित्रके विना और कौन हमे इस यमके फंदे समान व्याधके जालसे छुट-कारा करानेको समर्थ होगा' । इसी अवसरमे शृगालने वहा पहुँचकर विचारा 'हमारी कपटताका जाल सफल होनेसे हमारे मनोरथकी सिद्धि भली भाँतिसे होगई क्योंकि,-इस मृगको जब काटकूट किया जायगा, तब रुधिर माससे सनीहुई इसकी हड्डियें अवश्यही हम पावेगे जो कि बहुतायतसे भोजन होगे' । (उन्हे बहुत दिनतक खायेगे) और इधर मृग शृगालको देखकर हर्षित हो बोला,-'सखे ! हमारे बन्धनोको काट डालो, शीघ्र हमारी रक्षा करो । कारण,-

आपत्सु मित्रं जानीयाद्युद्धे शूरमृणे शुचिम् ।
भार्यां क्षीणेषु वित्तेषु व्यसनेषु च बान्धवान् ॥ ७४ ॥

विपत् समयमे मित्रको, युद्धमें शूरको, धनके व्यवहारसे खरे पुरुषको, धन नाश होनेपर स्त्रीको, और दुःखमे भाइयोको पहचानना चाहिये ॥ ७४ ॥

अपरं च-

औरभी,-

उत्सवे व्यसने चैव दुर्भिक्षे राष्ट्रविप्लवे ।
राजद्वारे श्मशाने च यस्तिष्ठति स बान्धवः ॥ ७५ ॥'

हर्षमें, शोकमें, दुर्भिक्ष समयमें, राष्ट्रविप्लवमे, राजद्वारमे, मरघटमें जो टिका रहता है, वही बन्धु है ॥ ७५ ॥'

जम्बुको मुहुर्मुहुः पाशं विलोक्याचिन्तयत्-'दृढबन्धनबद्धोस्ति तावदयं मृगः'। ब्रूते च'-सखे ! स्नायुनिर्मिता एते पाशाः । तदद्य भट्टारकवारे कथमेतान्दन्तैः स्पृशामि । मित्र! यदि चित्ते नान्यथा मन्यसे तदा प्रभाते यत्त्वया वक्तव्यं तत्कर्तव्यम्' इत्युक्त्वा तत्समीप आत्मानमाच्छाद्य स्थितः सः। अनन्तरं स काकः प्रदोषकाले मृगमनागतमवलोक्येतस्ततोऽन्विष्यन् तथाविधं दृष्ट्वोवाच-' सखे ! किमेतत् '। मृगेणोक्तम्-' अवधीरितसुहृद्वाक्यस्य फलमेतत् । तथा चोक्तम्-

शृगाल जालकी ओर बारम्बार दृष्टि करके विचारनेलगा कि, 'यह मृग भले कठिन बन्धनमें पड़ा है', इसके उपरान्त बोला,-'मित्र ! यह जाल नाडियों (तांतो) से बना है, इसलिये आज रविवारमें किस प्रकारसे इसको दांतोंसे

स्पर्श, करूं ? मित्र ! तुम इससे और कुछ मत समझलेना। कल प्रातः समय तुम हमसे जो कहोगे सो मैं करूंगा' यह कह उसके पास अपने शरीरको छिपाकर स्थित हुआ। इधर वह कौआ सन्ध्याकालमें मृगको वासस्थानपर न आयाहुआ देखकर इधर उधर उसकी खोज करता २ मृगको इस अवस्थामें पडाहुआ देख कहने लगा;–'मित्र ! यह क्या ?' मृग बोला;–'यह मित्रके वचन न सुननेका फल है ! कहाभी है कि–

सुहृदां हितकामानां यः शृणोति न भाषितम्।
विपत्संनिहिता तस्य स नरः शत्रुनन्दनः ॥ ७६ ॥'

हित चाहनेवाले मित्रोका कहना जो नहीं सुनता, वह मनुष्य विपद्में पडकर अपने शत्रुको आनन्द देता है ॥ ७६ ॥'

काको ब्रूते–'स वञ्चकः क्वास्ते'। मृगेणोक्तम्–'मन्मांसार्थी तिष्ठत्यत्रैव'। काको ब्रूते–'उक्तमेव मया पूर्वम्।

कौएने कहा–'वह जालिया कहाँ है ?' मृगने कहा–'मेरे मासके खानेकी इच्छा किये वह इसी स्थानमें है'। कौआ बोला;–'मित्र ! मैंने तो पहलेही कहाथा।

अपराधो न मेऽस्तीति नैतद्विश्वासकारणम्।
विद्यते हि नृशंसेभ्यो भयं गुणवतामपि ॥ ७७ ॥

यह मेरा अपराध नहीं है, यहभी विश्वासका कारण नहीं है, गुणवान् पुरुषोकोभी हिंसकोंसे भय होताही है * ॥ ७७ ॥

---

* इस श्लोककेही आगे किसी २ पुस्तकमे निम्नलिखित श्लोक अधिक है इस स्थानमे उसका अनुवादभी दियागया,–

श्लोक–दीपनिर्वाणगन्धं च सुहृद्वाक्यमरुन्धतीम्। न जिघ्रन्ति न शृण्वन्ति न पश्यन्ति गतायुषः ॥ १ ॥

अनुवाद–गतायुष जिनकी उमर बीतचुकी है वे लोग दीपकके बुझानेकी गन्धिको नहीं सूंघते, मित्रके वचनको श्रवण नही करते, और अरुन्धतीतारे (वसिष्ठजीकी स्त्रीका नाम) को नही देखते है ॥

इसका तात्पर्य यह है कि,–मन, बुद्धि इत्यादि भीतरी इन्द्रियोके अत्यन्त चल विचल होजानेहीसे मनुष्य हितकारीके वचनोको नहीं मानता। आख, कान इत्यादि बाहरी इन्द्रियोंके चलायमान होजानेसे मनुष्य इतने बडे प्रकाशमान अरुन्धतीतारेको नहीं देखपाता, और दीपक बुझानेकी अत्यन्त तीव्र गन्धकाभी अनुभव नही करसकता है। बस इन सब इन्द्रियोंका चल विचल होजानाही मृत्युके होनेका पूर्वलक्षण है।

परोक्षे कार्यहन्तारं प्रत्यक्षे प्रियवादिनम् ।
वर्जयेत्तादृशं मित्रं विषकुम्भं पयोमुखम् ॥ ७८ ॥'

पीछेमे कार्यके नाशकारी, सन्मुख प्यारे वचन बोलनेवाले मित्रको दूध
वाले विषके घडेकी समान त्याग दे ।' जिसमे ऊपर थोडासा दूध हो, और
विष भरा हो ऐसे घडेका यहा वर्णन है) ॥ ७८ ॥'

ततः काको दीर्घं निःश्वस्य ' अरे वञ्चक किं त्वया प
कर्मणा कृतम् । यतः-

इसके उपरान्त कौएने लम्बी श्वास लेकर कहा,--' अरे पापी जालिये !
कैसा कुकर्म किया ' कारण,--

दुष्टके साथ शत्रुता, मित्रता इन दोनोहीके करनेसे अनिष्ट होता है, क्योंकि -अग्निमय अंगार तो हाथको जलाता है. और यही शीतल होनेपरभी हाथको काला करता है ॥ ८१ ॥

अथवा स्थितिरियं दुर्जनानाम्।

अथवा दुर्जन लोगोंका स्वभावही यही है कि-

प्राक्पादयोः पतति खादति पृष्ठमांसं
कर्णे कलं किमपि रौति शनैर्विचित्रम्।
छिद्रं निरूप्य सहसा प्रविशत्यशङ्कः
सर्वं खलस्य चरितं मशकः करोति ॥ ८२ ॥

प्रथम चरणपर बैठता है, पीठके मासको खाता है, कानमे कुछ "गुनर" चैत्र विचित्र और मधुर वचन धीरे २ बोलता है, छिद्र पाकर उसमे सहसा शंकारहित होकर प्रवेश करताहै। इसप्रकारसे सबही खलके चरित्र मच्छर करताहै * ॥ ८२ ॥

दुर्जनः प्रियवादी च नैतद्विश्वासकारणम्।
मधु तिष्ठति जिह्वाग्रे हृदि हालाहलं विषम् ॥ ८३ ॥'

दुष्टका प्रियवादी होना विश्वासका कारण नही, क्योंकि उसकी जीभपर मधु रहताहै, और हृदयमे हालाहल विष ॥ ८३ ॥'

अथ प्रभाते क्षेत्रपतिर्लगुडहस्तस्तं प्रदेशमागच्छन्काकेनावलोकितः। तमालोक्य काकेनोक्तम्—'सखे! मृग! त्वमा-

* मच्छर ठीक २ खल जनकी चाल चलताहै। दुष्टजन अपना मतलब निकालनेके लिये लोगोके पैरोंपर गिरताहै। मच्छरभी पॉवके ऊपर बैठताहै। "पीठका मांस खाताहै" अर्थात् खल पीछे जाकर किसीसे चुगली करता और अनिष्टकी चेष्टा करता है। लोगोकी पीठमे अर्थात् उनके न होनेपर (असाक्षात्मे) निन्दा और बुरा करताहै। इसलिये खलका एक नाम 'पृष्ठमांसादक' है। मच्छरभी पीठपर ददोरा डालकर रुधिरपान करताहै। खल अपनी दुरभिसन्धि सिद्ध करनेके लिये लोगोके कानोंमें अनेकप्रकार कपटसे भरीहुई मीठी बातें करताहै। मच्छरभी रुधिर पीनेसे पहले 'गुन-गुन' शब्द कानके निकट निकट किया करता है। 'छिद्र' अर्थात् सुअवसर पानेही खल, लोगोके मनोंमे अधिकार पाय निर्भय हो उनका अनिष्ट करताहै। मच्छरभी 'मसेरी' के किसी स्थानमे जरासा छेद पातेही उसमे निर्भय हो प्रवेश करताहै।

त्मानं मृतवत्संदर्श्य वातेनोदरं पूरयित्वा पादांस्तब्धीकृत्य तिष्ठ। यदाहं शब्दं करोमि तदा त्वमुत्थाय सत्वरं पलायिष्यसे'। मृगस्तथैव काकवचनेन स्थितः। ततः क्षेत्रपतिना हर्षोत्फुल्ललोचनेन तथाविधो मृग आलोकितः। 'आः! स्वयं मृतोऽसि' इत्युक्त्वा मृगं बन्धनान्मोचयित्वा पाशान्ग्रहीतुं सयत्नो बभूव। ततः कियद्दूरेऽन्तरिते क्षेत्रपतौ स मृगः काकस्य शब्दं श्रुत्वा ससंभ्रमः समुत्थाय पलायितः। तमुद्दिश्य तेन क्षेत्रपतिना क्षिप्तेन लगुडेन शृगालो व्यापादितः तथा चोक्तम्--

इसके उपरान्त प्रभात होनेपर कौएने देखा कि, वह खेतका मालिक लाठं हाथमें लिये उस स्थानमें आरहाहै। उसको आताहुआ देखकर कौएने कहा,- 'सखे मृग ! तुम अपने उदर फुलाय, पाव अकडाय, अपनेको ठीक मृतकके समान दिखायकर पडे रहो। जब मैं शब्द करूं, तब तुम शीघ्र उठकर भागजाना'। मृग कौएके कहनेसे ठीक वैसेही पडा रहा। इसके उपरान्त खेतका स्वामी आनंदसे आंखोंको विकसाय मृगको ऐसी अवस्थामें देखता भया। मृगको इस प्रकारसे देखकर बोला—'अहह ! मृग तू तो अपने आपही मरगया'। यह कह मृगको बन्धनसे छोड, जाल समेट लेनेको यत्नवान् हुआ। खेतके स्वामीके कुछ दूर जातेही वह मृग कौएका शब्द सुन शीघ्र उठकर भागा। खेतके स्वामीने उस मृगको ताककर क्रोधसे लाठी छोडी, उस लाठीको शृगालके शरीर पर पडनेसे शृगालने प्राणत्याग किया कहाभी है कि,—

त्रिभिर्वर्षैस्त्रिभिर्मासैस्त्रिभिः पक्षैस्त्रिभिर्दिनैः।
अत्युत्कटैः पापपुण्यैरिहैव फलमश्नुते ॥ ८४ ॥

तीन वर्षमें, तीन महीनेमें, तीन पक्षमें, तीन दिनमें बडे भारी पाप पुण्यका फल मनुष्य इस लोकमेंही भोगता है ॥ ८४ ॥

अतोऽहं ब्रवीमि— 'भक्ष्यभक्षकयोः प्रीतिः' इत्यादि। काकः पुनराह—

इसीसे मैं कहताहूं कि— अन्न और खानेवालेकी जो प्रीति है वह अनर्थका मूल है। कौएने फिर कहा —

'भक्षितेनापि भवता नाहारो मम पुष्कलः ।
त्वयि जीवति जीवामि चित्रग्रीव इवानघ ॥ ८५ ॥

'तुम्हारे भक्षण करनेसेभी मेरा भलीभाँति भोजन नहीं होसकता, हे द्वेषरहित! मैं चित्रग्रीवकी नाई तेरे जीनेसे जीता हूं ॥ ८५ ॥

अन्यच्च-

और भी,-

तिरश्चामपि विश्वासो दृष्टः पुण्यैककर्मणाम् ।
सतां हि साधुशीलत्वात्स्वभावो न निवर्तते ॥ ८६ ॥

पक्षियोंका विश्वास भी देखागया, एक पुण्यकर्म करनेवाले श्रेष्ठोका स्वभाव साधु शील होनेसे नहीं बदलता ॥ ८६ ॥

किंच-

और भी-

साधोः प्रकोपितस्यापि मनो नायाति विक्रियाम् ।
न हि तापयितुं शक्यं सागराम्भस्तृणोल्कया ॥८७ ॥'

क्रोधकरानेपरभी साधुका चित्त विकारको नहीं प्राप्त होता, फूसकी आग समुद्रके जलको नहीं तपा सकती ॥ ८७ ॥'

हिरण्यको ब्रूते-'चपलस्त्वम् । चपलेन सह स्नेहः सर्वथा न कर्तव्यः । तथा चोक्तम्-

हिरण्यकने कहा,-'तुम चपल स्वभाव हो चपलके साथ प्रीति करनी उचित नहीं ऐसा कहा भी है कि,-

मार्जारो महिषो मेषः काकः कापुरुषस्तथा ।
विश्वासात्प्रभवन्त्येते विश्वासस्तत्र नोचितः ॥ ८८ ॥

बिलाव, भैंसा, मेंढा, काक, कायर पुरुष यह विश्वाससे स्वामिता करते हैं इनपर विश्वास करना उचित नहीं ॥ ८८ ॥

किं चान्यत् शत्रुपक्षो भवानस्माकम् । उक्तं चैतत्—

और देखो,-तुम हमारे शत्रुकी ओरके हो । कहा भी है,-

शत्रुणा न हि संदध्यात्सुश्लिष्टेनापि संधिना ।
सुतप्तमपि पानीयं शमयत्येव पावकम् ॥ ८९ ॥

दृढ संधिवाले शत्रुसे भी मिलाप करना उचित नहीं, कारण कि, बहुत ग
जलभी अग्निको बुझाही देताहै ॥ ८९ ॥

दुर्जनः परिहर्तव्यो विद्ययालङ्कृतोऽपि सन् ।
मणिना भूषितः सर्पः किमसौ न भयंकरः ॥ ९० ॥

विद्याने भूषित हुआ भी दुर्जन निवारण करनेके योग्य नहीं है ?
मणिसे शोभायमान सर्प भयंकर नहीं होता ? ॥ ९० ॥

॥

* मट्टीके घड़ेकी समान दुर्जन सहजहीसे तोडनेके योग्य होता है, और कठिनतासे मिलनेवाला होताहै और सज्जन तो सोनेके घड़ेकी समान कठिनतासे टूटता और शीघ्र सन्धिके योग्य होताहै ॥ ९३ ॥

किंच–

औरभी,–

द्रवत्वात्सर्वलोहानां निमित्तान्मृगपक्षिणाम् ।
भयाल्लोभाच्च मूर्खाणां संगतं दर्शनात्सताम् ॥ ९४ ॥

गलनेहीसे धातुका मेल धातुसे होताहै, मृग पक्षियोका मेल निमित्तके वशसेही होताहै, भय या लोभसे मूर्खगणोंका मेल होता है और श्रेष्ठोंका मेल दर्शनसेही होजाताहै ॥ ९४ ॥

किंच ।

औरभी–

नारिकेलसमाकारा दृश्यंते हि सुहृज्जनाः ।
अन्ये बदरिकाकारा बहिरेव मनोहराः ॥ ९५ ॥

नारियलके फलकी समान साधुओंका रूप (बाहर चटक नहीं पर भीतर सार होता है) दिखाई देता है । बेरोंकी समान कुमित्र होते हैं जिनका रूप केवल बाहरसेही मनोहर होता है ॥ ९५ ॥

एतज्ज्ञात्वा सतां संगतिरिष्यते ।

यही समझकर सब कोई साधुसंग प्राप्त करनेकी इच्छा करते हैं । कारण;–

स्नेहच्छेदेऽपि साधूनां गुणा नायान्ति विक्रियाम् ।
भङ्गेऽपि हि मृणालानामनुबध्नन्ति तन्तवः ॥ ९६ ॥

---

* मट्टीका बरतन जिसप्रकार शीघ्र टूटजाता है, और टूटजानेपर फिर उसमें जोड नहीं लगता, दुर्जनके संगमें मित्रताभी ऐसीही है, क्योंकि यह मित्रता अल्प कारणसेही टूट जातीहै, और टूटनेपर फिर मिलना दुर्घट है । और सोनेका बर्तन जिसप्रकार सहजसे टूटता नहीं और जो टूटताभी है तो सहजसेही जोडलिया जाताहै; सुजनके संगमें मित्रताभी ऐसीही है. यह मित्रता सहजसे नहीं टूटती, और जो टूटतीभी है तो सहजहीसे जुटजाती है ।

प्रीति टूटजानेपरभी श्रेष्ठोंके गुण विकारको नहीं प्राप्त होते, कारण कि टूटजानेपरभी * मृणालके सूत उसके संगमें लगे रहते हैं ॥ ९६ ॥

अन्यच्च-

औरभी:--

शुचित्वं त्यागिता शौर्यं सामान्यं सुखदुःखयोः ।
दाक्षिण्यं चानुरक्तिश्च सत्यता च सुहृद्गुणाः ॥ ९७ ॥

शुद्धचित्त, दाता, सत्यशील, सरल, उदार, अनुरागी, शूर सुख दुःखमें समान, ये सब मित्रोंके गुण हैं ॥ ९७ ॥

एतैर्गुणैरुपेतो भवदन्यो मया कः सुहृत्प्राप्तव्यः ' इत्यादि तद्वचनमाकर्ण्य हिरण्यको बहिर्निःसृत्याह-'आप्यायितोऽहं भवतामनेन वचनामृतेन । तथा चोक्तम्—

तुम्हारे सिवाय इन सब गुणोंमे विभूषित मित्र मैं और कहां पाऊंगा' उसके यह वचन सुनकर हिरण्यकने बिलमे बाहर आकर कहा;--'मैं तुम्हारे इस वचनामृतको पान करके पुष्ट हुआ । इस प्रकार कहाभी है कि--

घर्मार्तं न तथा सुशीतलजलैः स्नानं न मुक्तावली
न श्रीखण्डविलेपनं सुखयति प्रत्यङ्गमप्यर्पितम् ।
प्रीत्यै सज्जनभाषितं प्रभवति प्रायो यथा चेतसः
सद्युक्त्या च पुरस्कृतं सुकृतिनामाकृष्टिमन्त्रोपमम् ९८॥

धूपसे सतायेको न सुन्दर शीतल जलमें नहाना, न मोतीकी माला, और न प्रतिअंगमें चन्दनका लेप वैसा सुखद होता है जैसा कि हर्षके अर्थ पुण्यात्माजनोंके मनका आकर्षणमन्त्ररूप भली युक्तिसे शोभित सज्जनोंका वचन सुखदाई होता है ॥ ९८ ॥

अन्यच्च-

औरभी कहा है कि --

रहस्यभेदो याच्ञा च नैष्ठुर्यं चलचित्तता ।
क्रोधो निःसत्यता द्यूतमेतन्मित्रस्य दूषणम् ९९ ॥

* [illegible]

भदका प्रगट करना, मागना, निठुरता, चित्तकी चंचलता, क्रोध, झूठ बो-लना, जुआ खेलना ये मित्रके दूषण हैं ॥ ९९ ॥

अनेन वचनक्रमेण तदेकदूषणमपि त्वयि न लक्ष्यते । यतः-

इन शास्त्रके वचनोमें जो दोप कहे हैं, उनमेका एकभी दोष मैं तुम्हारेम नहीं देखता । कारण,--

पटुत्वं सत्यवादित्वं कथायोगेन बुध्यते ।
अस्तब्धत्वमचापल्यं प्रत्यक्षेणावगम्यते॥ १०० ॥

चतुरता, सत्य बोलना कथाके प्रसगसे जान लियाजाताहै, और दर्शनसे नम्रता और धीरता जानी जाती है ॥ १०० ॥

अपरं च--

औरभी,--

अन्यथैव हि सौहार्दं भवेत्स्वच्छान्तरात्मनः ।
प्रवर्ततेऽन्यथा वाणी शाठ्योपहतचेतसः ॥ १०१ ॥

शुद्धचित्तवालोंकी मित्रता औरही भाँतिकी होती है, और शठतासे जिसका चित्तनाश होगया, उसकी वाणी औरही प्रकारकी होती है ॥ १०१ ॥

मनस्यन्यद्वचस्यन्यत्कार्यमन्यद् दुरात्मनाम् ।
मनस्येकं वचस्येकं कर्मण्येकं महात्मनाम् ॥ १०२ ॥

दुष्टके मनमे कुछ और वचनमें कुछ और कार्यमे कुछ औरही होता है । महात्माके मनमेंभी एक, वचनमेंभी एक और कार्यमे भी एकही होताहै । (भिन्न-रूप नही होता) ॥ १०२ ॥

तद्भवतु भवतोऽभिमतमेव ' इत्युक्त्वा हिरण्यको मैत्र्यं विधाय भोजनविशेषैर्वायसं संतोष्य विवरं प्रविष्टः । वायसोऽपि स्वस्थानं गतः । ततःप्रभृति तयोरन्योन्याहारप्रदानेन कुशलप्रश्नैर्विश्रम्भालापैश्च कियान् कालोऽतिवर्तते ।

इसलिये तुम्हाराही मनोरथ पूर्ण हो ' यह कह हिरण्यक मित्रता स्थापनकर उत्तम भोजन करनेकी सामग्रीसे कौएको संतुष्टकर अपने बिलमें प्रवेश करता भया। काकभी अपने स्थानको चलागया । तबसे उन दोनोंका परस्पर भोजन देते. कुशल सम्भाषण और प्रेमालाप करते इसप्रकारसे कुछ समय बीतगया ।

एकदा लघुपतनको हिरण्यकमाह-'सखे! हिरण्यक! कष्टतरलभ्याहारमिदं स्थानम्। तदेतत्परित्यज्य स्थानान्तरं गन्तुमिच्छामि'। हिरण्यको ब्रूते-'मित्र क्व गन्तव्यम्। तथा चोक्तम्-

एक समय लघुपतनकने हिरण्यकसे कहा,-'मित्र! हिरण्यक! इस स्थानमें भोजन मिलना कठिन है, इस कारण यह स्थान त्यागकर मैं दूसरे स्थानपर जानेकी इच्छा करता हूं'। हिरण्यकने कहा,-'मित्र! कहां जाओगे? यह कहा है कि,-

स्थानभ्रष्टा न शोभन्ते दन्ताः केशा नखा नराः।
इति विज्ञाय मतिमान्स्वस्थानं न परित्यजेत॥ १०३॥'

स्थान छूट जानेपर दांत, केश, नख और नर शोभित नहीं होते, यह जानकर बुद्धिमान्को अपना स्थान नहीं छोडना चाहिये॥ १०३॥'

काको ब्रूते-'मित्र कापुरुषस्य वचनमेतत। यतः-

कौएने कहा,-'मित्र! यह कायर पुरुषोंकी बात है, क्यों कि,-

स्थानमुत्सृज्य गच्छन्ति सिंहाः सत्पुरुषा गजाः।
तत्रैव निधनं यान्ति काकाः कापुरुषा मृगाः॥ १०४॥

सिंह, श्रेष्ठ पुरुष हाथी ये स्थान छोडकर चले जाते हैं। और काक, कायर पुरुष, और मृग वहीं अपने स्थानपर मरते हैं॥ १०४॥

अन्यच्च-

और भी कहा है,-

को वीरस्य मनस्विनः स्वविषयः को वा विदेशः स्मृतो
यं देशं श्रयते तमेव कुरुते बाहुप्रतापार्जितम्।
यद्दंष्ट्रानखलांगुलप्रहरणः सिंहो वनं गाहते

बुद्धिमान् एक पावसे चलता है व एक पावसे स्थित रहता है, विना दूसरे स्थानके देखे पहला स्थान नहीं छोडना चाहिये ॥ १०६ ॥

अस्ति सुनिरूपितस्थानम्'। हिरण्यकोऽवदत्–'किं तत्'। वायसो ब्रूते–'अस्ति दण्डकारण्ये कर्पूरगौराभिधानं सरः। तत्र चिरकालोपार्जितः प्रियसुहृन्मे मन्थराभिधानः सहजधार्मिकः प्रतिवसति। यतः–

कौएने कहा–मित्र! एक भलीभांतिसे देखाभाला हुआ स्थान है'। हिरण्यकने कहा, 'वह स्थान कौन है?' कौएने कहा:-' दंडकारण्यमें कर्पूरगौरनामक एक सरोवर है वहांपर हमारा बहुत कालका किया हुआ प्रियबन्धु मन्थरनामक एक कच्छप है। वह स्वभावसेही अति धार्मिक है। देखो,–

परोपदेशे पाण्डित्यं सर्वेषां सुकरं नृणाम्।
धर्मे स्वीयमनुष्ठानं कस्यचित्तु महात्मनः॥ १०७॥

पराये उपदेशमें सब मनुष्योंकी पंडिताई सहज है, आपभी धर्मका अनुष्ठान करना किसी विरलेही महात्मामे होता है ॥ १०७ ॥

स च भोजनविशेषैर्मां संवर्धयिष्यति'। हिरण्यकोऽप्याह–'तत्किमत्रावस्थाय मया कर्तव्यम्। यतः–

वह विविध प्रकारकी श्रेष्ठ भक्ष्य सामग्रीसे मेरा प्रतिपालन करेगा'। हिरण्यकने कहा.–'इस स्थानमेभी रहकर क्या करूगा? क्योंकि,–

यस्मिन्देशे न संमानो न वृत्तिर्न च बान्धवः।
न च विद्यागमः कश्चित्तं देशं परिवर्जयेत्॥ १०८॥

जिस देशमे न सम्मान है, न आजीविका है, न बन्धुजन है, न कुछ विद्याकी प्राप्ति है, उस देशको त्यागदेना चाहिये ॥ १०८ ॥

अपरं च–

सौरभी.–

धनिकः श्रोत्रियो राजा नदी वैद्यस्तु पञ्चमः।
पञ्च यत्र न विद्यन्ते न तत्र दिवसं वसेत्॥ १०९॥

धनी, राजा, नदी, वैद्य, वेदका जाननेवाला ब्राह्मण यह पाँच जहाँ न हों वहाँ एक दिनभी वास नहीं करना योग्य है ॥ १०९ ॥

लोकयात्रा भयं लज्जा दाक्षिण्यं त्यागशीलता।
पञ्च यत्र न विद्यन्ते न कुर्यात्तत्र संस्थितिम् ॥ ११०

मनुष्योंका आना जाना, भय, लज्जा, सरलता, दान जिस स्थानपर यह नहीं उस स्थानपर भी न ठहरै ॥ ११० ॥

तत्र मित्र! न वस्तव्यं यत्र नास्ति चतुष्टयम्।
ऋणदाता च वैद्यश्च श्रोत्रियः सजला नदी ॥ १११

हे मित्र! वहांपर भी नहीं बसै जहांपर ये चार न हो,--ऋणका देनेवाला, और पंडित और जलवाली नदी ॥ १११ ॥

ततो मामपि तत्र नय'। वायसोऽवदत्--'एवमस्तु'। अ वायसस्तेन मित्रेण सह विचित्रालापैः सुखेन तस्य सर समीपं ययौ। ततो मन्थरो दूरादवलोक्य लघुपतनक यथोचितमातिथ्यं विधाय मूषिकस्यातिथिसत्कारं चकार यतः--

इसलिये मुझेभी वहां लेचल'। कौएने कहा,--'अच्छा तुमभी चलो'। उ उपरान्त कौआ उस बन्धुके साथ अनेक कथा वार्त्ता कहता परमसुखसे सरोवरके निकट गमन करता भया। इसके उपरान्त मन्थर दूरसे लघुपतन देखकर उठा और उसकी यथोचित पहुनई करके मूषक (चूहे) कीभी अ थिसत्कार किया कारण--

गुरुरग्निर्द्विजातीनां वर्णानां ब्राह्मणो गुरुः।
पतिरेको गुरुः स्त्रीणां सर्वस्याभ्यागतो गुरुः ॥ ११२

द्विजातियोंका गुरु अग्नि है और सब वर्णोंका गुरु ब्राह्मण है, स्त्रियोंका केवल पति है और सबका गुरु अभ्यागत है ॥ ११२ ॥

वायसोऽवदत्--'सखे मन्थर! सविशेषपूजामस्मै विधेहि। यतोऽयं पुण्यकर्मणां धुरीणः कारुण्यरत्नाकरो हिरण्यकनामा

मूषिकराजः। एतस्य गुणस्तुतिं जिह्वासहस्रद्वयेनापि सर्पराजो न कदाचित्कथयितुं समर्थः स्यात्' इत्युक्त्वा चित्रग्रीवोपाख्यानं वर्णितवान्। ततो मन्थरः सादरं हिरण्यकं संपूज्याह—'भद्र ! आत्मनो निर्जनवनागमनकारणमाख्यातुमर्हसि'। हिरण्यकोऽवदत्। 'कथयामि—श्रूयताम्—

कौएने कहा,—'मित्र मथर ! इसका अधिक सन्मान कर; कारण कि, यह पुण्यात्मा लोगोका अगुआ दयाका समुद्र चुहोका राजा है। सर्पराज शेष दो हजार भी जीभोसे इसके गुण वर्णन नहीं कर सकते है इसमे सन्देह नही—यह कहकर चित्रग्रीववाला समस्त वृत्तान्त वर्णन किया। इसके पीछे मन्थरने आदर सहित हिरण्यककी पूजा करके कहा—'हे महाशय ! अपने इस निर्जनवनमे आनेका कारण अनुग्रहपूर्वक कहिये'। हिरण्यकने कहा,—'कहताहूं सुनो—

कथा ४.

अस्ति चम्पकाभिधानायां नगर्यां परिव्राजकावसथः। तत्र चूडाकर्णो नाम परिव्राट् प्रतिवसति। स च भोजनावशिष्टभिक्षान्नसहितं भिक्षापात्रं नागदन्तकेऽवस्थाप्य स्वपिति। अहं च तदन्नमुत्प्लुत्य प्रत्यहं भक्षयामि। अनन्तरं तस्य प्रियसुहृद्वीणाकर्णो नाम परिव्राजकः समायातः। तेन सह कथाप्रसंगावस्थितो मम त्रासार्थं जर्जरवंशखंडेन चूडाकर्णो भूमिमताडयत्। तद्दृष्ट्वा वीणाकर्ण उवाच—'सखे ! किमिति मम कथाविरक्तोऽन्यासक्तो भवान्।

चम्पक नगरमें * परिव्राजक लोगोका एक आश्रम है। वहापर चूडाकर्ण-

---

* जो सर्वकर्मत्यागी, भिक्षाकी जीविका करनेवाले और ब्रह्मनिष्ठ होतेहै, जो स्त्री नहीं रखते, हिंसामे अलग रहते. दुःख सुखमे समानभावसे रहकर विकारको प्राप्त नहीं होते, जो बाहर भीतरसे शुद्ध रहते, जो समस्त इन्द्रियोको वशमे करके ध्यानयोग किया करते, और जिनके चित्तका भाव सपूर्ण निर्मल रहताहै, उन्हीं लोगोको 'परिव्राजक' 'परिव्राट्' अथवा 'सन्यासी' कहतेहै। कहाभी है—
"सर्वारम्भपरित्यागो भैक्ष्याशा ब्रह्ममूलता। निष्परिग्रहताऽद्रोहः समता सर्वजन्तुषु॥
प्रियाप्रियपरिष्वंगे तुल्यदुःखाविकारिता। सबाह्याभ्यन्तरं शौचं सुखदुःखाविकारिता॥
सर्वेन्द्रियसमाहारो धारणाध्याननित्यता। भावसंशुद्धिरित्येष परिव्राड्धर्म उच्यते॥"
(गरुडपुराणम्)

नामक एक सन्यासी वास करता है। वह भोजनसे बचे हुए भिक्षाके अन्नसहित भिक्षाकी झोलीको * नागदन्तमें लटकाकर शयन करता था। मैंभी कूद कर-कर प्रतिदिन उस अन्नको खाता था। इसके पीछे एक दिन उसका प्रियबन्धु वीणाकर्णनामक एक सन्यासी वहांपर आया। चूडाकर्ण उसके साथ कथा वार्त्ताके प्रसगमें रहा पर वह मुझको भय दिखानेके लिये पुराने बांसके टुकडेसे पृथ्वीपर प्रहार करने लगा। इसे देखकर वीणाकर्णने कहा,-'हे मित्र, तुम हमारी बातसे विरक्त होकर दूसरीमें आसक्त क्यो होतेहो?

यतः-

कारण,-

> मुखं प्रसन्नं विमला च दृष्टिः
> कथानुरागो मधुरा च वाणी।
> स्नेहोऽधिकः सम्भ्रमदर्शनं च
> सदानुरक्तस्य जनस्य लक्ष्म ॥ ११३ ॥

प्रसन्न मुख, विमल दृष्टि, कथामें अनुराग, मधुरवाणी, स्नेहकी अधिकता, आदरसहित देखना यह सदा अनुरागी जनके लक्षण हैं ॥ ११३ ॥

> अतुष्टिदानं कृतपूर्वनाशन
> ममाननं दुश्चरितानुकीर्त्तनम्।
> कथाप्रसंगेन च नामविस्मृति-
> र्विरक्तभावस्य जनस्य लक्षणम्' ॥ ११४ ॥

असन्तुष्ट होकर दान देना, किये हुए कर्मका हरना, निरादर करना, दोषोंका कहना, कथाके प्रसगमें नामका भूल जाना यह विरक्तभावयुक्त जनके लक्षण हैं ॥ ११४ ॥'

चूडाकर्णेनोक्तम्-'मित्र! नाहं विरक्तः। किंतु पश्यायं मूषिको ममापकारी सदा पात्रस्थं भिक्षान्नमुत्प्लुत्य भक्षयति'। वीणा-

र्णो नागदन्तकं विलोक्याह-'कथं मूषिकः स्वल्पबलोऽप्ये-तावद्दूरमुत्पतति । तदत्र केनापि कारणेन भवितव्यम् । तथा चोक्तम्-

चूड़ाकर्णने कहा;--'मित्र ! मै विरक्त नहीं हू परन्तु देख ! यह चूहा मेरा वडा अनिष्ट करता है; यह कूद २ कर मेरी झोलीमें रक्खाहुआ भिक्षाका अन्न खाता है' । वीणाकर्णने खूटीको देखकर कहा,--'यह मूसा तो अति दुर्वल जीव है, यह किस प्रकारसे इतनी दूर कूदता है; इस लिये इसमे कोई कारण होगा । कहाभी है कि,-

अकस्माद्युवती वृद्धं केशेष्वाकृष्य चुम्बति ।
पतिं निर्दयमालिग्य हेतुरत्र भविष्यति ॥ ११५ ॥'

अकस्मात् युवती वृद्ध पतिको केशोंमें आकर्षण करके चूमती है और भली भाति चिपटाती है इसमे कोई कारण होगा ? ॥ ११६ ॥

चूडाकर्णः पृच्छति-'कथमेतत्' । वीणाकर्णः कथयति-

चूडाकर्णने पूछा;—'यह किसप्रकार ?' वीणाकर्णने कहा;—

कथा ५.

अस्ति गौडीये कौशाम्बी नाम नगरी । तस्यां चन्दनदासनामा वणिङ् महाधनो निवसति । तेन पश्चिमे वयसि वर्तमानेन कामाधिष्ठितचेतसा धनदर्पाल्लीलावतीनामा वणिक्पुत्री परिणीता । सा च मकरकेतोर्विजयवैजयन्तीव यौवनवती बभूव । स च वृद्धपतिस्तस्याः संतोषाय नाभवत् । यतः-

गौडदेशमें कौशाम्बीनाम नगरी है, वहॉ चन्दनदासनामक अतिधनवान् एक वनियॉ रहता है । उसकी जब वृद्धदशा हुई, तब उस अन्तिम कालमे उसने धनके मदसे अधे हो लीलावती नामकी एक वनियेकी कन्यासे विवाह किया । क्रमसे लीलावती युवाअवस्थामें पदार्पण करके कामदेवकी विजयपताका समान मनमोहिनी हुई । वह जराग्रस्त पति उसको प्रसन्नताका देनेवाला नहीं हुआ। कारण-

शशिनीव हिमार्तानां घर्मार्तानां रवाविव ।
मनो न रमते स्त्रीणां जराजीर्णेन्द्रिये पतौ ॥ ११६ ॥

जैसे शीतसे आर्त हुएको चन्द्रमा सुखका देनेवाला नहीं और घाम (धूप) से तपे हुएको सूर्य सुखकर नहीं वैसे जरा अवस्थासे पीडित पतिमें स्त्रीका मन नहीं रमता ॥ ११६ ॥

अन्यच्च-

औरभी-

पलितेषु हि दृष्टेषु पुंसः का नाम कामिता ।
भैषज्यमिव मन्यन्ते यदन्यमनसः स्त्रियः ॥ ११७ ॥

जिसका मस्तक (शिर) पलित होगया और दांत गिरगये, वह पुरुष कामिनीके कमनीय (रुचिकर) नहीं होता । उसकी युवती भार्या औरमें मन लगाती है, और अपने पतिको दवाई (औषधि) की समान जानती है ॥ ११७ ॥

स च वृद्धपतिस्तस्यामतीवानुरागवान् । यतः-

परन्तु वह वृद्ध पति उसको अत्यन्त प्यार करता था । कारण,-

धनाशा जीविताशा च गुर्वी प्राणभृतां सदा ।
वृद्धस्य तरुणी भार्या प्राणेभ्योऽपि गरीयसी ॥ ११८ ॥

धनकी आशा और जीवनकी आशा प्राणधारियोंको सदाही भारी होती है, परन्तु वृद्धको यदि जवान स्त्री मिलजाय तो वह उसको प्राणोंसे भी अधिक होती है ॥ ११८ ॥

अपि च-

औरभी-

नोपभोक्तुं न च त्यक्तुं शक्नोति विषयाञ्जरी ।
अस्थि निर्दशनः श्वेव जिह्वया लेढि केवलम् ॥ ११९ ॥

बूढा भोगकी वस्तुओंको न भोगही सक्ता है और न त्यागही सक्ता है, और छोड भी नहीं, जिसप्रकार दन्तहीन कुत्ता हड्डीको पायकर केवल उसको जीभसे चाटही करता है ॥ ११९ ॥

अथ सा लीलावती यौवनदर्पादतिक्रान्तकुलमर्यादा केनापि वणिक्पुत्रेण सहानुरागवती बभूव । यतः-

इसके उपरान्त वह लीलावती यौवनके गर्वसे कुलकी मर्यादाको लांघकर एक वनियेके पुत्रपर अनुरागवाली हुई। कारण--

❀ स्वातन्त्र्यं पितृमन्दिरे निवसतिर्यात्रोत्सवे संगति-
गोंष्ठी पूरुषसंनिधावनियमो वासो विदेशे तथा।
संसर्गः सह पुंश्चलीभिरसकृद्वृत्तेर्निजायाः क्षतिः
पत्युर्वार्धकमीर्षितं प्रवसनं नाशस्य हेतुः स्त्रियाः १२०॥

स्वाधीनता, पिताके भवनमे रहना, यात्राके उत्सवमे संगति, पुरुषके समीपमे वार्ता, नियमहीनता, विदेशमे रहना, व्यभिचारिणी स्त्रियोकी संगति, जीविकाकी हानि. पतिका वूढा होना, ईर्ष्या करना, ये हेतु स्त्रियोंके नाश करनेवालेहै॥१२०॥

अपरं च।

और भी;-

पानं दुर्जनसंसर्गः पत्या च विरहोऽटनम्।
स्वप्नश्चान्यगृहे वासो नारीणां दूषणानि षट्॥ १२१॥

सुरापान, जहा तहा दु संगमे घूमना, पतिका विरह, व्यर्थ फिरना, अति निद्रा, पराये गृहमे वास करना, ये छः स्त्रियोके दोष हैं॥ १२१॥

किंच-

औरभी,-

स्थानं नास्ति क्षणं नास्ति नास्ति प्रार्थयिता नरः।
तेन नारद! नारीणां सतीत्वमुपजायते॥ १२२॥

हे नारद! स्थान नहीं, समय नही और चाहनेवाला मनुष्य न हो तो स्त्रियोंका सतीभाव होताहै॥ १२२॥

---

* संसारके मध्य सैकडो लालचोंके बीच रहकरभी जो स्त्रिये अपने चरित्रको ठीक रखसकीहैं निम्नलिखित श्लोक उनके सम्बन्धमे नहीं है। तथापि स्त्रीमात्रको रक्षित स्थानमे रहना, सदा कार्यमे चित्त देना. और दुष्ट जनोसे दूर रहना अवश्यही उचित है। नहीं तो चरित्र दूषित होनेकी सम्भावना होजाती है। यही इन नीचे लिखे श्लोकोंका तात्पर्य है।

अन्यच्च-

औरभी-

न स्त्रीणामप्रियः कश्चित्प्रियो वापि न विद्यते ।
गावस्तृणमिवारण्ये प्रार्थयन्ति नवंनवम् ॥ १२३

असती स्त्रियोंका न कोई प्यारा है और न कोई कुप्यारा है । जैसे गा नई २ घास खोजतीहैं, ऐसेही असती स्त्रियें नये २ पुरुषको चाहती हैं॥

अपरं च-

और भी--

स्त्रियो हि चपला नित्यं देवानामपि विश्रुतम् ।
नाश्चापि रक्षिता येषां ते नराः सुखभागिनः ॥ १

देवताओंमें भी प्रसिद्ध है कि--स्त्रियें नित्य चपल रहती हैं । जिसने रक्षा करली वह मनुष्य सुखका भागी है ॥ १२४ ॥

घृतकुम्भसमा नारी तप्ताङ्गारसमः पुमान् ।
तस्माद्घृतं च वह्निं च नैकत्र स्थापयेद् बुधः ॥ १२

घीके घडेकी समान स्त्री है और गरम अगारकी समान पुरुष है, इस घी व अग्निको पंडित एक जगह नहीं रक्खे ॥ १२५ ॥

न लज्जा न विनीतत्वं न दाक्षिण्यं न भीरुता ।
प्रार्थनाभाव एवैकं सतीत्वे कारणं स्त्रियाः ॥ १२

न लाज, न विनीत होना, न सङ्कोच, न भय स्त्रीके सतीत्वका का केवल एक प्रार्थनाका न होनाही स्त्रीके सतीपनका कारण है ॥ १२६ ॥

अपि च-

औरभी -

पिता रक्षति कौमारे भर्ता रक्षति यौवने ।
पुत्रश्च स्थाविरे भावे न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति ॥ १

कुमारपनमें पिता रक्षा करता है, युवा अवस्थामें पति रखवाहै और पु हैं, स्त्री कभी स्वतन्त्र रहनेके योग्य नहीं ॥ १२७ ॥

मात्रा स्वस्रा दुहित्रा वा न विविक्तासनो भवेत् ।
बलवानिन्द्रियग्रामो विद्वांसमपि कर्षति ॥ १२८ ॥

माता, बहिन, या बेटीके साथभी बहुत देरतक एकान्तमे न बैठे, ये बलवान्
न्द्रियें बडीही भयंकर हैं. ज्ञानीकोभी पापमें खेच लेती है॥ १२८॥

एकदा सा लीलावती रत्नावलीकिरणकर्बुरे पर्यङ्के तेन
णिक्पुत्रेण सह विश्रम्भालापैः सुखासीना तमलक्षितोपस्थि-
ं पतिमवलोक्य सहसोत्थाय केशेष्वाकृष्य गाढमालिङ्ग्य
ुम्बितवती। तेनावसरेण जारश्च पलायितः। उक्तं च–

एक दिन वह लीलावती विविध मणिरत्नकी प्रभासे रगे हुए पलगके ऊपर
स वनियेके पुत्रके साथ परम सुखसे बैठकर प्रेमप्रीतिकी बाते कर रही थी कि,
तनेमेही विना जाने वहां अपने पतिको आता हुआ देखकर लीलावती सहस
उठी. और पतिके बाल पकड खैंचकर भलीभॉतिसे लिपटाय उसको चूमलिया।
ह सुअवसर पाय उसका उपपति (यार) भाग गया। कहाभीहै कि,–

उशना वेद यच्छास्त्रं यच्च वेद बृहस्पतिः।
स्वभावेनैव तच्छास्त्रं स्त्रीबुद्धौ सुप्रतिष्ठितम्॥ १२९॥

शुक्र जिन शास्त्रोंको जानते हैं, और बृहस्पतिजी जिन वेदोंको जानते हैं
स्वभावसे ही वे सब शास्त्र स्त्रियोंकी बुद्धिमे टिके रहते है॥ १२९॥

तदालिङ्गनमवलोक्य समीपवर्तिनी कुट्टिन्यचिन्तयत्-'अक-
स्मादियमेनमुपगूढवती' इति। ततस्तया कुट्टिन्या तत्कारणं
जारं परिज्ञाय सा लीलावती गुप्तेन दण्डिता। अतोऽहं ब्रवी-
मि'अकस्माद्युवती वृद्धम्' इत्यादि। मूषिकबलोपस्तम्भेन
केनापि कारणेनात्र भवितव्यम्। क्षणं विचिंत्य परिव्राजके-
नोक्तम्–'कारणं चात्र धनबाहुल्यमेव प्रतिभाति। यतः–

इस लीलावतीके निकट ही एक कुटनी थी, वह इस स्त्रीको इस प्रकारसे
लिपटती चिपटती देख विचारती हुई,-'इसने जो एकाएकी अपने वृद्धपतिको
ऐसा आलिङ्गन किया इसका कारण क्या है?' पीछे जब उसने जानलिया कि,-
लीलावतीने अपने मित्र (यार) को छिपानेके अर्थही ऐसा किया है तब उस कुट-
नीने लीलावतीको गुप्तसे दण्ड दिलाया। इसी कारणसे मैं कहताहू कि-'अकस्मात्
युवा स्त्री' इत्यादि। इस लिये इस चूहेमे ऐसा बल होनेकाभी अवश्यही कोई
कारण होगा। एक क्षणभर चिंता करके संन्यासीने कहा,–धनका बलही इसमें
कारण समझ पडता है। क्योंकि,–

अन्यच्च-

और भी-

न स्त्रीणामप्रियः कश्चित्प्रियो वापि न विद्यते ।
गावस्तृणमिवारण्ये प्रार्थयन्ति नवंनवम् ॥ १२३ ॥

असती स्त्रियोंका न कोई प्यारा है और न कोई कुप्यारा है । जैसे गाय वन-
नई २ घास खोजतीहैं, ऐसेही असती स्त्रिये नये २ पुरुषको चाहती हैं ॥१२

अपरं च-

और भी--

स्त्रियो हि चपला नित्यं देवानामपि विश्रुतम् ।
नाप्यपि रक्षिता येषां ते नराः सुखभागिनः ॥ १२४ ॥

देवताओंमें भी प्रसिद्ध है कि--स्त्रिये नित्य चंचल रहती हैं । जिसने उनकी
रक्षा करली वह मनुष्य सुखका भागी है ॥ १२४ ॥

घृतकुम्भसमा नारी तप्ताङ्गारसमः पुमान् ।
तस्माद्घृतं च वह्निं च नैकत्र स्थापयेद् बुधः ॥ १२५ ॥

क्योंकि घड़ेकी समान स्त्री है और गरम अंगारकी समान पुरुष है, इस कारण
घी व अग्निको पंडित एक जगह नहीं रक्खे ॥ १२५ ॥

न लज्जा न विनीतत्वं न दाक्षिण्यं न भीरुता ।
प्रार्थनाभाव एवैकं सतीत्वे कारणं स्त्रियाः ॥ १२६ ॥

न लाज, न विनीत होना, न संकोच, न भय स्त्रीके सतीत्वका कारण है,
केवल एक प्रार्थनाका न होनाही स्त्रीके सतीपनका कारण है ॥ १२६ ॥

अपि च-

और भी -

पिता रक्षति कौमारे भर्ता रक्षति यौवने ।
पुत्रश्च स्थाविरे भावे न स्त्री स्वातंत्र्यमर्हति ॥ १२७ ॥

कौमारमें पिता रक्षा करता है, युवा अवस्थामें पति रक्षताहै और बुढ़ापेमें पुत्र रक्षा करते
हैं, स्त्री कभी स्वतन्त्र रहनेके योग्य नहीं ॥ १२७ ॥

माता स्वसा दुहिता वा न विविक्तासनो भवेत् ।
बलवानिन्द्रियग्रामो विद्वांसमपि कर्षति ॥ १२८ ॥

माता, बहिन, या बेटीके साथभी बहुत देरतक एकान्तमे न बैठे, ये बलवान् इन्द्रियें बडीही भयकर है. ज्ञानीकोभी पापमें खेंच लेती है ॥ १२८ ॥

एकदा सा लीलावती रत्नावलीकिरणकर्बुरे पर्यङ्के तेन वणिक्पुत्रेण सह विश्रम्भालापैः सुखासीना तमलक्षितोपस्थितं पतिमवलोक्य सहसोत्थाय केशेष्वाकृष्य गाढमालिङ्ग्य चुम्बितवती । तेनावसरेण जारश्च पलायितः । उक्तं च–

एक दिन वह लीलावती विविध मणिरत्नकी प्रभासे रगे हुए पलगके ऊपर उस वनियेके पुत्रके साथ परम सुखसे बैठकर प्रेमप्रीतिकी बातें कर रही थी कि, इतनेमेही विना जाने वहां अपने पतिको आता हुआ देखकर लीलावती सहसा उठी और पतिके बाल पकड खैंचकर भलीभाँतिसे लिपटाय उसको चूमलिया । यह सुअवसर पाय उसका उपपति (यार) भाग गया । कहाभीहै कि,–

उशना वेद यच्छास्त्रं यच्च वेद बृहस्पतिः ।
स्वभावेनैव तच्छास्त्रं स्त्रीबुद्धौ सुप्रतिष्ठितम् ॥ १२९ ॥

शुक्र जिन शास्त्रोको जानते हैं, और बृहस्पतिजी जिन वेदोको जानते हैं स्वभावसे ही वे सब शास्त्र स्त्रियोकी बुद्धिमे टिके रहते है ॥ १२९ ॥

तदालिङ्गनमवलोक्य समीपवर्तिनी कुट्टिन्यचिन्तयत्-'अकस्मादियमेनमुपगूढवती' इति । ततस्तया कुट्टिन्या तत्कारणं जारं परिज्ञाय सा लीलावती गुप्तेन दण्डिता । अतोऽहं ब्रवीमि'अकस्माद्युवती वृद्धम्' इत्यादि । मूषिकबलोपस्तम्भेन केनापि कारणेनात्र भवितव्यम् । क्षणं विचिंत्य परिव्राजकेनोक्तम्–'कारणं चात्र धनबाहुल्यमेव प्रतिभाति । यतः–

इस लीलावतीके निकट ही एक कुटनी थी, वह इस स्त्रीको इस प्रकारसे लिपटती चिपटती देख विचारती हुई,-'इसने जो एकाएकी अपने वृद्धपतिको ऐसा आलिङ्गन किया इसका कारण क्या है ?' पीछे जब उसने जानलिया कि,-लीलावतीने अपने मित्र (यार) को छिपानेके अर्थही ऐसा किया है तब उस कुटनीने लीलावतीको गुप्तसे दण्ड दिलाया । इसी कारणसे मै कहताहू कि-'अकस्मात् युवा स्त्री' इत्यादि । इस लिये इस चूहेमे ऐसा बल होनेकाभी अवश्यही कोई कारण होगा । एक क्षणभर चिता करके सन्यासीने कहा,–धनका बलही इसमें कारण समझ पडता है । क्योंकि,–

धनवान्बलवाँल्लोके सर्वः सर्वत्र सर्वदा ।
प्रभुत्वं धनमूलं हि राज्ञामप्युपजायते ॥ १३० ॥

धनवान् सब जगह, सब समय, संसारमें बलवान् हैं, कारण कि, रा…
जोगोंकी तो प्रभुताका मूल धनही होताहै ॥ १३० ॥

ततः खनित्रमादाय तेन परिव्राजकेन विवरं खनित्वा चि…
संचितं मम धनं गृहीतम् । ततःप्रभृति निजशक्तिहीनः सत्त्वो…
त्साहरहितः स्वाहारमप्युत्पादयितुमक्षमः सत्रासं मंदं मं…
मुपसर्पंश्चूडाकर्णेनावलोकितः ।' ततस्तेनोक्तम्-

फिर उस संन्यासीने कस्सी ले हमारे बिलको खोद कर मेरा बहुत काल…
इकट्ठा किया हुआ समस्त धन ग्रहण करलिया, इसके उपरान्त दिन २ मेरे…
शरीरका बल घटने लगा, मनमें बल और उत्साह नहीं रहा, यहांतक कि, मैं अ…
पना आहारभी इकट्ठा करनेमें असमर्थ हुआ । मैं इस अवस्थामें एक दिन भयभी…
त धीरे २ जाताथा कि, चूडाकर्णने मुझको देखपाया' । तब वह बोला,-

'धनेन बलवान्सर्वो धनाद्भवति पंडितः ।
पश्यैनं मूषिकं पापं स्वजातिसमतां गतम् ॥ १३१ ॥

'धनसे ही सब कोई बलवान होते हैं, धनके ही प्रभावसे पंडित होताहै, इ…
दुष्ट मूषक (चूहे) को देखो कि- यह अपनी जातिके समान फिर भी…
होगया ॥ १३१ ॥

किंच-
और भी-

अर्थेन तु विहीनस्य पुरुषस्याल्पमेधसः ।
क्रियाः सर्वा विनश्यन्ति ग्रीष्मे कुसरितो यथा ॥१३२॥

धनरहित होजानेसे थोडी बुद्धिवाले पुरुषोंकी सारी क्रिया नष्ट हैं, जै…
जैसे ग्रीष्ममें छोटी नदियें ॥ १३२ ॥

अपरं च-
और भी-

यस्यार्थास्तस्य मित्राणि यस्यार्थास्तस्य बान्धवाः ।
यस्यार्थाः स पुमाँल्लोके यस्यार्थाः स हि पंडितः ॥ १३३ ॥

जिसके पास धन है उसकेही मित्र हैं, जिसके पास धन है उसकेही बन्धु
ाधव हैं, जिसके पास धन है वही संसारमें पुरुष है और जिसके पास धन है
ही पंडित है ॥ १३३ ॥

अन्यच्च-

ौरभी,-

अपुत्रस्य गृहं शून्यं सन्मित्ररहितस्य च ।
मूर्खस्य च दिशः शून्याः सर्वशून्या दरिद्रता ॥ १३४ ॥

जो पुत्रसे रहित है, और सत्यमित्रसे रहित है उसका घर सूना है । मूर्खको
सब दिशा सूनी है, और दरिद्रताको सबही कुछ सूना है (जो दरिद्र है उसको
सबही कुछ सूना है) ॥ १३४ ॥

अपरं च-

औरभी,-

दारिद्र्यान्मरणाद्वापि दारिद्र्यमवरं स्मृतम् ।
अल्पक्लेशेन मरणं दारिद्र्यमतिदुस्सहम् ॥ १३५ ॥

दरिद्रताकी अपेक्षा (बनिस्वत्) मरनेका क्लेश भला है, क्योंकि मरनेमें थोडा-
सा क्लेश है, परन्तु दरिद्रतामें अति दुस्सह क्लेश है ॥ १३५ ॥

तानीन्द्रियाण्यविकलानि तदेव नाम
सा बुद्धिरप्रतिहता वचनं तदेव ।
अर्थोष्मणा विरहितः पुरुषः स एव
त्वन्यः क्षणेन भवतीति विचित्रमेतत् ॥ १३६ ॥'

वेही बिना व्याकुल हुई इंद्रियाँ हैं, वही नाम है, वही न रुकनेवाली बुद्धि
है, वही वचन हैं, परन्तु धनकी गरमाईसे रहित वही पुरुष क्षणभरमे औरका
और होजाता है, यही विचित्र है ॥ १३६ ॥'

एतत्सर्वमाकर्ण्य मयालोचितम्-'ममात्रावस्थानमयुक्तमि-
दानीम् । यच्चान्यस्मा एतद्वृत्तान्तकथनं तदप्यनुचितम् । यतः-

यह सब वचन सुनकर मैंने विचारा कि,-'अब अधिक इस स्थानमें मेरा
रहना ठीक नहीं । और यह वृत्तान्त किसी औरसे भी कहना उचित नहीं ।

अर्थनाशं मनस्तापं गृहे दुश्चरितानि च ।
वञ्चनं चापमानं च मतिमान्न प्रकाशयेत् ॥ १३७ ॥

धनका नाश मनका संताप घरके खोटे चरित्र ठगाई और मा[illegible] हानि इनको मतिमान् प्रकाश न करे ॥ १३७ ॥

अपि च-
औरभी.-

आयुर्वित्तं गृहच्छिद्रं मन्त्रमैथुनभेषजम् ।
तपो दानापमानं च नव गोप्यानि यत्नतः ॥ १३८ ॥

अपनी उमर, धन, घरके दूषण, औषधि, मैथुन, सलाह, तप, द[illegible] अपमान ये नौ यत्नसहित छिपाने चाहिये ॥ १३८ ॥

तथा चोक्तम्-
औरभी कहा है कि -

अत्यन्तविमुखे दैवे व्यर्थे यत्ने च पौरुषे ।
मनस्विनो दरिद्रस्य वनादन्यत्कुतः सुखम् ॥ १३९ ॥

जिससे विधाता अत्यन्त विमुख होता है, उसका यत्न और पौरुष [illegible] होजाता है । उस मानी दरिद्रीको वनके जानेके सिवाय और कहां [illegible] है ? ॥ १३९ ॥

अन्यच्च -
औरभी:-

मनस्वी म्रियते कामं कार्पण्यं न तु गच्छति ।
अपि निर्वाणमायाति नानलो याति शीतताम् ॥ १४० ॥

[illegible] ॥ १४० ॥

किंच-
और भी --

कुसुमस्तबकस्येव द्वे वृत्ती तु मनस्विनः ।
सर्वेषां मूर्ध्नि वा तिष्ठेद्विशीर्येत वनेऽथवा ॥ १४१ ॥

फूलोंके गुच्छोंकी समान बुद्धिमान्की दो वृत्तिया होती हैं, या तो सबके शिरपर स्थित रहैं, या वनमेंही मुरझा जाय ॥ १४१ ॥

यच्चात्रैव याच्ञया जीवनं तदतीव गर्हितम् । यतः-

और जो इसी स्थानमें भिक्षा करके जीवन विताया जाय तो यह भी अत्यन्त नीच कार्य है । कारण--

वरं विभवहीनेन प्राणैः संतर्पितोऽनलः ।
नोपचारपरिभ्रष्टः कृपणः प्रार्थितो जनः ॥ १४२ ॥

धनहीन होनेसे प्राणोको अग्निके समर्पण करादिया जाय वह अच्छा, परन्तु यहदय कृपणसे प्रार्थना करना भला नही ॥ १४२ ॥

न्यच्च--
रभी.--

दारिद्र्याद्धियमेति ह्रीपरिगतः सत्त्वात्परिभ्रश्यते
निस्सत्त्वः परिभूयते परिभवान्निर्वेदमापद्यते ।
निर्विण्णः शुचमेति शोकनिहतो बुद्ध्या परित्यज्यते
निर्बुद्धिः क्षयमेत्यहो निधनता सर्वापदामास्पदम् १४३॥

दारिद्रता होनेसे मनमें लाज होतीहै, और लाजको प्राप्त हुआ मनुष्य बलसे छूट ाता है, और निर्बलका अपमान होता है, अपमान होनेसे मनमे धिक्कार उत्पन्न ोता है, और धिक्कारसे हृदयमें शोकका उदय होता है, शोकार्त होनेसे बुद्धि ूट जाती है, बुद्धिलोप होनेसे मरण होता है, हा ! एक निर्धनताही सब वेपत्तियोंका स्थान है ॥ १४३ ॥

किंच--
औरभी--

वरं मौनं कार्यं न च वचनमुक्तं यदनृतं
वरं क्लैब्यं पुंसां न च परकलत्राभिगमनम् ।
वरं प्राणत्यागो न च पिशुनवाक्येष्वभिरुचि-
र्वरं भिक्षाशित्वं न च परधनास्वादनसुखम् ॥ १४४ ॥

औरभी.--

मिथ्या वचन कहनेसे वचन न कहनाही श्रेष्ठ है. परस्त्रीगमन करनेसे नपुंस होना अच्छा है. दुष्टके वचनका विश्वास करनेकी अपेक्षा प्राण छोड देनाभी भ है. पराये धनसे सुखभोग करनेकी अपेक्षा (वनिसवन) भिक्षा करके गा श्रेष्ठ है ॥ १४४ ॥

> वरं शून्या शाला न च खलु वरो दुष्टवृषभो
> वरं वेश्या पत्नी न पुनरविनीता कुलवधूः ।
> वरं वासोऽरण्ये न पुनरविवेकाधिपपुरे
> वरं प्राणत्यागो न पुनरधमानामुपगमः ॥ १४५ ॥

दुष्ट बैल श्रेष्ठ नहीं, वरन् सूनी गोठ श्रेष्ठ है. खोटे चारित्रवाली स्त्रीसे वेश्या ी है, विचारहीन राजाके राज्यमें रहनेसे वनमेंही रहना अच्छा है, नी ोंका समागम करनेसे मरनाभी अच्छा है ॥ १४५ ॥

पि च-

भी,-

> सेवेव मानमखिलं ज्योत्स्नेव तमो जरेव लावण्यम् ।
> हरिहरकथेव दुरितं गुणशतमप्यर्थिता हरति ॥ १४६ ॥'

जैसे पराई सेवा करना सम्पूर्ण मानको, चांदनी अन्धकारको, जरा अवस्था देहके लावण्य [illegible] को और हरिहरकी कथा पापोंको हरती है ऐसेही याचना सकल गुणोंका नाश करदेती है ॥ १४६ ॥'

इति विमृश्य 'तत्किमहं परपिण्डेनात्मानं पोषयामि । कष्टं भोः ! तदपि द्वितीयं मृत्युद्वारम् । यतः-

रोगी चिरप्रवासी परान्नभोजी परावसथशायी ।
यज्जीवति तन्मरणं यन्मरणं सोऽस्य विश्रामः ॥ १४८॥'

और भी–सदा रोगभोग करनेवाला, सदा परदेशमे रहनेवाला, पराये अन्नका खानेवाला, पराये स्थानमे शयन करनेवाला ऐसा जीता हुआ मृतकतुल्य है, और इसका मरण होना यही विश्रामका कारण है॥ १४८ ॥'

इत्यालोच्यापि लोभात्पुनरपि तदीयान्नं ग्रहीतुं ग्रहमकरवम् । तथा चोक्तम्–

मैंने यह सब विचारकरभी फिर लोभमे पडके उसके उस भिक्षापात्रमे रक्खे हुए अन्नको ग्रहण करनेकी इच्छा की । इस प्रकार कहाभी है कि--

लोभेन बुद्धिश्चलति लोभो जनयते तृषाम् ।
तृषार्तो दुःखमाप्नोति परत्रेह च मानवः ॥ १४९ ॥

लोभसे बुद्धि चलायमान होती है, लोभही तृष्णाको उत्पन्न करता है और तृष्णाका करनेवाला मनुष्य संसार और परलोक दोनोंमें दुःख पाता है ॥१४९॥

ततोऽहं मन्दंमन्दमुपसर्पंस्तेन वीणाकर्णेन जर्जरवंशखण्डेन ताडितश्चाचिन्तयम्--

इसके उपरान्त वीणाकर्णने उस पुराने वासके टुकडेसे मुझ मद २ चलते हुएको मारा तब मैंने विचारा,–

धनलुब्धो ह्यसंतुष्टोऽनियतात्माऽजितेन्द्रियः ।
सर्वा एवापदस्तस्य यस्य तुष्टं न मानसम् ॥ १५० ॥

धनके लोभीको, असन्तोषीको, अस्थिर मनवालेको, अजितेन्द्रियको अर्थात् जिसका मन सतुष्ट नहीं उसको सब आपत्तिया होती हैं ॥ १५० ॥

तथा च–

कहाभी है कि,–

सर्वाः संपत्तयस्तस्य सन्तुष्टं यस्य मानसम् ।
उपानद्गूढपादस्य ननु चर्मावृतेव भूः ॥ १५१ ॥

जिसका हृदय सदाही सन्तोषसे पूर्ण है उसको समस्त सम्पत्तिया प्राप्त हैं जिसके पावमे जूतियें हैं उसको सवही स्थान चर्ममय है ॥ १५१ ॥

अपरं च-

और भी,-

संतोषामृततृप्तानां यत्सुखं शान्तचेतसाम् ।
कुतस्तद्धनलुब्धानामितश्चेतश्च धावताम् ॥ १५२ ॥

जो सुख संतोषरूप अमृतपान करनेसे तृप्त और शान्तचित्त पुरुषोंको है, वह सुख इधर उधर दौडते हुए धनके लोभियोंको कहां है? ॥ १५२ ॥

किंच-

औरभी,-

तेनाधीतं श्रुतं तेन तेन सर्वमनुष्ठितम् ।
येनाशाः पृष्ठतः कृत्वा नैराश्यमवलम्बितम् ॥ १५३ ॥

उसनेही पढा, उसनेही सुना और उसनेही सब कुछ किया, जिसने आशाको पश्चात् कर निराशाका आश्रय लिया ॥ १५३ ॥

अपिच-

औरभी,-

असेवितेश्वरद्वारमदृष्टविरहव्यथम् ।
अनुक्तक्लीबवचनं धन्यं कस्यापि जीवनम् ॥ १५४ ॥

जिसने राजद्वारेकी सेवा न की, विरहकी पीडा कभी नहीं सही, बुरा वचन नहीं कहा, ऐसा जीवन धन्य है ॥ १५४ ॥

यतः-

क्योंकि-

उक्तञ्च-

कहाभी है कि;-

को धर्मो भूतदया किं सौख्यमरोगिता जगति जन्तोः।
कः स्नेहः सद्भावः किं पाण्डित्यं परिच्छेदः॥ १५६॥

धर्म क्या है ?, सर्व प्राणियोपर दया। सुख क्या है ?, रोगरहित होना। स्नेह क्या है ?, कपटतारहित। पडिताई क्या है ?, हिताहितका विचार॥ १५६॥

तथा च-

औरभी देखो,-

परिच्छेदो हि पाण्डित्यं यदापन्ना विपत्तयः।
अपरिच्छेदकर्तॄणां विपदः स्युः पदेपदे॥ १५७॥

जब विपत्ति निकट आई तब विचारही पाडित्य है, अविचार करनेवालोको पग २ पर विपत्ति घेरती हैं॥ १५७॥

त्यजेदेकं कुलस्यार्थे ग्रामस्यार्थे कुलं त्यजेत्।
ग्रामं जनपदस्यार्थे स्वात्मार्थे पृथिवीं त्यजेत्॥ १५८॥

एकको छोडकर कुलकी रक्षा करै, गॉवके लिये कुलको छोड दे, देशके अर्थ गॉवको तज दे और अपने लिये पृथ्वीकोभी त्याग देना चाहिये॥ १५८॥

अपरं च-

औरभी,--

पानीयं वा निरायासं स्वाद्वन्नं वाऽऽमयोत्तरम्।
विचार्य खलु पश्यामि तत्सुखं यत्र निर्वृतिः॥ १५९॥'

अनायास (विना विपत्तिके) जो केवल जलभी मिलजाय और स्वादयुक्त भोजनमें अनेक प्रकारके रोग हों तो विचार करके दोनोंको देखे और उसकोही ले कि, जिससे मनमें शान्ति हो॥ १५९॥'

इत्यालोच्याहं निर्जनवनमागतः। यतः-

मै यही सब विचार कर इस निर्जन वनमें आया हूं। क्योंकि,-

वरं वनं व्याघ्रगजेन्द्रसेवितं
द्रुमालयं पक्वफलाम्बुभोजनम्।

तृणानि शय्या परिधानवल्कलं
न बन्धुमध्ये धनहीनजीवनम् ॥ १६० ॥

व्याघ्र और सिंहसे सेवित वन श्रेष्ठ है, वृक्षोंका स्थान श्रेष्ठ है, पके फल खाना और जलका पान करना भला है, तिनकोंकी सेज अच्छी है, वृक्षोंकी छाल वस्त्र उत्तम हैं, परन्तु बन्धुओंके बीचमें धनहीनका जीवन श्रेष्ठ नहीं ॥ १६० ॥

ततोऽस्मत्पुण्योदयादनेन मित्रेणाहं स्नेहानुवृत्त्यानुगृहीतः अधुना च पुण्यपरंपरया भवदाश्रयः स्वर्ग एव मया प्राप्तः। यतः

इसके उपरान्त हमारे बड़े भाग्यसे इस बन्धुने हमारेपर स्नेह करके मान आदर मुझको प्रदान किया है। इस समय फिर मेरे भाग्यके ऊपर सौभाग्य उदय [illegible] कि, मैंने स्वर्गकी समान आपके आश्रमको पाया—कारण

संसारविषवृक्षस्य द्वे एव रसवत्फले।
काव्यामृतरसास्वादः संगमः सुजनैः सह ॥ १६१ ॥

संसाररूप विषवृक्षके दोही रसीले फल हैं, काव्यरूप अमृतरसका स्वाद और सज्जनोंके साथ [illegible] ॥ १६१ ॥

अपरञ्च—
[illegible]—

समान चपल है, जीवन झागोंकी समान है, जो कुबुद्धि स्वर्गके किवाडोके मूसलको उघाडनेवाला धर्म नहीं करता, वह वृद्धावस्थाको प्राप्त हो पश्चात्तापयुक्त शोककी अग्निसे भस्म किया जाता है ॥ १६३ ॥

युष्माभिरतिसंचयः कृतः। तस्यायं दोषः। शृणु-

आपने जो बहुत धन इकट्ठा किया था, उससेही यह इतना अनिष्ट हुआ है। सुनो,--

उपार्जितानां वित्तानां त्याग एव हि रक्षणम्।
तडागोदरसंस्थानां परीवाह इवाम्भसाम् ॥ १६४ ॥

सचय किये हुए धनका त्याग ही रक्षण है (अर्थात् कातरताको दूरकर सुपात्रोको धन बांट दे), जैसे तालावके भीतर रहनेवाले पानीका नल है अर्थात् जवतक उस नलसे और खेतोंमे पानी न जायगा तबतक खेतोंमें धान्य कैसे उत्पन्न होगा; जो धन दिया जायगा तभी तो पुण्यका फल प्राप्त होगा ॥ १६४ ॥

अन्यच्च--

औरभी,--

यदधोधः क्षितौ वित्तं निचखान मितंपचः।
तदधोनिलयं गन्तुं चक्रे पन्थानमग्रतः ॥ १६५ ॥

जो धन लोभीने पृथ्वीके अत्यन्त नीचे गाड़ा है (मानो) उसने नीचेमें (नरकमें) जानेके लिये प्रथमहीसे अपना मार्ग साफ कर रक्खा है ॥ १६५ ॥

अन्यच्च-

औरभी,-

निजसौख्यं निरुन्धानो यो धनार्जनमिच्छति।
परार्थभारवाहीव क्लेशस्यैव हि भाजनम् ॥ १६६ ॥

अपने सुखको रोकता हुआ जो धन इकट्ठा करना चाहता है, वह पराये अर्थ वोझा ढोनेकी समान क्लेशहीका पात्र है ॥ १६६ ॥

अपरं च-

औरभी कहाहै कि;-

दानोपभोगहीनेन धनेन धनिनो यदि ।
पृथ्वीखातनिखातेन धनेन धनिनो वयम् ॥ १६७ ॥

न जिसका उपभोग है, न जिसका दान है, ऐसे धनसे यदि [illegible] कहलाये जाँय, तब तो इस पृथ्वीके नीचे कहाँ धन नहीं है, और [illegible] हम लोगभी धनी हैं ॥ १६७ ॥

अन्यच्च-
औरभी देखो.-

दानभोगविहीनाश्च दिवसा यान्ति यस्य वै ।
स कर्मकारभस्त्रेव श्वसन्नपि न जीवति ॥ १६८ ॥

दान [illegible] भोगसे विहीन होकर जिसके दिन बीतते जाते हैं [illegible] [illegible] समान श्वास लेता हुआ भी मृतकही है ॥ १६८ ॥

धनेन किं यो न ददाति नाश्नुते
बलेन किं यश्च रिपून्न बाधते ।
श्रुतेन किं यो न च धर्ममाचरेत्
किमात्मना यो न जितेन्द्रियो भवेत् ॥ १६९.

अन्यच्च–

और भी–

दानं भोगो नाशस्तिस्रो गतयो भवन्ति वित्तस्य।
यो न ददाति न भुंक्ते तस्य तृतीया गतिर्भवति १७२॥

धनकी तीन गति हैं–दान, भोग व नाश, जो न दान देता है, न अपने आप भोगताहै, उसके धनकी तीसरी गति (नाश) होती है ॥ १७२ ॥

दानं प्रियवाक्सहितं ज्ञानमगर्वं क्षमान्वितं शौर्यम्।
वित्तं त्यागनियुक्तं दुर्लभमेतच्चतुष्टयं लोके ॥ १७३ ॥

प्रिय वचनसहित दान, गर्वरहित ज्ञान, क्षमायुक्त शूरता, दानमें लगाहुआ धन, यह चार संसारमें दुर्लभ है ॥ १७३ ॥

उक्तं च–

कहा भी है कि;–

कर्तव्यः संचयो नित्यं कर्तव्यो नातिसंचयः।
पश्य संचयशीलोऽसौ धनुषा जम्बुको हतः ॥ १७४ ॥'

इकट्ठा नित्य करना उचित है, परन्तु अतिसंचय करना कर्त्तव्य नहीं, देखो तिसंचय करनेवाला यह (एक) शृगाल धनुषसे मारागया ॥ १७४ ॥'

तावाहतुः–'कथमेतत्?' । मन्थरः कथयति–

उन दोनोंने पूछा, –'यह कैसे ?' मन्थर कहताहै,–

कथा ६.

'आसीत्कल्याणकटकवास्तव्यो भैरवो नाम व्याधः। स ऐकदा मांसलुब्धो धनुरादाय मृगमन्विष्यमाणो विन्ध्याटवीं गतवान्। ततस्तेन व्यापादितं मृगमादाय गच्छता घोराकृतिः शूकरो दृष्टः। ततस्तेन व्याधेन मृगं भूमौ निधाय शूकरः शरेणाहतः। शूकरेणापि घनघोरगर्जनं कृत्वा स व्याधो मुष्कदेशे हतः संछिन्नद्रुम इव भूमौ निपपात। यतः–

'कल्याणकटक नामक स्थानमें भैरवनामक एक व्याध था, वह एक दिन मांस प्राप्त करनेके लिये धनुष लेकर मृगको ढूढने विंध्याचलके वनमें गया । वहांपर उसने एक मृग मारा । उस मृगको लेजाते हुए उसने एक भयंकराकार शूकर

देखा। तिसके पीछे वह (व्याधा) मृगको भूमिपर रख बाणसे उस शूकर
बींधता भया। शूकरनेभी (मरनेके पहले) मेघकी समान गर्जन करके आ
उस व्याधेके मुष्कदेश (अण्डकोश) विदीर्ण करदिये कि, जिससे व्याधा प्राणर
हो जडकटेहुए वृक्षकी समान भूमिमें गिरपडा। कारण—

जलमग्निर्विषं शस्त्रं क्षुद्व्याधिः पतनं गिरेः।
निमित्तं किंचिदासाद्य देही प्राणैर्विमुच्यते ॥ १७९ ॥

जल, अग्नि, विष, शस्त्र, क्षुधा, पीडा, पहाडपरसे गिरना, इनमेंसे किसी
निमित्तको पाकर प्राणी शरीर तो त्यागता है ॥ १७९ ॥

अथ तयोः पादास्फालनेन सर्पोऽपि मृतः। अथानन्
दीर्घरावो नाम जम्बुकः परिभ्रमन्नाहारार्थी तान्मृतान्मृगव्य
धसर्पशूकरानपश्यत्। अचिन्तयच्च—'अहो भाग्यमद्य महद्
ज्यं मे समुपस्थितम्। अथवा—

ततः प्रथमबुभुक्षायामिदं निःस्वादु कोदण्डाटनीलग्नं स्नायु-न्धनं खादामि' इत्युक्त्वा तथा कृते सति छिन्ने स्नायुबन्धने तसुत्पतितेन धनुषा हृदि निर्भिन्नः स दीर्घरावः पञ्चत्वं तः। अतोऽहं ब्रवीमि- 'कर्तव्यः संचयो नित्यम्' इत्या-दे। तथा च-

इस धनुषके अग्रभागमे जो तातका डोरा लगा हुआ है यह बहुत स्वादयुक्त हीं है तो भी पहली भूखकी चोटसे इसकोही भक्षण करू' यह कहकर वह उसे खानेको गया परन्तु उस धनुषका डोरा जैसेही उसने काटा कि, वैसेही नुषका अग्रभाग अतिजोरसे उछटकर उसके मर्मस्थानमें विधगया कि, जिससे उस दीर्घराव शृगालने प्राणत्याग किया, इसी लिये मै कहताहू कि,-' नित्य चय करना पर अधिक न करै। कहाभी है कि,-

यद्ददाति यदश्नाति तदेव धनिनो धनम्।
अन्ये मृतस्य क्रीडन्ति दारैरपि धनैरपि॥ १७८॥

जो देता है और जो खाता है, वही धनीका धन है, मरे हुएके धन और ीको लेकर और दूसरे लोग खेल करते है * ॥ १७८॥

तु। किमिदानीमतिक्रान्तोपवर्णनेन।

ससमय यह सब गई बातके वर्णन करनेसे क्या है?।

पतः-

जिससे कि.

नाप्राप्यमभिवाञ्छन्ति नष्टं नेच्छन्ति शोचितुम्।
आपत्स्वपि न मुह्यन्ति नराः पण्डितबुद्धयः॥ १७९॥

श्रेष्ट बुद्धिवाले जन (पंडित) नमिलने योग्य वस्तुकी इच्छा नहीं करते, और नष्टका सोच नहीं करते, आपत्तियोमेंभी व्याकुल नहीं होते॥ १७९॥

तत्सखे! सर्वदा त्वया सोत्साहेन भवितव्यम्। यतः-

इस कारण हे सखे! कार्यमें सदा ही उत्साहशील रहो। क्यों कि,-

* "यद्ददासि विशिष्टेभ्यो यच्चाश्नासि दिने दिने। तत्ते वित्तमहं मन्ये शेषं कस्यापि रक्षसि" अर्थात् जो धन तुम श्रेष्टोंको देतेहो और जो तुम दिन प्रति दिन खातेहो उसही धनको मैं तुम्हारा जानताहूं, और बाकी तो पराये लिये इकट्ठा करते हो।

शास्त्राण्यधीत्यापि भवन्ति मूर्खा
यस्तु क्रियावान्पुरुषः स विद्वान्।
सुचिन्तितं चौषधमातुराणां
न नाममात्रेण करोत्यरोगम् ॥ १८० ॥

बहुत शास्त्रोंको जानकरभी विद्वान् नहीं होता, जो कि क्रियावान् पुरुष है वही विद्वान् है, यदि नियमसे सेवन नहीं कियाजाय, तो क्या कहीं [illegible] भी औषधके केवल नामसेही रोग भागता है ? ॥ १८० ॥

अन्यच्च-
[illegible] देखो,--

न स्वल्पमप्यध्यवसायभीरोः
करोति विज्ञानविधिर्गुणं हि।
अन्धस्य किं हस्ततलस्थितोऽपि
प्रकाशयत्यर्थमिह प्रदीपः ॥ १८१ ॥

सुखके समय सुखका सेवन करे और दुःखके समय दुःखका सेवन करे क्यों
कि, यह सुख दुःख चाककी समान घूमा करते हैं ॥ १८३ ॥

अन्यच्च--
और भी-

उत्साहसंपन्नमदीर्घसूत्रं
क्रियाविधिज्ञं व्यसनेष्वसक्तम् ।
शूरं कृतज्ञं दृढसौहृदं च
लक्ष्मीः स्वयं याति निवासहेतोः ॥ १८४ ॥

उत्साहसम्पन्न, कार्य करनेमे आलस्यरहित, कार्यकी विधिका जाननेवाला, किसी व्यसनके वश नहीं होनेवाला, शूर, कृतज्ञ, मित्रताईमें दृढ, ऐसोंके यहां लक्ष्मी स्वय निवास करनेको जाती है ॥ १८४ ॥

विशेषतश्च-
विशेषसेभी-

विनाप्यर्थैर्वीरः स्पृशति बहुमानोन्नतिपदं
समायुक्तोऽप्यर्थैः परिभवपदं याति कृपणः ॥
स्वभावादुद्भूतां गुणसमुदयाच्चातिविपुलां
धृतिं सैंहीं किं श्वा धृतकनकमालोऽपि लभते ॥१८५॥

वीर धनहीन होनेपर भी पूजित और उन्नतिको प्राप्त होता है, और अनुकूल होनेपरभी कृपण घृणित होता है । कुत्ता यदि सुवर्णका हारभी गलेमे पहने तोभी सिहके स्वभावोत्पन्न गुणोसे वढेहुए धैर्यको वह क्या कभी पा सकता ॥ १८५ ॥

धनवानिति हि मदो मे किं गतविभवो विषादमुपयामि ।
करनिहतकन्दुकसमाः पातोत्पाता मनुष्याणाम् ॥ १८६ ॥

मै धनवान् हू, यो गर्व और मैं धनरहित हूँ, यो विपादको भी क्यो प्राप्त ? क्योकि गेंदकी समान मनुष्योके हाथमे धन कभी आता है कभी जाता ॥ १८६ ॥

अपरं च-
औरभी-

अभ्रच्छाया खलप्रीतिर्नवसस्यानि योषितः ।
किंचित्कालोपभोग्यानि यौवनानि धनानि च ॥ १८७ ॥

बादलकी छाया, दुष्टका प्रेम, नये धान्य, स्त्रिया, युवा अवस्था और धन वस्तुएँ थोडे काल भोगनेके योग्य होती हे ॥ १८७ ॥

वृत्त्यर्थं नातिचेष्टेत सा हि धात्रैव निर्मिता ।
गर्भादुत्पतिते जन्तौ मातुः प्रस्रवतः स्तनौ ॥ १८८ ॥

जीविकाके अर्थ अत्यन्त चेष्टा न करे, क्योंकि वह (जीविका) [illegible] की बनाई हुई है, प्राणीके गर्भसे बाहर होतेही माताके स्तनोंमे [illegible] उतरता है ॥ १८८ ॥

अपि च सखे !

[illegible]

येन शुक्लीकृता हंसाः शुकाश्च हरितीकृताः ।
मयूराश्चित्रिता येन स ते वृत्तिं विधास्यति ॥ १८९ ॥

जिसने हंस श्वेत किये और तोते हरे किये, तथा मयूर (मोर) चित्र [illegible] [illegible] वह तेरी जीविकाको भी देगा ॥ १८९ ॥

तः--

ारण--

यथा ह्यामिषमाकाशे पक्षिभिः श्वापदैर्भुवि।
भक्ष्यते सलिले नक्रैस्तथा सर्वत्र वित्तवान्॥ १९२॥

जैसे आकाशमें पक्षियोसे, पृथ्वीपर व्याघ्रादि पशुओसे, जलमे नाकोसे ांस भक्षण कियाजाता है, इसी भांति धनीभी सब जगह खाया जाता है॥ १९२॥

राजतः सलिलादग्नेश्चोरतः स्वजनादपि।
भयमर्थवतां नित्यं मृत्योः प्राणभृतामिव॥ १९३॥

राजा, जल, अग्नि, चोर और अपने बन्धुबान्धवोसेभी नित्य धनवान्को भय रहता है, जैसे प्राणधारियोको मृत्युसे॥ १९३॥

तथाहि-

ेखो-

जन्मनि क्लेशबहुले किं नु दुःखमतः परम्।
इच्छासम्पद्यतो नास्ति यच्चेच्छा न निवर्तते॥ १९४॥

बहुत क्लेशयुक्त इस जन्ममें इससे अधिक और क्या दुःख होगा कि,- इच्छा-नुसार सम्पद् नहीं मिलती और उस इच्छाकी निवृत्ति भी नहीं होती॥ १९४॥

अन्यच्च भ्रातः! शृणु-

भाई! औरभी श्रवणकर,-

धनं तावन्न सुलभं लब्धं कृच्छ्रेण रक्ष्यते।
लब्धनाशो यथा मृत्युस्तस्मादेतन्न चिन्तयेत्॥ १९५॥

एक तो धन सुलभ नहीं और प्राप्त किया हुआ धन कठिनतासे रक्षा किया जाता है और प्राप्त किये हुए धनका नाश होना मृत्युके समान है, इसकारण इसकी चिन्ता न करै॥ १९५॥

तृष्णां चेह परित्यज्य को दरिद्रः क ईश्वरः।
तस्याश्चेत्प्रसरो दत्तो दास्यं च शिरसि स्थितम्॥ १९६॥

इस संसारमें तृष्णाको छोडकर कौन दरिद्र है और कौन धनी है ? जो[illegible] उसको फैलाव दिया तो दासपन शिरपर स्थित है ॥ १९६ ॥

अपरं च-

औरभी,-

यद्यदेव हि वाञ्छेत ततो वाञ्छा प्रवर्तते ।
प्राप्त एवार्थतः सोऽर्थो यतो वाञ्छा निवर्तते ॥ १९[illegible]

ज्यों २ ज्यो इच्छा करता है, त्यों त्यों इच्छा होती ही जाती है, [illegible] ही है जिससे वाञ्छा निवृत्त हो ॥ १९७ ॥

किं बहुना मम पक्षपातेन । मयैव सहात्र कालो नीयताम् । [illegible]

और [illegible] क्या [illegible], ? आओ हम तुम मिलकर इस स्थानमें परम [illegible] [illegible] । कारण,-

आमरणान्ताः प्रणयाः कोपास्तत्क्षणभंगुराः ।
परित्यागाश्च निःसंगा भवन्ति हि महात्मनाम् ॥ १[illegible]

[illegible] और कोप उसी क्षणमें नष्ट होनेवाले, [illegible] [illegible] ॥ १९८ ॥

इति श्रुत्वा लघुपतनको ब्रूते-'धन्योऽसि मन्थर ! स[illegible] [illegible] । यतः-

यह सुनकर लघुपतनकने कहा,-'मन्थर ! तुमही धन्य हो ! हर एक प्रकार से सदाही तुम्हारा आश्रय लेना उचित है । कारण,-

सन्त एव सतां नित्यमापदुद्धरणक्षमाः ।
गजानां पङ्कमग्नानां गजा एव धुरंधराः ॥ १९९ ॥

साधुकी विपद्का भय साधुही निवारण करते है, कीचमे फँसे हुए हाथीको हाथीही निकालते हैं ॥ १९९ ॥

गुणिनि गुणज्ञो रमते नागुणशीलस्य गुणिनि परितोषः ।
अलिरेति वनात्कमलं न हि भेकस्त्वेकवासोऽपि ॥ २०० ॥

गुणका जाननेवालाही गुणीके संगमे सुख पाता है, निर्गुणी उस रसको प्यार नहीं करता, भौंरे अतिदूरसे सरोवरपर कमलका मधु आनकर पान करते हैं और मेडक वहां सदा रहते है तौभी मधुके मिठासको नहीं जानते ॥ २०० ॥

अपरं च-

और देखो,-

श्लाघ्यः स एको भुवि मानवानां
स उत्तमः सत्पुरुषः स धन्यः ।
यस्यार्थिनो वा शरणागता वा
नाशाभिभंगाद्विमुखाः प्रयान्ति ॥ २०१ ॥

पृथ्वीपर मनुष्योंमे वही बडाई करनेके योग्य है, और वही उत्तम सत्पुरुष धन्य है ! जिसके यहासे याचक और शरणागत निराश होकर विमुख नहीं जाते २०१॥

तदेवं ते स्वेच्छाहारविहारं कुर्वाणाः संतुष्टाः सुखं निवसन्ति।

इस प्रकारसे वे सब इच्छापूर्वक आहार विहार करते हुए सन्तुष्टचित्त और परम सुखसे वहा वास करने लगे ।

अथ कदाचिच्चित्राङ्गनामा मृगः केनापि त्रासितस्तत्रागत्य मिलितः । ततः पश्चादायांतं भयहेतुं संचिन्त्य मन्थरो जलं प्रविष्टः, मूषिकश्च विवरं गतः । काकोऽप्युड्डीय वृक्षमारूढः । ततो लघुपतनकेन सुदूरं निरूप्य भयहेतुर्न कोऽप्यायातीत्यालोचितम् । पश्चात्तद्वचनादागत्य पुनः सर्वे मिलित्वा तत्रैवो-

प्रविष्टाः। मन्थरेणोक्तम्–'भद्र मृग स्वागतम्' स्वेच्छया
खाद्याहारोऽनुभूयताम्। अत्रावस्थानेन वनमिदं सनाथं
क्रियताम्'। चित्राङ्गो ब्रूते–'लुब्धकत्रासितोऽहं भवतां
शरणमागतः।

इसके उपरान्त एक दिन चित्राङ्गनामक एक मृग किसीसे भय[illegible]
उस स्थानमें आनकर प्राप्त हुआ। आतेही उस मृगके पीछे कोई भयका का[illegible]
होगा, इसी शङ्कासे मन्थर जलमें व चूहेने गढ़ेमें प्रवेश किया और कौआ उड़
वृक्षपर बैठगया। [illegible] लघुपतनकने बहुत दूरतक देखकर कोई भय
कारण नहीं है ऐसा जाना। इसके उपरान्त फिर वे सब एकत्र हो उ[illegible]
स्थानपर आनकर बैठगये, मन्थरने पूछा,–'भद्र मृग! आपका मंगल तो है
इस स्थानमें इच्छानुसार भोजन पान कीजिये' यहां निवासकर इस वन[illegible]
कृतार्थ कीजिये'। चित्राङ्गने कहा–'मैं व्याधके भयसे भीत होकर आप[illegible]
शरणमें आया हूं।

लोभाद्वापि भयाद्वापि यस्त्यजेच्छरणागतम्॥
ब्रह्महत्यासमं तस्य पापमाहुर्मनीषिणः॥ २०२॥

जो लोभसे, भयसे वा और किसी कारणसे जो शरणागत हो उसे [illegible] है, [illegible]
[illegible] होता है ऐसा पण्डित जन कहते हैं॥ २०२॥

ई हो) और विपद्रक्षित (विपद्मे रक्षा करनेसे जिनके साथ मित्रता होजाती) ऐसे चार प्रकारके मित्र जानने चाहियें ॥ २०३ ॥

तदत्र भवता स्वगृहनिर्विशेषं स्थीयताम्' । तच्छ्रुत्वा मृगः सानन्दो भूत्वा स्वेच्छाहारं कृत्वा पानीयं पीत्वा जलासन्नवटतरुच्छायायामुपविष्टः । यतः—

इसलिये आप इस स्थानमे वास कीजिये, इस स्थानको आप अपनाही जाने'। यह सुनकर मृग परम आनन्दित हुआ और इच्छानुसार भोजन पान करके जलाशयके निकटवाले बडके पेडकी छायामे वैठ गया । कारण,—

कूपोदकं वटच्छाया श्यामा स्त्री चेष्टकागृहम् ।
शीतकाले भवेदुष्णमुष्णकाले च शीतलम् ॥ २०४ ॥

कुएका जल, वडके पेडकी छाया, श्यामा * स्त्री और ईंटोका बना हुआ घर, ये चारो शीतकालमें गरम और ग्रीष्मकालमें शीत होते हैं ॥ २०४ ॥

अथ मंथरेणोक्तम्—'सखे ! मृग ! एतस्मिन्निर्जने वने केन त्रासितोऽसि । कदाचित्किं व्याधाः संचरन्ति' । मृगेणोक्तम्—'अस्ति कलिंगविषये रुक्माङ्गदो नाम नरपतिः । स च दिग्विजयव्यापारक्रमेणागत्य चन्द्रभागानदीतीरे समावासितकटको वर्तते । प्रातश्च तेनात्रागत्य कर्पूरसरःसमीपे भवितव्यमिति व्याधानां मुखात्किंवदन्ती श्रूयते । तदत्रापि प्रातरवस्थानं भयहेतुकमित्यालोच्य यथावसरकार्यमारभ्यताम्' । तच्छ्रुत्वा कूर्मः सभयमाह—'मित्र ! जलाशयान्तरं गच्छामि' । काकमृगावप्युक्तवंतौ—'एवमस्तु' । ततो हिरण्यको विहस्याह—'जलाशयान्तरे प्राप्ते मन्थरस्य कुशलम् । स्थले गच्छतः कः प्रतीकारः । यतः—

इसके उपरान्त मन्थरने पूछा—'सखे मृग ! तुमने किस कारणसे भय पाया है ? इस निर्जन वनमें क्या व्याध लोगोकी गति है?' मृगने कहा—'कलिंग-

* जिसका शरीर शीतमे उष्ण और ग्रीष्ममे शीतल रहै, तपाये हुए सुवर्णकी समान उज्ज्वल हो उस पूर्णयौवना सोलहवर्षवाली सुन्दरीको श्यामा कहते हैं ।

देशमें रुक्माङ्गद नाम एक राजा है। वह दिग्विजय करता हुआ आकर चन्द्रभाग नदीके तीरमें डेरे डालकर पडा हुआ है। प्रातःकालको वह राजा इस कर्पूर सरोवरके निकट आवेगा। व्याध लोगोंके मुखसे मैंने ऐसा जनरव (अफवाह) सुना है इसलिये प्रातःकालको हमारा इस स्थानमें रहनाभी शंकाका हेतु है, यह विचारके जैसा करना हो वैसाकरो'। यह सुनकर कछुएने भीत होकर कहा-' मित्र! मैं तालाबके अन्दर जाताहूं'। काक और मृगने कहा,-'मित्र! यही उत्तम परामर्श है' हिरण्यकने यह सुन चिन्ताकरके कहा-'जलाशयमें भीतर जानेसे मन्थरका कुशल है परन्तु इस पृथ्वीपर चलनेवालेका क्या उपायहै? कारण,-

अम्भांसि जलजन्तूनां दुर्गं दुर्गनिवासिनाम्।
स्वभूमिः श्वापदादीनां राज्ञां सैन्यं परं बलम्॥ २०॥

कान्यकुब्ज देशमें वीरसेननामक एक राजा है। उसने तुगबलनामक राजपुत्र को, वीरपुरनामक नगरमें युवराज पदपर स्थापित किया। वह राजपुत्र अति समृद्धिशाली और युवा पुरुष था। उसने एक दिन अपने नगरमे घूमते२ लावण्यवती नामक एक पूर्णयौवना वनियेके पुत्रकी स्त्रीको देखा। इसको देखकर कामसे विह्वलचित्त हुआ और अपने घरमे जायकर उसने उस स्त्रीके निकट दूतीको भेजा। कारण,–

सन्मार्गे तावदास्ते प्रभवति पुरुषस्तावदेवेन्द्रियाणां
लज्जां तावद्विधत्ते विनयमपि समालम्बते तावदेव।
भ्रूचापाकृष्टमुक्ताः श्रवणपथगता नीलपक्ष्माण एते
यावल्लीलावतीनां न हृदि धृतिमुषो दृष्टिबाणाः पतन्ति२०७

तभीतक मनुष्य श्रेष्ठ मार्गमें स्थित रहता है, तभीतक इन्द्रियोका स्वामी होताहै और तवहीतक लाज रखता है, तभीतक विनयका अवलबन करताहै जवतक कि, सुन्दरियोकी भृकुटियोके धनुपसे खैंचकर छोडेहुए कानके मार्गको गये हुए धीरजके हरनेवाले ये नीले पलकरूप दृष्टिवाण हृदयमे नहीं लगते है॥ २०७॥

सापि लावण्यवती तदवलोकनक्षणात्प्रभृति स्मरशरप्रहारजर्जरितहृदया तदेकचित्ताऽभवत्। तथा ह्युक्तम्--

इस ओर वह लावण्यवती राजपुत्रके देखतेही कामवाणसे जर्जरितहृदय हो उसके प्रति अत्यन्त अनुरागिणी हुई। कहाभी है कि,--

असत्यं साहसं माया मात्सर्यं चातिलुब्धता।
निर्गुणत्वमशौचत्वं स्त्रीणां दोषाः स्वभावजाः॥ २०८॥

असत्य. साहस, माया, लोभ, ईर्ष्या, निर्गुणता, अपवित्रता ये स्त्रियोके स्वाभाविक दोप हैं *॥ २०८॥

अथ दूतीवचनं श्रुत्वा लावण्यवत्युवाच--'अहं पतिव्रता परपुरुषस्पर्शमात्रमपि न करोमि। यतः--

* यह अशिक्षिता व अरक्षिता नारीके ऊपर लग सकता है। स्त्रियोके अशिक्षित रहने और विलास सुनके बढनेपर ये सब दोष उत्पन्न होजाते हैं।

इसके उपरान्त दूतीके वचन सुनकर लावण्यवतीने कहा-'मै पतिव्रता पर पुरुषको छूतीभी नहीं । कारण,-

सा भार्या या गृहे दक्षा सा भार्या या प्रजावती ।
सा भार्या या पतिप्राणा सा भार्या या पतिव्रता॥२०९

वही भार्या है, जो गृह (कार्य) में चतुर है, वही भार्या है, जो सन्तानवती है, वही भार्या है, जिसका पति प्राणरूप है और वही भार्या है, जो पतिव्रता है ॥ २०९ ॥

कोकिलानां स्वरो रूपं नारीरूपं पतिव्रतम् ।
विद्या रूपं कुरूपाणां क्षमा रूपं तपस्विनाम् ॥ २१०

उपरान्त दूती वहासे चली गई, और तुङ्गबलके समीप जाकर सब वृत्तांत कहती भयी। उसको सुनकर तुङ्गबलने कहा,-' कामबाणसे हमारे मर्मस्थान विदीर्ण होते हैं, उसको विना पाये हम कैसे प्राण धारण करेंगे?'। दूतीने कहा;-'उसका स्वामीही उसको लाकर आपके हाथमे समर्पण करेगा'। राजकुमारने पूछा;-'यह कैसे होगा?' दूतीने कहा;- 'उपाय कियाजाय। कहाभी है कि;-

उपायेन हि यच्छक्यं न तच्छक्यं पराक्रमैः।
शृगालेन हतो हस्ती गच्छता पङ्कवर्त्मना ॥ २१२ ॥'

जो उपायसे होसकता है वह पराक्रमसे नहीं होसकता, कीचडके मार्गसे जातेहुए हाथीको शृगालने मारा ॥ २१२ ॥'

राजपुत्रः पृच्छति-'कथमेतत्'। सा कथयति-

राजपुत्रने पूछा,-'यह कैसे?' उसने कहा,-

कथा ८.

अस्ति ब्रह्मारण्ये कर्पूरतिलको नाम हस्ती। तमवलोक्य सर्वे शृगालाश्चिन्तयन्ति स्म-' यद्ययं केनाप्युपायेन म्रियते तदास्माकमेतद्देहेन मासचतुष्टयस्य स्वेच्छाभोजनं भवेत'। ततः तत्रैकेन वृद्धशृगालेन प्रतिज्ञा कृता-'मया बुद्धिप्रभावादस्य मरणं साधयितव्यम्'। अनन्तरं स वञ्चकः कर्पूरतिलकसमीपं गत्वा साष्टांगपातं प्रणम्योवाच-'देव! दृष्टिप्रसादं कुरु'। हस्ती ब्रूते-'कस्त्वम्। कुतः समायातः'। सोऽवदत्-' जम्बुकोऽहम्। सर्वैर्वनवासिभिः पशुभिर्मिलित्वा भवत्सकाशं प्रस्थापितः। यद्विना राज्ञाऽवस्थातुं न युक्तं तदत्राटवीराज्येऽभिषेक्तुं भवान्सर्वस्वामिगुणोपेतो निरूपितः।
यतः-

ब्रह्मारण्यमें कर्पूरतिलकनामक एक हाथी था। उसको देख सब शृगाल यह विचार किया कि, इस हाथीको जो किसी प्रकारसे मार लिया जाय तो इसकी देहके मांससे चौमासेका भोजन भलीभांतिसे चलै। इसके उपरान्त उनमेंसे

एक वृद्ध शृगालने यह प्रतिज्ञा की कि-'मै बुद्धिकी चतुरतासे इसको मारूंगा।'
इसके उपरान्त वह धूर्त शृगाल कर्पूरतिलक हस्तीके निकट जाय उस
साष्टाङ्ग प्रणाम कर कहने लगा —'महाराज ! इस ओर एकबार कृपादृष्टि की
ये'। हाथीने कहा,—'तुम कौन हो? कहांसे आये हो?' उसने कहा,-'मै शृ
हूं वनके समस्त पशुगणोने मिलकर हमको आपके निकट भेजा है। कि
राजाके हमारा इस स्थानमें रहना उचित नहीं है, इसलिये आपको सम
राजगुणोंसे विभूषित देखकर हमलोग आपकोही इस वनके राज्यपर अभिषे
करेंगे ऐसा हमने विचार किया है। क्यों कि—

यः कुलाभिजनाचारैरतिशुद्धः प्रतापवान् ।
धार्मिको नीतिकुशलः स स्वामी युज्यते भुवि॥१२३

कृशमपि विकलं वा व्याधितं वाऽधनं वा
पतिमपि कुलनारी दण्डभीत्याभ्युपैति ॥ २१६ ॥

सवही दण्डपानेके भयसे धर्ममार्गपर चलते है (नहीं तो) इस परवश जगत्मे समीचीन आचरण करनेवाला दुर्लभ है। कुलकी स्त्री दडके भयसे दुर्बल, व्याकुल, रोगी अथवा निर्द्धन पतिको भी अंगीकार करती है॥ २१६ ॥

तद्यथा लग्नवेला न विचलति तथा कृत्वा सत्वरमागम्यतां देवेन' इत्युक्त्वोत्थाय चलितः। ततोऽसौ राज्यलोभाकृष्टः कर्पूरतिलकः शृगालदर्शितवर्त्मना धावन्महापङ्के निमग्नः। हस्तिनोक्तम्-'सखे शृगाल! किमधुना विधेयम्। महापङ्के निपतितोऽहं म्रिये परावृत्य पश्य'। शृगालेन विहस्योक्तम्-'देव! मम पुच्छकाग्रावलम्बनं कृत्वोत्तिष्ठ। यन्मद्विधस्य वचसि त्वया प्रत्ययः कृतस्तदनुभूयतामशरणं दुःखम्। तथा चोक्तम्--

इसलिये अभिषेकको शुभ लग्न जवतक न निकल जाय तिससे पहलेही आप अतिशीघ्रतापूर्वक चले आवे'। बस, यही कहकर वह चला। इसके उपरान्त कर्पूरतिलक राज्यके लोभसे खिचकर शृगालके दिखायेहुए मार्गमें जैसेही दौडा कि वैसेही तरनेके अयोग्य कठिन कीचडमे फॅसगया। हस्तीने कहा,-'सखे शृगाल! अब क्या करूं? वडी कीचडमे पडाहू, मरा जाताहू, एकवार फिरकर देख'। शृगालने हसकर कहा—'स्वामिन् मेरी पूछका आगा धरके उठिये, आपने जो मुझ ऐसेकी वातका विश्वास कियाथा, यह उसकाही दु खरूप फल भोगो। कहाभी है कि,-

यदा सत्संगरहितो भविष्यसि भविष्यसि।
तदासज्जनगोष्ठीषु पतिष्यसि पतिष्यसि ॥ २१७ ॥

जव सत्सगसे रहित होगे, तव दुर्जनोकी सगतिमें पडोगे ॥ २१७ ॥'

ततो महापङ्के निमग्नो हस्ती शृगालैर्भक्षितः। अतोऽहं ब्रवीमि-'उपायेन हि यच्छक्यम्' इत्यादि॥ ततः कुट्टिन्युपदेशेन तं चारुदत्तनामानं वणिक्पुत्रं स राजपुत्रः सेवकं चकार। ततोऽसौ तेन सर्वविश्वासकार्येषु नियोजितः।

एकदा कुट्टिन्युपदेशेन तेन राजपुत्रेण स्नानानुलिप्तेन कनकरत्नालंकारधारिणा प्रोक्तम्। चारुदत्त ! मया मासमेकं गौरीव्रतं कर्तव्यम्। तदद्यारभ्य प्रतिरात्रमेकां कुलीनां युवतीमानीय समर्पय। सा मया यथोचितेन विधिना पूजयितव्या। ततः स चारुदत्तस्तथाविधां नवयुवतीमानीय समर्पयति। पश्चात्प्रच्छन्नः सन्किमयं करोतीति निरूपयति। स च तुङ्गबलस्तां युवतीमस्पृशन्नेव दूराद्वस्त्रालंकारगन्धचन्दनैः संपूज्य रक्षकं दत्त्वा तत्क्षणमेव प्रस्थापयति। अथ तेन वणिक्पुत्रेण तद्दृष्ट्वोपजातविश्वासेन लोभाकृष्टमनसा स्ववधूर्लावण्यवती समानीय समर्पिता। स च तुङ्गबलस्तां हृदयप्रियां लावण्यवतीं विज्ञाय ससंभ्रममुत्थाय निर्भरमालिङ्ग्यानन्दनिमीलिताक्षः प्रहृष्टमना बहुविधामनङ्गक्रीडां विधाय पर्यङ्के तया सह सुष्वाप। तदालोक्य वणिक्पुत्रश्चित्रलिखित इवेतिकर्तव्यतामूढः परं विषादमुपगतः। अतोऽहं ब्रवीमि—'स्वयं वीक्ष्य' इत्यादि॥ तथा त्वयापि भवितव्यम्

एक समय दूतीके उपदेशसे उस राजपुत्रने स्नान करके सब अङ्गोमे चन्दनादि लगाय और रत्न सुवर्णके गहने धारण कर वनियेंके पुत्रसे कहा;—चारुदत्त ! एकमास हमको गौरीव्रत * पालन करना होगा। इसलिये आजसे एक मासतक प्रत्येक रात्रिमें एक २ अच्छे कुलकी उत्पन्न हुई युवतीको यहां लाया करो। हम उनको शास्त्रानुसार यथोचित पूजा करके विदा करेगे। इसके उपरान्त चारुदत्त एक २ श्रेष्ठ कुलवाली युवा स्त्रीको राजपुत्रके पास लानेलगा। तिसके पीछे राजपुत्र इस युवतीको लेकर क्या करतेहैं, यह वनियेका पुत्र इसको गुप्तभावसे देखने लगा। राजपुत्र स्त्रीको स्पर्शभी न करके दूरसेही वस्त्र, आभूषण और पुष्प चन्दनादिसे उसकी पूजा करते, और पूजा समाप्तहोतेही उसके सगमे रक्षक देकर उसी क्षण उसको उसके गृहपर भिजवा देते है, यह देखकर उस राजपुत्रके ऊपर उस वनियेके पुत्रको सम्पूर्ण विश्वास होगया। वस्त्राभूषणके लोभसे खिचकर एक रात इसने अपनी स्त्री लावण्यवतीको लायकर समर्पण किया। वह राजकुमारभी उस हृदयप्रिया लावण्यवतीको पहचान सभ्रमसे, उसे भलीभाँति लिपटाय आनन्दसे नेत्र वदकर लेता भया, और पुलकित हृदयसे अनेकप्रकारकी अनङ्गक्रीडा करके उसके साथ पलगपर शयन किया। यह देखकर वह वनियेका पुत्र अपनी करतूतसे मूढ हो चित्रपुतलीकी समान खडा रहगया, और विषम पश्चात्तापमे भस्म होने लगा। इसी लिये मैं कहता हू—'स्वय वीक्ष्य' इत्यादि, पीछेसे तुमलोगोको वैसेही पछताना पडेगा। परन्तु मन्थर उसके हितकारी वचन न सुनकर अत्यन्त भयके मारे हतज्ञान हो उस जलाशयको छोड गमन करने लगा। वे हिरण्यकआदि वन्धुगणभी स्नेहप्रयुक्त अनि-

---

* गौरीव्रत—यह व्रत तृतीया कल्पमे आरम्भ होता है। शक्तिरूपा कुलाङ्गनाकी पूजासे आदिशक्ति भगवती गौरीकी प्रसन्नता प्राप्त करनाही इस व्रतका उद्देश्य है। रूपयौवन सम्पन्ना शीलसौभाग्यशालिनी कुलनारीको इष्ट देवी समझकर भक्तिभाव और षोडशोपचारसे रात्रिके समय एकान्तमे पूजा करनी होती है। पूजा समाप्त होनेपर उसको भोजन कराके बडे २ मोलके वस्त्राभूषण इत्यादि देकर विदा किया जाता है। साधक स्त्रीको आदिशक्ति भगवतीकी प्रतिनिधि करके पूजा करै, उनको साक्षात् भगवती समझे, और पूर्वापर उनके प्रति वैसीही भक्ति रक्खे। साधकके मनमे किंचित् विकार उत्पन्न होनेसेही व्रत खण्डित हो जाताहै, और उसको नरकगामी होना पडताहै।

दूरसे आशंका करके उसके पीछे २ चले। वह मन्थर स्थलमार्गमें जा रहा था कि, इतनेमें एक व्याधने वनमें घूमते २ उसको देखा। उसने कछुएको पकड़के उठाय धनुषमें बांधकर कहा,—अहो ! मेरा परिश्रम सफल हुआ ... भूख प्यासके क्लेशसे व्याकुल भ्रमण करता वह अपने घरकी ओर प्रस्थान किया। इसके उपरान्त वे मृग, काक और चूहा शोकसागरमें डूबकर उसके पीछे २ चले, जिसके पीछे हिरण्यक यह कहकर विलाप करने लगा,—

'एकस्य दुःखस्य न यावदन्तं
गच्छाम्यहं पारमिवार्णवस्य ।
तावद्द्वितीयं समुपस्थितं मे
छिद्रेष्वनर्था बहुलीभवन्ति ॥ १७८ ॥

इहैव दृष्टानि मयैव तानि
जन्मान्तराणीव दशान्तराणि ॥ २२१ ॥

अपने कर्मके फैलावसे किये गये कालान्तरमें होनेवाले हैं शुभाशुभ जिनसे से दशान्तरोंको जन्मान्तरकी नाई मैने यही अर्थात् इसी जन्ममे निश्चय करके खा ॥ २२१ ॥

अथवेत्थमेवैतत्-

अथवा इस ससारकी यही गति है,-

कायः संनिहितापायः संपदः पदमापदाम्।
समागमाः सापगमाः सर्वमुत्पादि भंगुरम् ॥ २२२ ॥

शरीर तो दु खसे भरा है, सपत्ति आपत्तिका स्थान है, सयोग वियोगका ाथ है, सब उत्पत्तिमान् वस्तु नाशवान् हैं ॥ २२२ ॥

पुनर्विमृश्याह-

फिर विचाकर बोला,-

शोकारातिभयत्राणं प्रीतिविश्रम्भभाजनम्।
केन रत्नमिदं सृष्टं मित्रमित्यक्षरद्वयम् ॥ २२३ ॥

शोक और शत्रुभयसे रक्षा करनेवाला प्रेम व विश्वासका पात्र "मित्र" इन दो (अमृतमय) अक्षररत्नोंको किसने बनाया है? ॥ २२३ ॥

किंच-

औरभी-

मित्रं प्रीतिरसायनं नयनयोरानन्दनं चेतसः
पात्रं यत्सुखदुःखयोः सह भवेन्मित्रेण तद्दुर्लभम्।
ये चान्ये सुहृदः समृद्धिसमये द्रव्याभिलाषाकुला-
स्ते सर्वत्र मिलन्ति तत्त्वनिकषग्रावा तु तेषां विपत्॥२२४॥

जो मित्र नेत्रोंकी प्रीतिरसका स्थान है, चित्तका आनद देनेवाला, और सुख दु.खोका पात्र है,उस मित्रका साथ हो सो दुर्लभ है। जो और मित्र हैं वह धनसपत्तिके समयमें द्रव्यकी इच्छासे व्याकुल हो सब नगरोंमें मिलते हैं। उनकी यथार्थता जाननेके लिये विपत्तिही कसौटीरूप है ॥ २२४ ॥

इति बहु विलप्य हिरण्यकश्चित्राङ्गलघुपतनकावाह 'यावदयं व्याधो वनान्न निःसरति तावन्मन्थरं मोचयितुं यत्नः क्रियताम्'। तावूचतुः—'सत्वरं यथाकार्यमुपदिश'। हिरण्यको ब्रूते—'चित्राङ्गो जलसमीपं गत्वा मृतमिवात्मानं निश्चेष्टं दर्शयतु। काकश्च तस्योपरि स्थित्वा चञ्च्वा किमपि विलिखतु। नूनमनेन मृगमांसार्थिना लुब्धकेन तत्र कच्छपं परित्यज्य सत्वरं गन्तव्यम्। ततोऽहं मन्थरस्य बन्धनं छेत्स्यामि। संनिहिते लुब्धके भवद्भ्यां पलायितव्यम्'। अथ चित्राङ्गलघुपतनकाभ्यां शीघ्रं गत्वा तथानुष्ठिते सति स व्याधः श्रान्तः पानीयं पीत्वा तरोरधस्तादुपविष्टस्तथाविधं मृगमपश्यत्। ततः कच्छपं जलसमीपे निधाय कर्तरिकामादाय प्रहृष्टमना मृगान्तिकं चलितः। अत्रान्तरे हिरण्यकेनागत्य मन्थरस्य बन्धनं छिन्नम्। स कूर्मः सत्वरं जलाशयं प्रविवेश। स मृग आसन्नं तं व्याधं विलोक्योत्थाय द्रुतं पलायितः। प्रत्यावृत्य लुब्धको यावत्तरुतलमायाति तावत्कूर्ममपश्यन्नचिन्तयत्—'उचितमेवैतन्ममासमीक्ष्यकारिणः। यतः—

ा अवसरमें हिरण्यकने आनकर बन्धन काट दिया कि, जिससे कछुवा अति-
घ्र जलमें प्रवेश करगया। इस ओर वे मृग—काकभी व्याधको निकटवर्त्ती देख
कर अतिशीघ्रतासे भागे। व्याधने वृक्षके तले फिर आनेके समय देखा कि,
ह कछुआभी उस स्थानमें नहीं; तब विचारने लगा;-'कि यह मेरे बिना विचार
रनेका योग्यही फल मिला है।

यो ध्रुवाणि परित्यज्य अध्रुवाणि निषेवते।
ध्रुवाणि तस्य नश्यन्ति अध्रुवं नष्टमेव हि ॥ २२५ ॥'

क्योंकि;-जो निश्चित को छोडकर अनिश्चितकी सेवा करता है, उसका
निश्चित नष्ट होजाता है, और अनिश्चित तो नष्ट हैही ॥ २२५ ॥'

ततोऽसौ स्वकर्मवशान्निराशः कटकं प्रविष्टः। मन्थरादयः सर्वे मुक्तापदः स्वस्थानं गत्वा यथासुखमास्थिताः॥

इसके पीछे वह व्याध अपने कर्मके दोषसे मनोरथरहित होकर अपने डेरेमें
प्रवेश करता भया। और वे मन्थरादिकभी समस्त विपत्तिसे छूटकर परम सुखसे
वास करने लगे।

अथ राजपुत्रैः सानन्दमुक्तम्-'सर्वं श्रुतवन्तः सुखिनो वयम्। सिद्धं नः समीहितम्'। विष्णुशर्मोवाच-'एतावता भवतामभिलषितं संपन्नम्। अपरमपीदमस्तु-

इसके पीछे सब राजपुत्र आनदसहित कहने लगे कि-'हम यह समस्त सुनकर
परम सुखी हुए। हमारा मनोरथ सिद्ध हुआ'। विष्णुशर्माने कहा,-'तुम लोगोका
मनोरथ सिद्ध होनेपरभी हम और यह प्रार्थना करते हैं कि;-

मित्रं प्राप्नुत सज्जना जनपदैर्लक्ष्मीः समालम्ब्यतां
भूपालाः परिपालयन्तु वसुधां शश्वत्स्वधर्मे स्थिताः।
आस्तां मानसतुष्टये सुकृतिनां नीतिर्नवोढेव वः
कल्याणं कुरुतां जनस्य भगवांश्चन्द्रार्धचूडामणिः ॥२२६॥'

इति श्रीविष्णुशर्मसंगृहीते हितोपदेशे मित्रलाभो नाम प्रथमः कथासंग्रहः समाप्तः॥

सुहृद्भेदः ।

अथ राजपुत्रा ऊचुः—'आर्य ! मित्रलाभः श्रुतस्तावदस्माभिः । इदानीं सुहृद्भेदं श्रोतुमिच्छामः' । विष्णुशर्मोवाच—'सुहृद्भेदं तावच्छृणुत, यस्यायमाद्यः श्लोकः—

इसके उपरान्त राजपुत्रोंने कहा—'आर्य ! हमने "मित्रलाभ" श्रवण किया । इस समय सुहृद्भेद श्रवण करनेकी इच्छा करते हैं, विष्णुशर्माने कहा—" सुहृद्भेद" श्रवण करो । जिसका यह प्रथम श्लोक है—

वर्द्धमानो महास्नेहो मृगेन्द्रवृषयोर्वने ।
पिशुनेनातिलुब्धेन जम्बुकेन विनाशितः ॥ १ ॥ '

वनमे सिंह और बैलका वढा हुआ अत्यन्त स्नेह अतिलोभी चुगल गीदडने नष्ट किया ॥ १ ॥'

राजपुत्रैरुक्तम्—' कथमेतत् ? ' । विष्णुशर्मा कथयति—

राजपुत्रोंने पूछा—'यह किस प्रकारसे हुआ ?' विष्णुशर्माने कहा—

अस्ति दक्षिणापथे सुवर्णवती नाम नगरी । तत्र वर्धमानो नाम महाधनः वणिङ्निवसति । तस्य प्रचुरेऽपि वित्तेऽपरान्बन्धूनतिसमृद्धान्समीक्ष्य पुनरर्थवृद्धिः करणीयेति मतिर्बभूव । यतः—

दाक्षिण देशमें सुवर्णवतीनामक एक नगरी है । वहांपर वर्द्धमाननामक एक अति धनवान् वनिया वास करता था । वह अत्यन्त धनवान् होनेपरभी अपने वन्धु वान्धवोंको अधिक धनवान् निहार औरभी अपनी सम्पत्ति वढानेकी इच्छा करता भया ।

अधोऽधः पश्यतः कस्य महिमा नोपचीयते ।
उपर्युपरि पश्यन्तः सर्व एव दरिद्रति ॥ २ ॥

कारण—नीचेको देखते हुए किसकी महिमा नहीं वढती ? और ऊपरको देखनेवाले सवही दरिद्री होते हैं । (अर्थात् ज्यों ज्यो वडी अवस्था दृष्टिमें

आवेगी त्यों त्यों नीची अवस्थावाला बडी अवस्थाओंको प्राप्त करेगा
जिसने जाना कि, मैं बडा होगया और उन्नति करनेका यत्न नहीं किया
दरिद्री होजाता है) ॥ २ ॥

अपरं च-

और देखो,-

> **ब्रह्महापि नरः पूज्यो यस्यास्ति विपुलं धनम् ।**
> **शशिनस्तुल्यवंशोऽपि निर्धनः परिभूयते ॥ ३ ॥**

ब्रह्म हत्या करनेवालाभी मनुष्य जिसके पास बहुत धन है सन्मान
है। और चन्द्रमाके समान वंशमें उत्पन्न हुआ हो परन्तु निर्धन होनेसे
सबसे तिरस्कार किया जाता है ॥ ३ ॥

उसका भाग्य कृतकृत्य होकर उसकी उस संपत्तिको नहीं वढाता, अर्थात् जिसने संतोष करलिया उसका धन नहीं वढता ॥ ६ ॥

अपरं च–

औरभी:–

> **निरुत्साहं निरानन्दं निर्वीर्यमरिनन्दनम् ।**
> **मा स्म सीमन्तिनी काचिज्जनयेत्पुत्रमीदृशम् ॥ ७ ॥**

उत्साहरहित, आनंदहीन, शत्रुके आनन्दको बढानेवाले, ऐसे पुत्रको कभी कोई स्त्री उत्पन्न न करै ॥ ७ ॥

तथा चोक्तम्–

और यह कहा भी है कि,--

> **अलब्धं चैव लिप्सेत लब्धं रक्षेदवेक्षया ।**
> **रक्षितं वर्द्धयेत्सम्यग्वृद्धं तीर्थेषु निक्षिपेत् ॥ ८ ॥**

अलब्ध (धन) के प्राप्त करनेकी इच्छा करै, प्राप्त (धन) को क्षयसे रक्षा करै, रक्षितको भली भातिसे वढावै और बढेहुए (धन) को तीर्थ करनेमे (अर्थात् सुकर्मोंमें) लगावै ॥ ८ ॥

यतो लब्धुमिच्छतोऽर्थयोगादर्थस्य प्राप्तिरेव । लब्धस्याप्यरक्षितस्य निधेरपि स्वयं विनाशः । अपि च । अवर्धमानश्चार्थः कालेन स्वल्पव्ययोऽप्यञ्जनवत्क्षयमेति । अनुपभुज्यमानश्च निष्प्रयोजन एव सः ।

कारण कि, यदि अप्राप्त वस्तुके लाभमें यत्न कियाजाय, तो धन लगानेसे उसकी प्राप्ति होती है और जो प्राप्त धनकी रक्षामें यत्न न कियाजाय तो अमोल निधिभी नष्ट होती है और प्राप्त हुआ धन न वढानेसे भी वह थोडेसेही व्ययमें अजनके समान नष्ट होजाता है (थोडा २ अजन लगानेसेभी पुडियाकी इतिश्री होजाती है) और धनका भोग न करनेसेभी उसका रहना वृथाही है।

तथा चोक्तम्–

कहाभी है कि,--

> **अञ्जनस्य क्षयं दृष्ट्वा वल्मीकस्य च संचयम् ।**
> **अवन्ध्यं दिवसं कुर्याद्दानाध्ययनकर्मसु ॥ ९ ॥**

क्रमसे अञ्जनका क्षय और वमईका सञ्चय देखकर , जरा २ सी [illegible]
होनेसे कितनी ऊंची वमई बन जाती है) दिनको वृथा न जाने देकर [illegible]
अध्ययन करे ॥ ९ ॥

इति संचिन्त्य वर्द्धमानः नन्दकसंजीवकनामानौ वृषभौ धुरि नियोज्य शकटं नानाविधद्रव्यपूर्णं कृत्वा वाणिज्येन गतः काश्मीरं प्रति ।

वर्द्धमान [illegible] इस प्रकारसे विचारके संजीवक और नन्दक [illegible] दो बैलोंको गाड़ीमें जोतकर उसको अनेक प्रकारके वाणिज्य [illegible] व्यापार करनेके लिये काश्मीरको गया ।

यतः-

[illegible]

विस्मय सब प्रकारसे त्यागनेके योग्य है। (क्योंकि) यह सब कामोंका बाधक है, इस कारण विस्मय छोड सिद्ध करने योग्य वस्तुमे सिद्धि करै ॥ १२ ॥'

इति संचिन्त्य संजीवकं तत्र परित्यज्य वर्धमानः पुनः स्वयं धर्मपुरं नाम नगरं गत्वा महाकायमन्यं वृषभमेकं समानीय धुरि नियोज्य चलितः। ततः संजीवकोऽपि कथं कथमपि खुरत्रये भरं कृत्वोत्थितः। यतः–

वह यह विचार सञ्जीवकको वहांही छोड धर्मपुरनामक नगरमे जाकर और एक बडा भारी वृषभ मोल ले आया, और उस बैलको छकडेमें जोडकर उस स्थानसे चला गया। तब सजीवकभी किसीप्रकारसे तीन खुरपर भार देकर उठा। कारण,–

निमग्नस्य पयोराशौ पर्वतात्पतितस्य च।
तक्षकेणापि दष्टस्य त्वायुर्मर्माणि रक्षति ॥ १३ ॥

पर्वतसे गिरे हुएकी, समुद्रमें डूबे हुएकी, तक्षकसेभी काटे हुएकी आयु मर्मस्थानोंकी रक्षा करती है ॥ १३ ॥

अपरं च–

औरभी देखो,–

नाकाले म्रियते जन्तुर्विद्धः शरशतैरपि।
कुशाग्रेणैव संस्पृष्टः प्राप्तकालो न जीवति ॥ १४ ॥

सौ बाणोंसे विंधा हुआ शरीरधारीभी अकालमे (जब उसके मरनेका समय न हो) नहीं मरता। और काल आनेपर तो कुशाकी नोकसे छुआ हुआ भी नहीं जीता। "जाको राखै साइयां मार सके नहिं कोय। बाल न बंका कर सके सब जग वैरी होय" ॥ १४ ॥

यतः–

कारण,–

अरक्षितं तिष्ठति दैवरक्षितं
सुरक्षितं दैवहतं विनश्यति ॥
जीवत्यनाथोऽपि वने विसर्जितः।
कृतप्रयत्नोऽपि गृहे न जीवति ॥ १५ ॥

१ त्वायुर्मर्माणि इत्यपि पठ्यते।

मनुष्योंसे न रक्षा कीहुई वस्तु, प्रारब्धसे रक्षा कीहुई स्थित रहती है; औ मनुष्योंने चाहे रक्षाभी की हो परन्तु प्रारब्धने उसे मारा हो ऐसी वस्तु न होजाती है। अनाथ, वनमें पडा हुआभी जीता है और यत्नपूर्वक घरमे रक्षा हुआ भी नहीं जीता॥ १९॥

ततो दिनेषु गच्छत्सु संजीवकः स्वेच्छाहारविहारं कृत्वार ण्ये भ्राम्यन्हृष्टपुष्टाङ्गो बलवन्ननाद। तस्मिन्वने पिङ्गलकनाम सिंहः स्वभुजोपार्जितराज्यसुखमनुभवन्निवसति। तथ चोक्तम्-

पीछे कुछ दिन वीतनेपर संजीवकभी उस महावनमे विचरण कर इच्छानुसा आहारादि पायकर हृष्टपुष्ट हो और अत्यन्त तेजीसे रभाने लगा। उस वन पिङ्गलकनामक एक सिंह था, वह अपने पराक्रमसे उस वनमें राजा होक राजभोग करताहुआ महासुखसे वास करताथा। कहाभी है कि,-

नाभिषेको न संस्कारः सिंहस्य क्रियते मृगैः।
विक्रमार्जितराज्यस्य स्वयमेव मृगेन्द्रता॥ २०॥

पराक्रमसे राज्य प्राप्त करनेवाले सिंहका न मृग अभिषेक करते, न संस्का करतेहैं, पराक्रमसे उपार्जित राज्यकी प्रभुता सिंहको अपनेआपही है॥ २०॥

स चैकदा पिपासाकुलितः पानीयं पातुं यमुनाकच्छमग च्छत्। तेन च तत्र सिंहेनाननुभूतपूर्वमकालघनगर्जितमिव संजीवकनर्दितमश्रावि। तच्छ्रुत्वा पानीयमपीत्वा सचकित परावृत्य स्वस्थानमागत्य किमिदमित्यालोचयंस्तूष्णीं स्थितः। स च तथाविधः करटकदमनकाभ्यामस्य मन्त्रिपुत्राभ्यां शृगालाभ्यां दृष्टः। तं तथाविधं दृष्ट्वा दमनकः करटकमाह- 'सखे करटक! किमित्ययमुदकार्थी स्वामी पानीयमपीत्वा सचकितो मन्दंमन्दमवतिष्ठते'। करटको ब्रूते-'मित्र दमनक! अस्मन्मतेनास्य सेवैव न क्रियते। यदि तथा भवति तर्हि किमनेन स्वामिचेष्टानिरूपणेनास्माकम्। यतोऽनेन राज्ञा वि नापराधेन चिरमवधीरिताभ्यामावाभ्यां महद्दुःखमनुभूतम्।

वह शेर एक दिन प्यासा होकर जलपान करनेके लिये यमुनाके किनारे या। उस सिंहने वहांपर पहले कभी न सुना हुआ ऐसा अकालके मेघकी समान स संजीवकका हूकना सुना। वह उसको सुनकर विनाही जल पिये भयभीत । उस स्थानसे चला आया, और अपने स्थानपर आकर यह क्या बात है? ही विचारते विचारते चुपचाप होगया। इसके उपरान्त उसके मत्रीके बेटे रटक और दमनक नामक दो शृगालोने उस सिंहकी वह अवस्था देखी, सिंहको स प्रकारसे देखकर दमनकने करटकसे कहा-'सखे करटक! यह क्या स्वामी ल पीनको जायकर विनाही जलपान किये चुपचुपाते आये?' करटकने कहा-मित्र दमनक! हमारी मतिसे तो ऐसे स्वामीकी सेवा करनीही उचित नहीं फिर सके कार्यको खोजनेका क्या फल है? क्योंकि इस राजाके हमारे प्रति विना दोषके वहुत दिनोसे अनादर दिखलानेसे हम लोगोने अत्यन्त दुःख पाया है।

सेवया धनमिच्छद्भिः सेवकैः पश्य यत्कृतम्।
स्वातन्त्र्यं यच्छरीरस्य मूढैस्तदपि हारितम् ॥ १७ ॥

राजामें धनकी इच्छा किये हुए सेवकोंने जो किया उसे देखो कि, जो शरीरकी स्वतत्रता थी उसेभी मूर्खोने गँवादिया ॥ १७ ॥

अपरं च-

औरभी देखो,--

शीतवातातपक्लेशान्सहन्ते यान्पराश्रिताः।
तदंशेनापि मेधावी तपस्तप्त्वा सुखी भवेत् ॥ १८ ॥

शीत, वात, धूपके क्लेशोंको पराधीन होकर सहते हैं; उनका आधा क्लेशभी तपस्यामे देनेसे बुद्धिमान् सिद्धि पाकर सुखी होताहै ॥ १८ ॥

अन्यच्च-

औरभी.-

एतावज्जन्मसाफल्यं यदनायत्तवृत्तिता।
ये पराधीनतां यातास्ते वै जीवन्ति के मृताः ॥ १९ ॥

पराधीनतासे आजीविका न होनाही जन्मकी सफलता है, जो पराधीनताको प्राप्त हुएभी जीते है तो मरे कौन है? (अर्थात् पराधीन मरेही हैं) "पराधीन सपनेहु सुख नाहीं" ॥ १९ ॥

अपरं च-

औरभी-

एहि गच्छ पतोत्तिष्ठ वद मौनं समाचर ।
एवमाशाग्रहग्रस्तैः क्रीडन्ति धनिनोऽर्थिभिः ॥ २० ॥

आ, जा, बैठ, उठ, बोल, चुपरह इसप्रकार आशारूप ग्रहसे ग्रसे हुए याच (मँगता) लोगोंके साथ धनवान् लोग क्रीडा किया करते हैं ॥ २० ॥

किंच-

और,-

अबुधैरर्थलाभाय पण्यस्त्रीभिरिव स्वयम् ।
आत्मा संस्कृत्य संस्कृत्य परोपकरणीकृतः ॥ २१ ॥

वेश्या जिसप्रकार धन पानेके लिये सिंगार कर २ के अपने शरीरसे परा उपकार करतीहै; ऐसेही मूढलोगोंने धन प्राप्त करनेके लिये अपने शरीर भल भांतिसे संस्कार करके परायेही कार्यके निमित्त किये हैं ॥ २१ ॥

अन्यच्च-

औरभी-

या प्रकृत्यैव चपला निपतत्यशुचावपि ।
स्वामिनो बहु मन्यन्ते दृष्टिं तामपि सेवकाः ॥ २२ ॥

जो दृष्टि स्वभावसेही चंचल अपवित्र परभी गिरती है, स्वामीकी उस दृष्टि भी नौकर लोग बहुतही मानते हैं ॥ २२ ॥

अपरं च-

औरभी-

मौनान्मूर्खः प्रवचनपटुर्वातुलो जल्पको वा
क्षान्त्या भीरुर्यदि न सहते प्रायशो नाभिजातः ।
धृष्टः पार्श्वे वसति नियतं दूरतश्चाप्रगल्भः
सेवाधर्मः परमगहनो योगिनामप्यगम्यः ॥ २३ ॥

सेवाधर्म अत्यन्त अगम है, यह योगी लोगोंकोभी अगम्य है, क्योंकि जो चुप चाप रहै तो उसको मूर्ख कहते, वचन बोलनेमें चतुर हो तो उसको बातू

हते, या वडा बोलनेवाला कहते, जो क्षमावान् हो तो उसको डरपोक कहते, जो सहनशील न हो तो अकुलीन (नीच) कहते, यदि निकटही बैठ जाय तो उसको असभ्य (बदतमीज) कहते, यदि दूरही खडा रहै तो उसको मीठा कहते हैं ॥ २३ ॥

विशेषतश्च,-

विशेष करके,-

प्रणमत्युन्नतिहेतोर्जीवितहेतोर्विमुञ्चति प्राणान्।
दुःखीयति सुखहेतोः को मूढः सेवकादन्य ॥ २४ ॥'

वडा होनेके लिये नवता है, पराये जीवनकी रक्षा करनेको प्राणतक छोड देता है; परको सुखी करनेके लिये आप दुःखीतक होताहै, इसलिये नौकरसे अधिक मूर्ख और कौन है ॥ २४ ॥'

दमनको ब्रूते-'मित्र! सर्वथा मनसापि नैतत्कर्तव्यम्। यतः-

दमनकने कहा;-' हे मित्र! तुम ऐसा मनमे मत लाओ। कारण,-

कथं नाम न सेव्यन्ते यत्नतः परमेश्वराः।
अचिरेणैव ये तुष्टाः पूरयन्ति मनोरथान् ॥ २५ ॥

जो लोग प्रसन्न होकर अल्पकालमेंही मनकी कामना पूर्ण कर देते हैं ऐसे जो धनी लोग हैं वे किसकारण यत्न सहित सेवा करनेके योग्य नहीं हैं? ॥ २५ ॥

अन्यच्च पश्य-

औरभी देखो,-

कुतः सेवाविहीनानां चामरोद्धूतसंपदः।
उद्दण्डधवलच्छत्रं वाजिवारणवाहिनी ॥ २६ ॥'

सेवारहित लोगोंको चामर सहित वडी भारी सम्पत्ति कहां? और दंड, श्वेत छत्र, गज और सेना कहा? ॥ २६ ॥'

करटको ब्रूते-'तथापि किमनेनास्माकं व्यापारेण यतोऽव्यापारेषु व्यापारः सर्वथा परिहरणीयः। पश्य-

करटकने कहा.-'तथापि पराये कार्यमें हम लोगोंको हाथ डालनेसे क्या फल? विना कारणके कोई कभी पराये कार्यमें हाथ देने न जाय। देखो,-

अव्यापारेषु व्यापारं यो नरः कर्तुमिच्छति ।
* स भूमौ निहतः शेते कीलोत्पाटीव वानरः ॥ २७

कीली उखाडकर एक वानर जिस प्रकार मृतक होगया था अनर्थक प कार्यमें हाथ डालनेसे उस वानरकीही नाई दुर्गति होती है ॥ २७ ॥'

दमनकः पृच्छति-'कथमेतत्?' । करटकः कथयति-

दमनकने पूछा;-'यह किस प्रकार ?' । करटकने कहा,-

कथा १.

मागधदेशे धर्मारण्यसंनिहितवसुधायां शुभदत्तनाम्ना व यस्थेन प्रासादः कर्तुमारब्धः। तत्र करपत्रदार्यमाणैकस्तम्भः कियद्दूरस्फाटितस्य काष्ठखण्डद्वयमध्ये कीलकः सूत्रधारे निहितः । तत्र बलवान्वानरयूथः क्रीडन्नागतः तेष्वेको वान कालप्रेरित इव तं कीलकं हस्ताभ्यां धृत्वोपविष्टः त तस्य मुष्कद्वयं लम्बमानं काष्ठखण्डद्वयाभ्यन्तरे प्रविष्टम अनन्तरं स च सहजचपलतया महता प्रयत्नेन तं कीलकम कृष्टवान । आकृष्टे च कीलके काष्ठाभ्यां चूर्णिताण्डद्वयः प त्वं गतः। अतोऽहं ब्रवीमि-'अव्यापारेषु व्यापारम्' इत्यादि दमनको ब्रूते-'तथापि स्वामिचेष्टानिरूपणं सेवकेनावश्य करणीयम्' । करटको ब्रूते-'सर्वस्मिन्नधिकारे य एव नियुक्त प्रधानमन्त्री स करोतु । यतोऽनुजीविना पराधिकारचर्चा सर्वथा न कर्तव्या । पश्य-

चंचलताके वश प्राणपनसे यत्न करके उस कीलीको खेचने खांचने लगा। उस वानरने जैसेही उस कीलीको उखाडलिया कि वैसेही लट्ठेके दोनो भागोंके चिपटनेसे उसके दोनो अंडकोष चूर २ होगये। वानर उसी समय मृतक होगया। इसी लिये मैंने कहाथा कि,—'अनर्थक पराये कार्यमें हाथ नहीं देना'। दमनकने कहा,—'तथापि स्वामीका कार्य निरूपण करना सेवकको अवश्य कर्तव्य है'। करटक बोला--'जिसके हाथमे समस्त कार्यका भार है, वह प्रधान मन्त्रीही क्यो न करै? क्योकि सेवकको अनाधिकार (जिसमें अधिकार नहीं) ऐसी चर्चा करना उचित नहीं है। देखो--

पराधिकारचर्चां यः कुर्यात्स्वामिहितेच्छया।
स विषीदति चीत्काराद्गर्दभस्ताडितो यथा॥ २८॥'

एक गधा चिल्लाकर जिसप्रकारसे मारा गयाथा, वैसेही जो पुरुष स्वामीका हित करनेकी इच्छासे जिसमे अधिकार नहीं है ऐसी चर्चा करता है, वहभी ऐसीही दुर्गति पाता है॥ २८॥'

दमनकः पृच्छति--'कथमेतत्?'। करटको ब्रूते--

दमनकने पूछा, 'यह किसप्रकार?' करटक बोला—

कथा २.

अस्ति वाराणस्यां कर्पूरपटो नाम रजकः। स चैकदाभिनववयस्कया वध्वा सह चिरं निधुवनं कृत्वा निर्भरमालिङ्ग्य प्रसुप्तः। तदनन्तरं तद्गृहद्रव्याणि हर्तुं चौरः प्रविष्टः। तस्य प्रांगणे गर्दभो बद्धस्तिष्ठति, कुक्कुरश्चोपविष्टोऽस्ति। अथ गर्दभः श्वानमाह--'सखे! भवतस्तावदयं व्यापारः। तत्किमिति त्वमुच्चैः शब्दं कृत्वा स्वामिनं न जागरयसि'। कुक्कुरो ब्रूते—'भद्र! मम नियोगस्य चर्चा त्वया न कर्तव्या। त्वमेव किं न जानासि यथा तस्याहर्निशं गृहरक्षां करोमि। यतोऽयं चिरान्निर्वृतो ममोपयोगं न जानाति। तेनाधुनापि ममाहारदाने मन्दादरः। विना विधुरदर्शनं स्वामिन उपजीविषु मन्दादरा भवन्ति'। गर्दभो ब्रूते—'शृणु रे वर्बर!—

बनारसमें कर्पूरपटनामक एकधोबी रहता था । वह एकदिन नई युवा अवस्था वाली अपनी स्त्रीके संग क्रीडा कौतुक करके गाढी नींदमें सो रहा था इतनेमें उसका धनआदि चुरानेकी इच्छासे एक चोरने उसके गृहमें प्रवेश किया । उसके आगनमें एक गधा बँधा था, एक कुत्ताभी वहां बैठा था । उस चोरको देखकर गधा कुत्तेसे बोला;--'मित्र ! यह कार्य तो तुम्हारा है, फिर तुम किसकारण चिल्लाकर स्वामीको नहीं जगा देते हो ?' कुत्ता बोला,–'हे श्रेष्ठ ! हमारे कार्यके लिये तुम मत चिन्ता करो; तुम यह तो जानते हो कि मैं इसके गृहकी जैसी रक्षा किया करताहूं, परन्तु यह पुरुष बहुत दिनोंसे अपने सुखमें मग्न रहकर मुझसे जो उपकार पाता है, उसको एकबारभी विचारकर नहीं देखता, और इस कारणसे मुझको आहार देनेमेंभी इसका इतना अयत्न है; क्योंकि भय के बिना स्वामी अपने अधीनोंपर अनादर रखते हैं' । यह सुनकर गधेने कहा,-'सुन रे मूर्ख !--

याचते कार्यकाले यः स किं भृत्यः स किं सुहृत्' ।

कार्यके समय जो मांगे वह दास क्या ? और वह मित्रही क्या ? ' (आपत्ति न प्राप्त होनेपरभी जो और कर्त्तव्य कार्य करे, वही मित्र है) ।

कुक्कुरो ब्रूते--

कुत्तेने कहा,–

'यो न सम्भावयेद्भृत्यान् कार्यकाले स किं प्रभुः ॥ २९ ॥

'जो मौकेके पडनेपरभी भृत्योंका सम्मान न करे वह कैसा स्वामी ? ॥ २९ ।

किंच–

क्योंकि,–

आश्रितानां भृतौ स्वामिसेवायां धर्मसेवने ।
पुत्रस्योत्पादने चैव न सन्ति प्रतिहस्तकाः' ॥ ३० ॥

आश्रित लोगोंके पालन पोषणमें, स्वामीकी सेवा करनेमें, धर्मके अनुष्ठान और सन्तान उत्पन्न करनेमें प्रतिनिधि नहीं होते ॥ ३० ॥'

ततो गर्दभः सकोपमाह--'अरे दुष्टमते ! पापीयांस्त्वं यद्विपत्तौ स्वामिकार्ये उपेक्षां करोषि । भवतु तावत् । यथा स्वामी जागरिष्यति तन्मया कर्तव्यम् । यतः–

यह सुनकर गधेने क्रोधसहित कहा;–'रे पापी ! तैंने स्वामीके कार्यका निरादर किया। अच्छा, स्वामी जिससे जागजाय मैं वही करताहूं । कारण,–

पृष्ठतः सेवयेदर्कं जठरेण हुताशनम् ।
स्वामिनं सर्वभावेन परलोकममायया ॥ ३१ ॥'

पीठ देकर सूर्यकी सेवा करै, उदरसे अग्निकी सेवा करै, सब प्रकारसे प्रभुकी सेवा करै, माया-ममतारहित होकर परलोककी सेवा करै "भानु पीठ सेइय उर आगी, स्वामी सेइय कपट छल त्यागी ॥ माया तजि सेइय परलोका" ॥ ३१॥'

इत्युक्त्वातीव चीत्कारशब्दं कृतवान् । ततः स रजकस्तेन चीत्कारेण प्रबुद्धो निद्राभंगकोपादुत्थाय गर्दभं लगुडेन ताडयामास । ततस्तेन ताडनेन गर्दभः पञ्चत्वमगमत् । अतोऽहं ब्रवीमि–'पराधिकारचर्चाम्' इत्यादि ॥ पश्य–पशूनामन्वेषणमेवास्मन्नियोगः । स्वनियोगचर्चा क्रियताम् । (विमृश्य) 'किंत्वद्य तया चर्चया न प्रयोजनम् । यतः आवयोर्भक्षितशेषाहारः प्रचुरोऽस्ति'। दमनकः सरोषमाह–'कथमाहारार्थी भवान्केवलं राजानं सेवते । एतदयुक्तमुक्तं त्वया । यतः–

गर्दभ यह कहकर अति जोरसे चिल्लाया, इसके उपरान्त धोबी उसके चिल्लानेसे जाग उठा और नींद टूटनेसे अत्यन्त क्रोधित हो गधेको लाठी मारी। उस लकडीके प्रहारसे गधा मृतक होगया । इसी लिये कहताहूं, कि-'जो पुरुष अनधिकारकी चर्चा करताहै उसकी दशा उस गधे की नाई होती है' । देखो कहा कौन शिकारका पशु है इसकीही दूढभालके लिये हम नियुक्त हुए हैं, इसलिये जिस कार्यमें हमारा अधिकार है, उसकीही चिन्ता करो । (चिन्ता-करके) 'परन्तु आज पशुकी खोज करनेकी आवश्यकता नही है, कारण कि हमारे भोजन करनेके लायक वहुत मास रक्खा है' । यह सुनकर दमनकने क्रोध सहित कहा;–'क्या, केवल अपनेही आहारके लिये तुम राजाकी सेवा करते हो ? तुमने यह अति अन्यायकी वात कही। क्योंकि,–

सुहृदामुपकारकारणा-
द्विषतामप्यपकारकारणात् ।

नृपसंश्रय इष्यते बुधै-
र्जठरं को न बिभर्ति केवलम् ॥ ३२ ॥

बन्धुलोगोंका उपकार करनेके लिये और शत्रुओंका अपकार करनेके लिये पंडित लोग राजाके आश्रयका अभिलाष करते हैं (नहीं तो) केवल अपना कौन नहीं भरताहै ॥ ३२ ॥

जीविते यस्य जीवन्ति विप्रा मित्राणि बान्धवाः ।
सफलं जीवितं तस्य आत्मार्थे को न जीवति ॥ ३३

जिसके जीनेसे ब्राह्मण बन्धु बान्धव और मित्र जीते हैं, उसकाही जीना सार्थक है, (नहीं तो) अपने लिये कौन नहीं जीताहै ? ॥ ३३ ॥

अपि च-

औरभी;-

यस्मिञ्जीवति जीवन्ति बहवः स तु जीवतु ।
काकोपि किं न कुरुते चञ्च्वा स्वोदरपूरणम् ॥ ३४

जिसके जीनेसे बहुत आश्रित लोग जीते रहते हैं उसका ही जीना सफल है । कौआ भी बहुत दिनतक जीवित रहकर पेट नहीं भरता है ? परन्तु उस जीनेसे क्या फल है ? ॥ ३४ ॥

पश्य-

देखो,-

पञ्चभिर्याति दासत्वं पुराणैः कोऽपि मानवः ।
कोऽपि लक्षैः कृती कोऽपि लक्षैरपि न लभ्यते ॥ ३५ ।

कोई मनुष्य पांच पणमें दासत्व पाता है, कोई लाख पण लेकर दास होता है, और कोई लक्ष पण देकरभी नहीं पाया जाता ॥ ३५ ॥

पुन:-

और,-

मनुष्यजातौ तुल्यायां भृत्यत्वमतिगर्हितम् ।
प्रथमो यो न तत्रापि स किं जीवत्सु गण्यते ॥ ३६ ॥

मनुष्य जातिमें मनुष्य जाति है उसमें सेवकपना अति निन्दित है, उसमें सेवकपनेमें जो प्रधान नहीं है वह क्या जीनेवालोंमें गिना जाताहै ? ३६

तथा चोक्तम्-

वैसा कहाभीहै कि,-

वाजिवारणलोहानां काष्ठपाषाणवाससाम्।
नारीपुरुषतोयानामन्तरं महदन्तरम्॥ ३७॥

घोडा और हाथी और लोहा, काठ, पत्थर, वस्त्र, स्त्री, पुरुष और जलमें जो अन्तर है वह बहुत अन्तर है॥ ३७॥

तथाहि-

देखो,-

स्वल्पस्नायुवसावशेषमलिनं निर्मांसमप्यस्थिकं
श्वा लब्ध्वा परितोषमेति न भवेत्तस्य क्षुधः शान्तये।
सिंहो जम्बुकमङ्कमागतमपि त्यक्त्वा निहन्ति द्विपं
सर्वः कृच्छ्रगतोऽपि वाञ्छति जनः सत्त्वानुरूपं फलम्॥३८॥

थोडी नस, वसा और माससे विरहित एक मैली हड्डी पानेपरभी कुत्तेको सतोष होताहै, परन्तु उससे उसकी क्षुधाकीभी तृप्ति नहीं होती। और सिंहकी गोदमेभी यदि शृगाल आजाय तो सिंह उसको त्यागकर हाथीका वध करताहै। इसलिये कष्टमे पडकरभी सब अपनी २ योग्यताके अनुसार जीविका प्राप्त करनेकी इच्छा करतेहै॥ ३८॥

अपरं च-सेव्यसेवकयोरन्तरं पश्य-

और देखो! एक जनप्रधान और एक जनसाधारण सेवकमें कितना अन्तर है-

लाङ्गूलचालनमधश्चरणावपातं
भूमौ निपत्य वदनोदरदर्शनं च।
श्वा पिण्डदस्य कुरुते गजपुंगवस्तु
धीरं विलोकयति चाटुशतैश्च भुङ्क्ते॥ ३९॥

कुत्ता, ग्रासही प्रमाण अन्न देनेवालेके निकट दुम हिलाताहै, पैरोंमें गिरताहै, और पृथ्वीपर गिरकर मुख और पेट दिखलाताहै, और उत्तम हस्ती मद २ देखता और सैकडो खुशामदोसे भोजन करताहै॥ ३९॥

किञ्च-

औरभी देखो,-

यज्जीव्यते क्षणमपि प्रथितं मनुष्यै-
विज्ञानविक्रमयशोभिरभज्यमानम् ।
तन्नाम जीवितमिह प्रवदन्ति तज्ज्ञाः
काकोऽपि जीवति चिराय बलिं च भुंक्ते ॥ ४०

*मनुष्योंमें प्रसिद्ध, विज्ञान पराक्रम और कीर्तिमे युक्त हो एक क्षणभरभी जीताहै, पंडितलोगोंने उसको ही जीता हुआ कहाहै, नहीं तो काकभी चिरकाल जीताहै बलिभी भोजन करताहै ॥ ४० ॥

अपरमपि–
औरभी देखो,-

अहितहितविचारशून्यबुद्धेः
श्रुतिसमयैर्बहुभिस्तिरस्कृतस्य ।
उदरभरणमात्रकेवलेच्छोः
पुरुषपशोश्च पशोश्च को विशेषः ॥ ४१ ॥'

जिनके अन्तःकरणमें भले बुरेका विचार न हो और अनेक पंडितोंका शास्त्रके विवादमें जिसका तिरस्कार किया गया हो, वह केवल उदरमात्र भरनेका अभिलाषी जो पुरुषपशु है. उसमें और वनके पशुमें भेद क्या है ? ॥ ४१ ॥'

करटको ब्रूते-'आवां तावदप्रधानौ। तनोऽप्यावयोः किमनया विचारणया' । दमनको ब्रूते-'कियता कालेनामात्याः प्रधानतामप्रधानतां वा लभन्ते । यतः–

करटकने कहा,-'हम तो कुछ राजाके प्रधानमंत्री नहीं हैं तब फिर हमको इस

न कस्यचित्कश्चिदिह स्वभावा-
द्भवत्युदारोऽभिमतः खलो वा।
लोके गुरुत्वं विपरीततां वा
स्वचेष्टितान्येव नरं नयन्ति ॥ ४२ ॥

स्वभावसेही कोई किसीका मनमाना नहीं होसक्ता, न खल जाना जासक्ता है, अपनी चेष्टासेही मनुष्यको बडाई या ओछाई मिलती है॥ ४२ ॥

किंच-

औरभी देखो!-

आरोप्यते शिला शैले यत्नेन महता यथा।
निपात्यते क्षणेनाधस्तथात्मा गुणदोषयोः ॥ ४३ ॥

जिसप्रकार पर्वतपर अत्यन्त परिश्रम और यत्नसे पत्थर चढ़ाया जाताहै, परन्तु नीचे अति थोड़े समय और सरलतासे गिरा दिया जाताहै, इसी प्रकार गुण और दोषमें आत्मा है। (अपनी उन्नति अतियत्न और काठिनतासे होती है, परन्तु अवनति सहजही होजाती है)॥ ४३ ॥

तद्भद्रम्, स्वयत्नायत्तो ह्यात्मा सर्वस्य।

सो अच्छा, अपनी उन्नति प्राप्त करना सबके यत्नोंहीके ऊपर निर्भर है।

यात्यधोधो व्रजत्युच्चैर्नरः स्वैरेव कर्मभिः।
कूपस्य खनिता यद्वत्प्राकारस्येव कारकः ॥ ४४ ॥'

कारण; कुएका खोदनेवाला जिसप्रकार नीचेको जाताहै, और भीतका बनानेवाला जिसप्रकार ऊपरको जाताहै, ऐसेही मनुष्य अपने कर्मोंसे बडाई या छुटाईको पाता है॥ ४४ ॥'

करटको ब्रूते-'अथ भवान्किं ब्रवीति'। स आह-'अयं तावत्स्वामी पिंगलकः पानीयमपीत्वा कुतोऽपि भयात्सचकितः परावृत्योपविष्टः'। करटको ब्रूते-'किं तत्त्वं जानासि'। दमनको ब्रूते-'किमप्रज्ञावतामविदितमस्ति, उक्तं च-

करटकने कहा,-'तब तुम क्या कहते हो सो कहो?' दमनकने कहा,-'यह राजा पिंगलक जलपान न करके किसी एक भयसे घबडाया हुआ फिर आया है'।

करटकने पूछा;-'तुम वह किसप्रकारसे समझसके'। दमनक बोला,-'जिनको है, उन्हे कौनसी बात विनाजानी रहसकती है, कहाभी है कि,-

उदीरितोऽर्थः पशुनापि गृह्यते
हयाश्च नागाश्च वहन्ति चोदिताः ।
अनुक्तमप्यूहति पण्डितो जनः
परेंगितज्ञानफला हि बुद्धयः ॥ ४५ ॥

कही बात पशुभी समझताहै, आज्ञा प्राप्त होनेपर हाथी घोडे चढाले हैं, पंडितलोग नकहे जानेपरभी पहचान लेतेहैं, क्योंकि बुद्धि पराये इंगि जानतीहै ॥ ४५ ॥

आकारैरिङ्गितैर्गत्या चेष्टया भाषणेन च ।
नेत्रवक्त्रविकारेण लक्ष्यतेऽन्तर्गतं मनः ॥ ४६ ॥

आकारसे इंगितसे, गमनसे, चेष्टासे, कहनेसे, आंख और मुखके विक अन्तःकरणकी बात जानी जाती है ॥ ४६ ॥

अत्र भयप्रस्तावे प्रज्ञाबलेनाहमेनं स्वामिनमात्मीयं करिष्यामि । यतः-

इसलिये, प्रभुके इस भयके प्रसंगसेही मैं बुद्धिके प्रभावसे इसको करलूंगा ।

प्रस्तावसदृशं वाक्यं सद्भावसदृशं प्रियम् ।
आत्मशक्तिसमं कोपं यो जानाति स पंडितः ॥४७॥

कारण-प्रस्तावकी तुल्य वचन, सद्भावकी तुल्य प्रिय आचरण, अपनी शक्ति तुल्य क्रोध जो जानता है, वह पंडित है ॥ ४७ ॥'

करटको ब्रूते-'सखे ! त्वं सेवानभिज्ञः । पश्य-

करटकने कहा,-'सखे ! तुम राजाकी सेवा नहीं जानते । देखो,-

अनाहूतो विशेद्यस्तु अपृष्टो बहु भाषते ।
आत्मानं मन्यते प्रीतं भूपालस्य स दुर्मतिः ॥ ४८ ॥'

जो बिना बुलाये निकट जाय, और बिना पूछे भी बहुत कहे, और अपने राजाका प्यारा करके जाने वह निरा निर्बोध है ॥ ४८ ॥'

दमनको ब्रूते-'भद्र ! कथमहं सेवानभिज्ञः ? पश्य-

दमनकने कहा–भाई! क्यों मैं राजाकी सेवा करनी नही जानता? देखो–

किमप्यस्ति स्वभावेन सुंदरं वाप्यसुंदरम्।
यदेव रोचते यस्मै भवेत्तत्तस्य सुंदरम् ॥ ४९ ॥

स्वभावसे सुन्दर या निन्दित कौन है? जिसमे जिसकी रुचि है वही उसको सुन्दर है ॥ ४९ ॥

यतः–

जिससे–

यस्य यस्य हि यो भावस्तेन तेन हि तं नरम्।
अनुप्रविश्य मेधावी क्षिप्रमात्मवशं नयेत् ॥ ५० ॥

जिस जिसके जो २ भाव हो, उन्हीं २ भावोंमे बुद्धिमान् मनुष्यको प्रवेश करके उस मनुष्यको अपने वशमें करलेना चाहिये ॥ ५० ॥

अन्यच्च–

औरभी–

कोऽत्रेत्यहमिति ब्रूयात्सम्यगादेशयेति च।
आज्ञामवितथां कुर्याद्यथाशक्ति महीपतेः ॥ ५१ ॥

'यहापर कौन है? यह पूछे जानेपर 'मैं अमुक हूं' यह कहै और 'आज्ञा कीजिये' यह कहै, और सामर्थ्यके अनुसार राजाके आदेशको लंघन नहीं करै ॥ ५१ ॥

अपरं च–

और भी,–

अल्पेच्छुर्धृतिमान्प्राज्ञश्छायेवानुगतः सदा।
आदिष्टो न विकल्पेत स राजवसतौ वसेत् ॥ ५२ ॥'

सदा थोडा चाहनवाला, धीरजवान्, चतुर मनुष्य छायाकी समान सदा पीछे चलनेवाला रहे, और आज्ञा पायकर आज्ञाका लंघन नहीं करै, वह मनुष्य राजाके स्थानमे वास करै ॥ ५२ ॥'

करटको ब्रूते–'कदाचित्त्वामनवसरप्रवेशादवमन्यते स्वामी?' स चाह–'अस्त्वेवम्, तथाप्यनुजीविना स्वामिसान्निध्यमवश्यं करणीयम्। यतः–

करटकने कहा-'कधी तुम समय विना स्वामीके सामने जाओ, और यदि तुम्हारा अपमान करे ?' दमनकने कहा'-'हां, यह बात सत्य है, तथापि प्रभुके निकट सेवकका उपस्थित रहना आवश्यक कर्त्तव्य है । कारण-

दोषभीतिरनारम्भस्तत्कापुरुषलक्षणम् ।
कैरजीर्णभयाद्भ्रातर्भोजनं परिहीयते ॥ ५३ ॥

दोषके भयसे जो कार्यका आरम्भ नहीं करता है, वह कापुरुषका लक्षण है; हे भाई ! अजीर्णके भयसे कौन निकट रक्खे हुए भोजनको छोड देता है ? ॥ ५३ ॥

पश्य-

देखो-

आसन्नमेव नृपतिर्भजते मनुष्यं
विद्याविहीनमकुलीनमपण्डितं वा ।
प्रायेण भूमिपतयः प्रमदा लताश्च
यः पार्श्वतो वसति तं परिवेष्टयन्ति ॥ ५४ ॥'

निर्गुण, अकुलीन, अश्रेष्ठ ऐसे निकटवाले मनुष्यपर राजा अनुग्रह करता है क्योंकि बहुधा राजालोग, स्त्रियें और लतायें ये सब उसीको घेरते हैं जो उनके निकट वास करता है ॥ ५४ ॥'

करटको ब्रूते-'अथ तत्र गत्वा किं वक्ष्यति भवान् ?' स आह-'शृणु । किमनुरक्तो विरक्तो वा मयि स्वामीति ज्ञास्यामि ' । करटको ब्रूते-'किं तज्ज्ञानलक्षणम् ' । दमनको ब्रूते-'शृणु-

असेवके चानुरक्तिर्दानं सप्रियभाषणम् ।
अनुरक्तस्य चिह्नानि दोषेऽपि गुणसंग्रहः ॥ ५६ ॥

सेवा नकरनेपर भी उसमे अनुराग करना, प्रिय वचन कहकर दान देना, और दोषमें भी गुण ग्रहण करलेना, अनुरागी होनेके ये सब लक्षण हैं ॥ ५६ ॥

अन्यच्च-

औरभी--

कालयापनमाशानां वर्धनं फलखण्डनम् ।
विरक्तेश्वरचिह्नानि जानीयान्मतिमान्नरः ॥ ५७ ॥

समय टालना, आशा बढाना, फलका: खडन करना, बुद्धिमान् ये सब प्रतिकूल राजाके लक्षण जाने ॥ ५७ ॥

एतज्ज्ञात्वा यथा चायं ममायत्तो भविष्यति तथा करिष्यामि । यतः-

स्वामीके ये सब लक्षण जानकर, जिसप्रकारसे वह अपने वशमे हो जाय वैसाही करूगा । क्योंकि-

अपायसंदर्शनजां विपत्ति-
मुपायसंदर्शनजां च सिद्धिम् ।
मेधाविनो नीतिविधिप्रयुक्तां
पुरः स्फुरन्तीमिव दर्शयन्ति ॥ ५८ ॥

अपायके देखनेसे उत्पन्न हुई विपत्ति,और उपाय देखनेसे उत्पन्नहुई सम्पत्ति, उसको बुद्धिमान् लोग आगेसेही प्रकाशमानकी समान देखते हैं * ॥ ५८ ॥

अपरं च-

और भी--

---

* 'उपाय, अपाय -'उपाय' अर्थात् इस उपायका अवलम्बन करनेसे. 'अपाय' अर्थात् इस उपायके अवलम्बन करनेसे स्वामीपर कोई भयका कारण आ पडनेसे बुद्धिमान् सेवक उसको नीतिकी चतुरतासे ऐसा समझावे कि, यदि आप हमारा बताया हुआ यह उपाय अवलम्बन करेगे तो आपका कार्य सिद्ध है और हाथोहाथ सम्पति मिलजाती है। और यदि आप हमारा बताया यह उपाय नही ग्रहण करेगे तो आपका कार्य निष्फलपर नाशभी हाथोहाथ है ।

दोषा गुणा गुणा दोषा दोषा दोषा गुणा गुणाः ।
रक्ते विरक्ते मध्यस्थे स्वामिनि त्रिविधा गुणाः ॥५९

दोषोंको गुण समझना रक्त (प्रसन्न) स्वामीका काम है और गुणोंको दोष समझना विरक्त (अप्रसन्न) स्वामीका कार्य है और दोषोंको दोष और गुणको गुण मानना मध्यस्थ (उदासीन) स्वामीका काम है । इस प्रकार तीन प्रकारके स्वामी होतेहैं ॥ ५९ ॥'

करटको ब्रूते-'तथाप्यप्राप्ते प्रस्तावे न वक्तुमर्हसि । यतः
करटकने कहा,-'तोभी विनाप्रसङ्ग आये कहना योग्य नहीं है कारण,-

अप्राप्तकालवचनं बृहस्पतिरपि ब्रुवन् ।
प्राप्नुयाद्बुद्ध्यवज्ञानमपमानं च शाश्वतम् ॥ ६० ॥'

बृहस्पतिजीभी विना प्रसंगके वचन कहनेपर निर्बुद्धिता और बहुत कालतक व्यापनेवाला अपमान पाते हैं ॥ ६० ॥'

दमनको ब्रूते-'मित्र ! मा भैषीः । नाहमप्राप्तावसरं वचनं वदिष्यामि । यतः-

दमनकने कहा,-'मित्र ! तुम इसके लिये भय न करो, विना अवसर पाये हम कोईभी बात नहीं कहेंगे । कारण,-

आपद्युन्मार्गगमने कार्यकालात्ययेषु च ।
अपृष्टेनापि वक्तव्यं भृत्येन हितमिच्छता ॥ ६१ ॥

विपत्कालमें, और मार्गत्याग करजानेके कालमें, और कार्यकालके निकल जानेपर पूछे नजाकरभी हितैषी दासोंको कहना चाहिये ॥ ६१ ॥

यदि च प्राप्तावसरेणापि मया मन्त्रो न वक्तव्यस्तदा मन्त्रित्वमेव ममानुपपन्नम् । यतः-

और ऐसा सुअवसर पायकरभी यदि हम उसे परामर्श न दें तब तो हमारा मन्त्रित्वही वृथा है । कारण,-

कल्पयति येन वृत्तिं येन च लोके प्रशस्यते सद्भिः ।
स गुणस्तेन च गुणिना रक्ष्यः संवर्धनीयश्च ॥ ६२ ॥

जिस गुणसे जीविका होती है, और जिस गुणसे पृथ्वीपर पण्डितलोग प्रशंसा करतेहैं, गुणीलोग उस गुणकी रक्षा करते हैं और उसको बढाते हैं ॥ ६२ ॥

तद्भद्र ! अनुजानीहि मां पिङ्गलकसमीपं गच्छामि'। करटको ब्रूते-'शुभमस्तु। यथाभिलषितमनुष्ठीयताम्।

इसलिये हे मित्र ! तुम आज्ञा दो, हम पिंगलकके समीप जाय'। करटकने कहा-'तुम्हारा मंगल हो, कार्य सिद्ध करके आओ।

गम्यतामर्थलाभाय क्षेमाय विजयाय च।
शत्रुपक्षविनाशाय पुनरागमनाय च॥ ६३॥'

जाओ। धन, कुशल और विजयको प्राप्त करो, शत्रुके पक्षका नाश करके फिर लौटो॥ ६३॥''

ततो दमनको विस्मित इव पिङ्गलकसमीपं गतः।

तिसके पीछे दमनक विस्मितभावसे पिंगलके समीप गया।

अथ दूरादेव सादरं राज्ञा प्रवेशितः साष्टाङ्गं प्रणिपत्योपविष्टः। राजाह-'चिराद्दृष्टोऽसि'। दमनको ब्रूते-'यद्यपि मया सेवकेन श्रीमद्देवपादानां न किंचित्प्रयोजनमस्ति। तथापि प्राप्तकालमनुजीविना सान्निध्यमवश्यं कर्तव्यमित्यागतोऽस्मि। किंच-

राजाने उसको दूरसे देखकर प्रवेश करनेकी अनुमति दी, वह जायकर राजाको * साष्टांग प्रणाम करके बैठा। राजा पिंगलकने उससे कहा;-'तुमको बहुत दिनोंके पीछे देखा'। दमनकने कहा-'यद्यपि मुझ सरीखे सेवकसे महाराजका कोईभी प्रयोजन नहीं निकलता, तथापि समयके आनेपर प्रभुके निकट सेवकका आना अवश्य कर्त्तव्य है, यही सोच विचार कर आया। कारणः-

दन्तस्य निर्घषणकेन राजन्
कर्णस्य कण्डूयनकेन वापि।
तृणेन कार्यं भवतीश्वराणां
किमंगवाक्पाणिमता नरेण॥ ६४॥

हे महाराज ! दांतोंके खुरचनेवाले, कानमें कुरेदनेवाले तिनकेसेभी जब राजाका

---

* 'साष्टाङ्ग प्रणाम' हाथ, पैर, जाघ, छाती, मस्तक, नेत्र, वाक्य और मन, इन आठ अंगोंसे प्रणाम करना।

कार्य होता है; तब अंग, वाणी, हाथ, पांव युक्त मनुष्यसे कार्य होगा, इस कहनेकी आवश्यकताही नहीं ॥ ६४ ॥

यद्यपि चिरेणावधीरितस्य देवपादेषु बुद्धिनाशः शङ्क्यते तदपि न शङ्कनीयम्। यतः-

स्वामी यदि ऐसी शंका करें कि मैं बहुत समयसे आपके निकट अनादर किया गया हूं, इससे मेरी बुद्धि लोप होगई है. सो ऐसी शंका करना भी आपको उचित नहीं है, कारण,-

मणिर्लुठति पादेषु काचः शिरसि धार्यते।
क्रयविक्रयवेलायां काचः काचो मणिर्मणिः ॥ ६५ ॥

मणिको यदि कोई चरणमें ममल दे, और काचको यदि कोई मस्तकपर धारण करे. परन्तु मोल लेने और बेचनेके समय काच काचही है और मणि मणि है ॥ ६५ ॥

कदर्थितस्यापि च धैर्यवृत्ते-
र्बुद्धेर्विनाशो नहि शंकनीयः।
अधः कृतस्यापि तनूनपातो
नाधः शिखा याति कदाचिदेव ॥ ६६ ॥

और निरादर होनेपरभी, धीरज धारण करनेवालेकी बुद्धिका नाश होनेकी शंका नहीं, कारण कि अग्निके नीचे जानेपरभी उसकी लपट कभी नीचेको नहीं जाती ॥ ६६ ॥

देव! तत्सर्वथा विशेषज्ञेन स्वामिना भवितव्यम्। यतः-

महाराज! कौन कैसे गुणके लोग है? आपको यह भली भांतिसे जानना

त्रिविधाः पुरुषा राजन्नुत्तमाधममध्यमाः।
नियोजयेत्तथैवैतांस्त्रिविधेष्वेव कर्मसु ॥ ६८ ॥

हे महाराज! उत्तम, मध्यम, अधम, तीन प्रकारके पुरुष होते हैं। तीन
कारके कर्मोंमे इन तीन पुरुषोको लगावै ॥ ६८ ॥

तः-
योंकि,-

स्थान एव हि योज्यन्ते भृत्याश्चाभरणानि च।
न हि चूडामणिः पादे नूपुरं शिरसा तथा ॥ ६९ ॥

सेवक और गहनेको यथायोग्य स्थानमें ही लगावै; क्योंकि पावमे चूडामणि
ही पहरी जाती, तथा पावटा मस्तकपर नही पहरा जाता ॥ ६९ ॥

अपि च-
औरभी देखिये,-

कनकभूषणसंग्रहणोचितो
यदि मणिस्त्रपुणि प्रणिधीयते।
न स विरौति न चापि स शोभते
भवति योजयितुर्वचनीयता ॥ ७० ॥

सुवर्णके गहनेमे जडनेके लायक मणि जो शीशेमे जड दीजाय, तो वह
मणि नहीं रोवेगी, न शोभाही पावेगी, परन्तु जडनेवालेहीकी निन्दा होगी ॥७०॥

अन्यच्च-
औरभी,--

मुकुटे रोपितः काचश्चरणाभरणे मणिः।
न हि दोषो मणेरस्ति किं तु साधोरविज्ञता ॥ ७१ ॥

मुकुटमे जडे हुए काच और पावके गहनेमें जडी हुई मणिका इसमें कुछ दोष
नहीं है; परन्तु जडनेवालेकी अज्ञानता है ॥ ७१ ॥

पश्य-
औरभी देखिये,-

बुद्धिमाननुरक्तोऽयमिहोभयगुणो जनः।
इति भृत्यविचारज्ञो भृत्यैरापूर्यते नृपः ॥ ७२ ॥

यह सेवक बुद्धिमान् है. यह अनुरागी है, इसमें * दोनो गुण हैं, दे सेवकोंके अच्छे बुरेका विचार करनेवाला राजा सेवक लोगोंसे परि होताहै ॥ ७२ ॥

तथाहि-

देखो-

अश्वः शस्त्रं शास्त्रं वीणा वाणी नरश्च नारी च ।
पुरुषविशेषं प्राप्ता भवन्ति योग्या अयोग्याश्च ॥ ७३

यह पडितलोगोंने कहाहै कि-अश्व, शस्त्र, शास्त्र, वीणा, वाक्य, पुरुष औ स्त्री. - ये समस्त मनुष्यविशेषको पायकर योग्य और अयोग्य होजातेहैं ॥ ७३

अन्यच्च-

औरभी.-

किं भक्तेनासमर्थेन किं शक्तेनापकारिणा ।
भक्तं शक्तं च मां राजन्नावज्ञातुं त्वमर्हसि ॥ ७४ ॥

असमर्थ अनुरागी सेवक से क्या प्रयोजन? व अपकार करनेवाले समर्थसे क्या प्रयोजन है? हे महाराज! मुझ भक्त और समर्थका निरादर करना आप उचित नहीं है ॥ ७४ ॥

यतः-

कारण -

अवज्ञानाद्राज्ञो भवति मतिहीनः परिजन-
स्ततस्तत्प्रामाण्याद्भवति न समीपे बुधजनः ।
बुधैस्त्यक्ते राज्ये न हि भवति नीतिर्गुणवती
विपन्नायां नीतौ सकलमवशं सीदति जगत्॥ ७५ ॥

याग किये जानेपर नीति गुणवती नहीं होती, नीतिके नष्ट होनेपर समस्त जगत् बिगड जाता है ॥ ७५ ॥

अपरं च-देव !

और देखिये महाराज !

> जनं जनपदा नित्यमर्चयन्ति नृपार्चितम्।
> नृपेणावमतो यस्तु स सर्वैरवमन्यते ॥ ७६ ॥

राजाका अनुग्रह पाये हुए पुरुषका देशवासी सबही जन सन्मान करते हैं, और राजा करके अपमान किया हुआ जो जन है वह सबसे अवमानित होता है ॥ ७६ ॥

किंच-

औरभी,-

> बालादपि ग्रहीतव्यं युक्तमुक्तं मनीषिभिः।
> रवेरविषये किं न प्रदीपस्य प्रकाशनम् ॥ ७७ ॥'

बालकसेभी न्यायके वचन पंडित लोगोको ग्रहण करने चाहिये, क्योंकि, जिस स्थानमे सूर्यका प्रकाश नहीं, उस स्थानमे क्या दीपकका प्रकाश नहीं होता ? ॥ ७७ ॥'

पिंगलकोऽवदत्-'भद्र दमनक, ! किमेतत्? त्वमस्मदीयप्रधानामात्यपुत्रः सुधीरियंतं कालं यावत्कुतोऽपि खलवाक्यान्नागतोऽसि । इदानीं यथाभिमतं ब्रूहि'। दमनको ब्रूते 'देव! पृच्छामि किंचित्। उच्यताम्। उदकार्थी स्वामी पानीयमपीत्वा किमिति विस्मित इव तिष्ठति'। पिंगलकोऽवदत्-'भद्रमुक्तं त्वया। किं त्वेतद्रहस्यं वक्तुं काचिद्विश्वासभूमिर्नास्ति। त्वं तु तथाविधः, ततः शृणु-संप्रति वनमिदमपूर्वसत्त्वाधिष्ठितमतोऽस्माकं त्याज्यम्। अनेन हेतुना विस्मितोऽस्मि। तथा च श्रुतस्त्वयापि महानपूर्वः शब्दः। शब्दानुरूपेणास्य प्राणिनो महता बलेन भवितव्यम्'। दमनको ब्रूते-देव ! अस्ति तावदयं महान्भयहेतुः। स शब्दोऽस्माभिरप्याकर्णितः। किं तु स किम्मन्त्री यः प्रथमं मंत्राभावेन भूपतिं

भूमित्यागं युद्धं चोपादिशति । देव ! अस्मिन्का
भृत्यानामुपयोग एव ज्ञातव्यः । यतः-

पिङ्गलकने कहा,-'श्रेष्ठ ! दमनक ! यह क्या ? हमारे प्रधान मंत्रीके
सुबुद्धिवाले, तुम किसी दुष्ट जनके वचनका विश्वास करके इतने दि
निकट नहीं आये । इस समय तुम्हारा क्या अभिलाष है सो कहो' ।
कहा,-'देव ! कोई बात पूछताहू, सो कहिये कि, प्रभु जल पीनेके प्रार्थी
विनाही जलपान किये विस्मित भावको प्राप्तहुएसे क्यों होरहे हे ? ' । पि
कहा,-'अच्छा कहा, परन्तु यह गोपनीय वार्ता कही जाय ऐसे विश्वास
कोईभी नहीं है, परन्तु तुम वैसेही विश्वासपात्र हो इसलिये कहताहू
आजकल एक अपूर्व जन्तुने आकर इस वनका अधिकार किया है, इ
यह स्थान हम लोगोको त्याग करना ही उचित है, और तुमनेभी उस
का शब्द सुना होगा ? उसका शब्द जिस प्रकारका भयकर है, उसका
वैसाही होगा?'। दमनकने कहा,-'देव ! यह अतिभयका कारण तो है, पर
उसको मत्री कहा जा सकताहै ? जो प्रथम विना मत्रणा कियेही राजाको
त्याग करने, अथवा रणभूमिकी तैयारी करनेकी सलाह दे, और देखिये म
इसप्रकारका कार्य सकट उपस्थित होनेही पर तो सेवक लोगोकी यो
परीक्षा करना उचित है । कारण,-

बन्धुस्त्रीभृत्यवर्गस्य बुद्धेः सत्त्वस्य चात्मनः ।
आपन्निकषपाषाणे नरो जानाति सारताम् ॥ ७

मित्र और स्त्री, दासगण, बुद्धि, बल और शरीरके सारको वि
कसौटी पत्थरसे पुरुष जानले * ॥ ७८ ॥

सिंहो ब्रूते-भद्र ! महती शंका मां बाधते । दम
पुनराह स्वगतम्-'अन्यथा राज्यसुखं परित्यज्य स्थान
गन्तुं कथं मां संभाषसे ' । प्रकाशं ब्रूते-'देव ! या
जीवामि तावद्भयं न कर्तव्यम् । किंतु करटकाद
प्याश्वास्यन्तां यस्मादापत्प्रतीकारकाले दुर्लभः पुरु
वायः ' ।

* [illegible]

संहने कहा,-'श्रेष्ठ ! विषम शका हमको व्याकुल करती है,। दमनकने मनही कहा,-'ऐसा न होनेसे राज्यसुख छोडकर दूसरे स्थानमे जानेकी वार्ता हमसे कहते ?' प्रगटमें कहा,-'महाराज ! जबतक मैं जीता हूं तबतक आप न करे। परन्तु करटक इत्यादिकोभी धीरज दीजिये। क्योकि, विपदके कारके अर्थ आत्मीय लोगोका मिलना दुर्लभ हुआ करता है'।

ततस्तौ दमनककरटकौ राज्ञा महाप्रसादेन पूजितौ भयतीकारं प्रतिज्ञाय चलितौ। करटको गच्छन्दमनकमाह-खे ! किं शक्यप्रतीकारो भयहेतुरशक्यप्रतीकारो वेति ज्ञात्वा भयोपशमं प्रतिज्ञाय कथमयं महाप्रसादो गृहीतः। तोऽनुपकुर्वाणो न कस्याप्युपायनं गृह्णीयाद्विशेषतो राज्ञः। श्य-

इसके उपरान्त राजाने जब उन करटक और दमनकको बडे मोलका ज्यप्रसाद देकर सन्मानित किया; तब वे उस भयके दूरकरनेकी प्रतिज्ञा करके ले। करटकने जाते २ दमनकसे कहा,-'मित्र ! इस भयके कारणको दूर रनेमे हम समर्थ हैं या असमर्थ ? इसको विनाही जाने तुमने किसप्रकार भयके ान्ति करनेकी प्रतिज्ञा की ? और यह बडे मोलका राजप्रसाद ग्रहण किया ? ारण कि, जो पुरुष जिसका कोईभी उपकार नहीं करसकता उसको उसके ासमे किसी प्रकारका उपहार न लेना चाहिये, तिसपर राजाका उपहार! देखो-

यस्य प्रसादे पद्मास्ते विजयश्च पराक्रमे।
मृत्युश्च वसति क्रोधे सर्वतेजोमयो हि सः॥ ७९॥

* जिसकी प्रसन्नतासे धनकी वृद्धि हो, पराक्रमसे जय हो, और क्रोधसे मृत्यु हो, इसलिये सर्व तेजःपुञ्जही उसको जानना चाहिये॥ ७९॥

तथाहि-

---

* शास्त्रमे कहाहै कि,-इन्द्र वायु, यम, सूर्य, अग्नि, वरुण, चन्द्र और कुबेर इन आठ लोकपालोका सारांश लेकर ब्रह्माजीने राजाको बनाया, इस कारण राजा सर्वतेजमय अर्थात् इन समस्त देवताओंके तेजसे राजा सदाही तेजस्वी रहता है।
(मनु० सप्तम अध्याय ४-५-६-७ श्लोक देखो)

औरभी,–

बालोऽपि नावमन्तव्यो मनुष्य इति भूमिपः ।
महती देवता ह्येषा नररूपेण तिष्ठति ॥ ८० ॥

"बालक समझकर भी राजाको तुच्छ न समझे. क्योंकि राजामें सब देवता मनुष्यरूपसे विराजमान हैं ॥ ८० ॥'

दमनको विहस्याह–'मित्र ! तूष्णीमास्यताम् । ज्ञातं मया भयकारणम्, बलीवर्दनर्दितं तत् । वृषभाश्चास्माकमपि भक्ष्याः । किं पुनः सिंहस्य'। करटको ब्रूते–' यद्येवं तदा किं पुनः स्वामित्रासस्तत्रैव किमिति नापनीतः' । दमनको ब्रूते–'यदि स्वामित्रासस्तत्रैव मुच्यते तदा कथमयं महाप्रसादलाभः स्यात् ? अपरं च–

दमनकने हसकर कहा,–'मित्र ! तुम चुपके बैठे रहो । मैंने स्वामीके भयका कारण समझ लिया है । एक बैल रंभाया था और बैल तो हमारा भोजन है फिर वह सिंहकाभी भोजन है, इस बातका तो कहनाही क्या!' करटकने कहा,– जो ऐसाही है तो स्वामीका भय उसी समय क्यों दूर न किया ?' दमनकने कहा,–'जो स्वामीका भय उसी समय दूर करता, तब यह बडे मोलका राजप्रसाद हमको मिलता ? और कहाभी है कि,–

निरपेक्षो न कर्तव्यो भृत्यैः स्वामी कदाचन ।
निरपेक्षं प्रभुं कृत्वा भृत्यः स्याद्दधिकर्णवत् ॥ ८१ ॥

सेवक लोग स्वामीको कभी बेपरवाह न करें, स्वामीको बेपरवाह करनेसे सेवकको दधिकर्णकी समान होना पडता है ॥ ८१ ॥

करटकः पृच्छति-' कथमेतत् ?' दमनकः कथयति-

करटकने पूछा,-'यह कैसे ?' दमनकने कहा-

कथा ३.

अस्त्युत्तरापथेऽर्बुदशिखरनाम्नि पर्वते दुर्दान्तो नाम महाविक्रमः सिंहः। तस्य पर्वतकन्दरमधिशयानस्य केसराग्रं कश्चिन्मूषकः प्रत्यहं छिनत्ति। ततः स केसराग्रं लूनं दृष्ट्वा कुपितो विवरान्तर्गतं मूषकमलभमानोऽचिन्तयत्-किं विधेयमत्र भवति। एवं श्रूयते-

उत्तरमे अर्बुदशिखरनामक पर्वतपर दुर्दान्त नाम एक अति पराक्रमी सिंह वास करता है। वह जब पर्वतकी गुहामे शयन करके रहता, तब एक चूहा प्रतिदिन आयकर उसके केसरके अग्रभागको कतरता, चूहेसे अपने केसरके अग्रभागको कतरता जानकर सिंह कोपायमान हुआ किन्तु चूहेको भट्टकमें लुके रहनेसे उसको न पकड सकनेपर सिंहने विचारा,-इस सम्बन्धमें क्या करना चाहिये ? । अच्छा, ऐसा सुना है कि,-

'क्षुद्रशत्रुर्भवेद्यस्तु विक्रमान्नैव लभ्यते।
तमाहन्तुं पुरस्कार्यः सदृशस्तस्य सैनिकः॥ ८२॥'

'जो छोटा शत्रु हो और पराक्रमसे नहीं पकडा जाय तो उसका नाश करनेके लिये उसकेही समान सैनिक रक्खै॥ ८२॥'

इत्यालोच्य तेन ग्रामं गत्वा विश्वासं कृत्वा दधिकर्णनामा बिडालो यत्नेनानीय मांसाहारं दत्त्वा स्वकन्दरे स्थापितः। अनन्तरं तद्भयान्मूषकोऽपि बिलान्न निःसरति। तेनासौ सिंहोऽक्षतकेसरः सुखं स्वपिति। मूषकशब्दं यदा यदा शृणोति तदा तदा मांसाहारदानेन तं बिडालं सविशेषं संवर्धयति।

सिंह मनही मन इस प्रकारका विचार करके गावमें जाय दधिकर्णनामक एक बिलावको मासादि भोजनके दानसे सन्तुष्ट कर परम यत्नसे लाय अपनी गुफामें स्थापन करता भया। तबसे उस बिलावके भयके मारे चूहा बाहर नहीं निकलता; और सिंहभी अक्षतकेसर हो सुखकी नींदसे सोता। सिंह जैसेही

चूहेका शब्द सुनता, तैसेही मासका भोजन देकर उस बिलावको भी तासे प्रसन्न करता।

अथैकदा स मूषकः क्षुधापीडितो बहिः संचरन्बिडालेन प्राप्तो व्यापादितः खादितश्च। अनन्तरं स सिंहोऽनेककालं यावन्मूषकशब्दं न शुश्राव तदोपयोगाभावात्तस्य बिडालस्याहारदाने मन्दादरो बभूव। ततोऽसावाहारविरहाद्दुर्बलो दधिकर्णोऽवसन्नो बभूव। अतोऽहं ब्रवीमि-'निरपेक्षो न कर्तव्यः' इत्यादि॥ ततो दमनककरटकौ संजीवकसमीपं गतौ। तत्र करटकस्तरुतले साटोपमुपविष्टः।

इसके उपरान्त एकदिन वह चूहा भूखके मारे बाहर निकला कि बिलावने देख पाकर उसका प्राणसंहार करके उसे भक्षण कर लिया। इसके पीछे जब उस सिंहने देखा कि, चूहेका शब्द अब कभीभी नहीं सुनाजाता, तब उसने बिलावसे और कोई उपकार न समझकर उसको भोजन देनेमें यत्न करना छोड़ दिया, तब भोजनके नमिलनेसे दुर्बल दधिकर्ण दुःखित हुआ। इसीलिये मैं कहता हूं कि-" स्वामीको प्रयोजनहीन कभी न करै" इत्यादि। इसके उपरान्त दमनक और करटक संजीवकके निकट गये। करटक वहां वृक्षके तले व्यवस्थासे बैठ गया।

दमनकः संजीवकसमीपं गत्वाऽब्रवीत्-'अरे वृषभ, एषोऽत्र राजा पिंगलकेनारण्यरक्षार्थं नियुक्तः। सेनापतिः करटकः समाज्ञापयति-सत्वरमागच्छ। न चेदस्मदरण्याद्दूरमपसर। अन्यथा ते विरुद्धं फलं भविष्यति। न जाने क्रुद्धः स्वामी किं विधास्यति। तच्छ्रुत्वा संजीवकश्चायातः। यतः--

राजाकी आज्ञाका न पालन करना, ब्राह्मणोंका अनादर करना, स्त्रियोंके
गसे अलग रहना, इन सबको करना विना अस्त्रके मारना हत्या है,
ौत् ये सब नही करने चाहिये ॥ ८३ ॥

ततो देशव्यवहारानभिज्ञः संजीवकः सभयमुपसृत्य
ाष्टांगपातं करटकं प्रणतवान्। तथा चोक्तम्-

इसके उपरान्त देशाचारका न जाननेवाला वह संजीवक डरसहित करटकके
मन हो उसको साष्टाग प्रणाम करताभया। वैसा कहाभी है कि,-

> **मतिरेव बलाद्गरीयसी**
> **यदभावात्करिणामियं दशा।**
> **इति घोषयतीव डिण्डिमः**
> **करिणो हस्तिपकाहतः क्वणन् ॥ ८४ ॥**

बलसे बुद्धिही बडी है, जिसके न रहनेसे हाथीकी यह दुर्बल अवस्था
, महावतभी हाथीकी गरदनपर प्रहार करके यही मानो डुगडुगीसे ढंडोरा
फेरता है ॥ ८४ ॥

अथ संजीवकः साशङ्कमाह-'सेनापते! किं मया कर्तव्यम्,
तदभिधीयताम्'। करटको ब्रूते-'वृषभ! अत्र कानने
तिष्ठसि। अस्मद्देवपादारविन्दं प्रणम'। संजीवको ब्रूते-'तद-
भयवाचं मे यच्छ गच्छामि'। करटको ब्रूते-'शृणु रे बलीवर्द!
अलमनया शङ्कया। यतः-

---

१ पुरुष शस्त्रादिकसेही हत्या किया करतेहैं। हत्या करना महापाप है, राजाकी
आज्ञाका त्यागना ब्राह्मणोंमें अश्रद्धा, पति स्त्रीका अलग २ सोना, यह सब करना
विना अस्त्रके हत्या करना है, अर्थात् हत्याकी समान महापाप है।

२ डुगडुगी -एक प्रकारका बाजा। इसको बजाय कर सब जगह राजाकी आज्ञा
फेर दी जाती है। एक महावत हाथीकी पीठपर बैठ डुगडुगी बजाता है, इसीलिये
कविने कहा -कि, डुगडुगी मानों जगत्मे यही ढंडोरा फेरतीहै कि-बलसे बुद्धि बडी
है देखो - एक छोटासा मनुष्य बुद्धिकी चतुरतासे बडेभारी हाथीकी पीठपर बैठ
उसको इच्छानुसार चलाता है।

इसके उपरान्त संजीवकने डरसहित कहा,—'हे सेनापते ! हमें क्या करना होगा सो कहिये'। करटकने कहा,'—अरे बैल ! जो तेरी इस वनमें वास करनेकी इच्छा हो तो जायकर महाराजके चरणकमलमें गिर'। संजीवकने कहा, 'तो मुझको अभय दीजिये, मैं जाताहूं'। करटकने कहा,—'सुन रे बैल ! तुझे यह भय नहीं करना होगा, कारण,—

प्रतिवाचमदत्त केशवः
शपमानाय न चेदिभूभुजे ।
अनुहुङ्कुरुते घनध्वनिं
न हि गोमायुरुतानि केसरी ॥ ८५ ॥

कोसते हुए शिशुपालको श्रीकृष्णजीने उत्तर नहीं दिया, क्योंकि,—मेघकी ध्वनिपर सिंह गर्जता है कुछ शृगालके शब्दपर शब्द नहीं करता * ॥ ८५ ॥

अन्यच्च-
और भी;—

तृणानि नोन्मूलयति प्रभञ्जनो
मृदूनि नीचैः प्रणतानि सर्वतः
समुच्छ्रितानेव तरून्प्रबाधते
महान्महत्येव करोति विक्रमम् ॥ ८६ ॥'

सब प्रकारसे नीचेको झुके हुए और कोमल तिनकोंको पवन नहीं उखाड़ता अति ऊंचे वृक्षोंकोही उखाड़ता है, क्योंकि बड़ा पुरुष बड़ेहीपर पराक्रम करता है ॥ ८६ ॥'

ततस्तौ संजीवकं कियद्दूरे संस्थाप्य पिङ्गलकसमीपं गतौ। ततो राज्ञा सादरमवलोकितौ प्रणम्योपविष्टौ । राजाह

शृणु देव !

सुनिये महाराज !

पुण्याल्लब्धं यदेकेन तन्ममापि भविष्यति ।
हत्वा भिक्षुं महालोभान्निध्यर्थी नापितो हतः ॥ १०८ ॥'

पुण्यप्रयुक्त किसी एक पुरुषने जिसको पायाहै 'वह मुझेभी मिलजाय' ऐसा जानकर जो पुरुष कर्म करताहै, वह नष्ट होजाताहै; इसका दृष्टान्त अतिशय लोभप्रयुक्त भिखारीको ताड़ना करके निधिका चाहनेवाला नाई जिसप्रकार हुआ था ॥ १०८ ॥'

राजा पृच्छति-'कथमेतत ?' । मन्त्री कथयति-

राजाने कहा;-'यह कैसे ?' मंत्री बोला-

कथा ९.

अस्त्ययोध्यायां चूडामणिर्नाम क्षत्रियः । तेन धनार्थिना महता कायक्लेशेन भगवांश्चन्द्रार्धचूडामणिश्चिरमाराधितः । ततः क्षीणपापोऽसौ स्वप्ने दर्शनं दत्त्वा भगवदादेशाद्यक्षेश्वरेणादिष्टः-'यत्त्वमद्य प्रातः क्षौरं कृत्वा लगुडहस्तः सन् गृहद्वारि निभृतं स्थास्यसि । ततोऽस्मिन्नेवाङ्गणे समागतं यं भिक्षुं पश्यसि तं निर्दयं लगुडप्रहारेण हनिष्यसि । ततोऽसौ भिक्षुकस्तत्क्षणात् सुवर्णपूर्णकलशो भविष्यति । तेन त्वया यावज्जीवं सुखिना भवितव्यम्' । ततस्तथानुष्ठिते तद्वृत्तम । तत्र क्षौरकरणायानीतेन नापितेन तत्सर्वमालोक्य चिन्तितम्-'अये ! निधिप्राप्तेरयमुपायस्तदहमप्येवं किं न करोमि'। ततः प्रभृति नापितः प्रत्यहं तथाविधो लगुडहस्तः सुनिभृतं भिक्षोरागमनं प्रतीक्षते । एकदा तेन तथा प्राप्तो भिक्षुर्लगुडेन व्यापादितः । तस्मादपराधात्सोऽपि नापितो राजपुरुषैर्व्यापादितः । अतोऽहं ब्रवीमि-'पुण्याल्लब्धं यदेकेन' इत्यादि । राजाह-

अयोध्यानगरमें चूडामणिनामक एक क्षत्रिय था । उसने धनकी कामनासे बहुत समयतक कठोर कायक्लेश स्वीकार कर भगवान् चन्द्रशेखर हर (शिव)

की आराधना की। उससे उसका समस्त कुभाग्य दूर हुआ, और भगवान् महादेवजीके अनुग्रहसे यक्षोंके राजा कुबेरजीने स्वप्नमें उसको यह आज्ञा दी कि,-'तुम आज सवेरे ही हजामत वनवाय लाठी हाथमें ले अपने घरके द्वारपर छिपेरहना। फिर अपने घरके आगनमें किसी भिखारीको आता हुआ देखकरही तुम निठुर हो लाठी मारकर उसे वध करना। वह भिखारी वैसेही उसी समय सुवर्णका भरा कलश होजायगा; तुम उस सुवर्णको पाय जन्मभर सुखसे वितायसकोगे'। इसके पीछे उसने प्रभातको उस स्वप्नके अनुसार कार्य करके निधि पाई। उसने हजामत वनानेके लिये जिस नाईको बुलाया था, उसने यह समस्त वृत्तान्त देखकर विचार किया;-'अहह! वस यही निधि पानेका उपाय है; फिर भला मैं क्यों नहीं इस उपायसे निधि प्राप्त करूं!' तवसे यह नाई प्रतिदिन इसी भांतिसे लाठी हाथमें लेकर भिखारीके आनेकी वाट देखता रहता था। एकदिन उसने एक भिखारीको घरमें आता हुआ देखकर लट्ठसे उसका मारडाला। उस हत्याके अपराधसे राजपुरुषोंने उसको प्राण-दड दिया इसीलिये मैं कहताहूं कि 'पुण्यप्रयुक्त कोई पुरुष' इत्यादि॥ राजा बोला-

'पुरावृत्तकथोद्गारैः कथं निर्णीयते परः।
स्यान्निष्कारणबन्धुर्वा किं वा विश्वासघातकः॥१०९॥

'पूर्वकालका वृत्तान्त कहनेसे किसप्रकारसे परायेका निर्णय हो, कि कौन कारणरहित वन्धु है, और कौन विश्वासघातक है॥ १०९॥

यातु। प्रस्तुतमनुसंधीयताम्। मलयाधित्यकायां समासितो वर्तते चित्रवर्णो राजा। तदधुना किं विधेयम्'। मन्त्री वदति-'देव! आगतप्रणिधिमुखान्मया श्रुतं तन्महामन्त्रिणो गृध्रस्योपदेशे यच्चित्रवर्णेनानादरः कृतः। ततोऽसौ मूढो जेतुं शक्यः। तथा चोक्तम्-

जाने दो-इस वातको छोड दो। इस समय प्रस्तुतमें कर्तव्य निश्चय करो। राजा चित्रवर्ण मलयपर्वतके समीप सेना डालकर पडा हुआ है। सो इस समय क्या करना चाहिये? मन्त्रीने कहा,-'महाराज! आयेहुए गुप्तदूतके मुखसे सुना कि, उस मन्त्रि श्रेष्ठ गिद्धके उपदेशवचनोंपर चित्रवर्णने अनादर दिखाया है। इसकारण इस मूर्ख राजाको जीतना कठिन नहीं होगा। कहाभी है कि;-

लुब्धः क्रूरोऽलसोऽसत्यः प्रमादी भीरुरस्थिरः ।
मूढो योधावमन्ता च सुखच्छेद्यो रिपुः स्मृतः ॥११०

लोभी, क्रूर, (निठुर), असत्यपरायण, प्रमादी (कर्त्तव्यमें मनको नहीं लगानेवाला), डरपोक, अस्थिर, मूढ और अपने योधाका अपमान करनेवाले शत्रुका संहार अनायाससे होजाताहै ॥ ११० ॥

ततोऽसौ यावदस्मद्दुर्गद्वाररोधं न करोति तावन्नद्यद्रिवनवर्त्मसु तद्बलानि हन्तुं सारसादयः सेनापतयो नियुज्यन्ताम् तथा चोक्तम्-

सो चित्रवर्ण आकर जबतक हमारे दुर्गका द्वार न घेरले, तिससे पहले उसकी सेनाका नाश करनेके लिये हमलोगोंके सेनापति सारस इत्यादि पर्वत नदी और वनके मार्गोंमें भेजेजाय । कहाभी है कि,-

दीर्घवर्त्मपरिश्रान्तं नद्यद्रिवनसंकुलम् ।
घोराग्निभयसंत्रस्तं क्षुत्पिपासार्दितं तथा ॥ १११ ॥

दूर मार्गके चलनेसे थकेको, नदी, पर्वत और वनसे रोके हुयेको, घोर अग्नि भयसे भीत, भूख प्याससे पीडित ॥ १११ ॥

प्रमत्तं भोजनव्यग्रं व्याधिदुर्भिक्षपीडितम् ।
असंस्थितमभूयिष्ठं वृष्टिवातसमाकुलम् ॥ ११२ ॥

मतवाला, भोजन करनेमें लगेहुएको, रोगीको और दुर्भिक्षसे पीडित व अस्थिर, सख्यामें अल्प, वर्षावायुसे व्याकुल ॥ ११२ ॥

पङ्कपांसुजलाच्छन्नं सुव्यस्तं दस्युविद्रुतम् ।
एवंभूतं महीपालः परसैन्यं विघातयेत् ॥ ११३ ॥

कीच, धूल, व जलसे घिरे और अतिशय हडबडाई, चोरपीडित इस प्रकारकी शत्रुसेनाको राजा नष्ट करै ॥ ११३ ॥

अन्यच्च-
औरभी-

अवस्कन्दभयाद्राजा प्रजागरकृतश्रमम् ।
दिवासुप्तं समाहन्यान्निद्राव्याकुलसैनिकम् ॥ ११४ ॥

चढाईके भयके मारे रातके जागनेसे थककर दिनको सोतीहुई निद्रासे व्याकुल सेनाको राजा नाश करदे ॥ ११४ ॥

अतस्तस्य प्रमादिनो बलं गत्वा यथावकाशं दिवानिशं घ्नन्त्वस्मत्सेनापतयः' । तथानुष्ठिते चित्रवर्णस्य सैनिकाः सेनापतयश्च बहवो निहताः । ततश्चित्रवर्णो विषण्णः स्वमन्त्रिणं दूरदर्शिनमाह-'तात किमित्यस्मदुपेक्षा क्रियते । किं काप्यविनयो ममास्ति । तथा चोक्तम्-

इसकारण सारस इत्यादि सेनापतिलोग जायकर उस प्रमत्त राजाकी सेनाको सुअवसर पाय दिनरात मारें' । इसके उपरान्त वह मन्त्रणानुरूप कार्य किया गया । चित्रवर्णकी बहुत सारी सेना और सेनापति मारेगये । तिससे चित्रवर्ण अत्यन्त शोकाकुल हो दूरदर्शी नामक गिद्धमन्त्रीसे बोला,-'पितः ! आप किस लिये हमको उपेक्षा दिखलाते हैं ? हमारी ओर क्या किसी विषयमें कोई अविनयका कार्य हुआहै ? कहाभी है कि,-

न राज्यं प्राप्तमित्येव वर्तितव्यमसांप्रतम् ।
श्रियं ह्यविनयो हन्ति जरा रूपमिवोत्तमम् ॥ ११५ ॥

राज्यको पायाहुआ जानकर अविनय नहीं करे, क्योंकि वृद्धावस्था जिसप्रकार उत्तम सौन्दर्य्यको नष्ट करती है ऐसेही अविनय सम्पत्तिका नाश करता है ॥ (१) ॥ ११५ ॥

अपरं च-

औरभी,-

दक्षः श्रियमधिगच्छति पथ्याशी कल्यतां सुखमरोगी ।
उद्युक्तो विद्यान्तं धर्मार्थयशांसि च विनीतः ॥ ११६ ॥'

कार्यमें निपुण पुरुष सम्पत्तिको पाताहै, पथ्यसे भोजन करनेवाला मंगल सुख व निरोगताको पाताहै, उद्योगी पुरुष विद्याकी सीमा पाताहै, और विनयी धर्म, अर्थ और यशको पाता है ॥ ११६ ॥'

(१) वृद्धावस्था जिसप्रकार शरीरका बल, वीर्य, सौन्दर्य इत्यादि समस्त नष्ट करती है; 'अविनय' अर्थात् अत्याचार दोष वैसेही राजाके राज्यको नष्ट करताहै ।

गृध्रोऽवदत्-'देव शृणु-

गिद्धने कहा,-'महाराज ! सुनिये,-

अविद्वानपि भूपालो विद्यावृद्धोपसेवया ।
परां श्रियमवाप्नोति जलासन्नतरुर्यथा ॥ ११७ ॥

जलके समीपका वृक्ष जिसप्रकारसे वृद्धि पाता है, अविद्वान् राजाभी गुणवान्से निकट रखकर वृद्धि पाता है (१) ॥ ११७ ॥

अन्यच्च-

औरभी,-

पानं स्त्री मृगया द्यूतमर्थदूषणमेव च ।
वाग्दण्डयोश्च पारुष्यं व्यसनानि महीभुजाम् ॥ ११८ ॥

मादक द्रव्योंका पीना, स्त्री, मृगया, द्यूतक्रीडा, अर्थका दूषण, दारुण दंड, कठोरवचन ये सब राजा लोगोंके व्यसन हैं (२) ॥ ११८ ॥

किं च-

औरभी,-

न साहसैकान्तरसानुवर्तिना
न चाप्युपायोपहतान्तरात्मना ।

---

(१) वृक्ष जिसप्रकार जलाशयके निकट रह उसके जलको खेचकर वृद्धि पा है, वैसेही अज्ञानी राजा ज्ञानीमन्त्रीके साथ रह उसके उपदेश पाय अत्य उन्नति पाताहै ।

(२) 'स्त्री' अर्थात् स्त्रीसम्भोगमें अत्यन्त आसक्ति, 'मादक द्रव्योंका पी शराब आदिक पीना, 'मृगया' अर्थात् शिकारमे रहकर कर्त्तव्य कामों भूलजाना, 'द्यूतक्रीडा' जुआ खेल्ना । राजाके इन सब दोषोंको काम व्यसन कहतेहैं । अर्थात् ये सब दोष कामरिपुसे उत्पन्न होतेहैं । 'अ दूषण' अर्थात् प्रजाका न्यायसे जो चाहिये उसको न देना; । और प्रज अन्याय करके धन लेना । 'निदारुण दंड' अर्थात् वध, ताडन, बं इत्यादि भयानक राजदण्ड, विना अपराधसे या साधारण अपराधसे दु दमा चलादेना । 'कठोरवचन' या वाक्पारुष्य, अर्थात् प्रजाको गाली दे अथवा निठुर वचन कहना । ये तीन राजाके क्रोधसे उत्पन्न होते हैं, ये आठप्रकारके व्यसनोंमे प्रधान हैं । इनसे अवश्य राजाको विपद उठा पडती है ।

विभूतयः शक्यमवाप्तुमूर्जिता
नये च शौर्ये च वसन्ति संपदः ॥ ११९ ॥

केवल साहसमात्रका अवलंबन करनेवाला और उपायरहित, ऐश्वर्यको नहीं पायसकता, वरन् न्यायमें और वीरताहीमें लक्ष्मी बसती है (१) ॥ ११९ ॥

त्वया स्वबलोत्साहमवलोक्य साहसैकवासिना मयोपन्यस्तेष्वपि मन्त्रेष्वनवधानं वाक्पारुष्यं च कृतम्। अतो दुर्नीतेः फलमिदमनुभूयते। तथा चोक्तम्—

आप अपनी सेनाका युद्धमें उत्साह देखकरही इस अत्यन्त दुःसाहसके —यमें प्रवृत्त हुए हैं, हमने वारवार सुमंत्रणा दी और आपने कठोर वचन हकर निरादर किया है, उस दुर्नीतिके फलसे ही आप इस कष्टमे घिरे हैं। ास्त्रमें कहाभी है कि,—

दुर्मन्त्रिणं कमुपयान्ति न नीतिदोषाः
संतापयन्ति कमपथ्यभुजं न रोगाः।
कं श्रीर्न दर्पयति कं न निहन्ति मृत्युः।
कं स्त्रीकृता न विषयाः परितापयन्ति ॥ १२० ॥

नीतिका दोप किस दुष्ट मन्त्रकारको नहीं होता ? और रोग किस कुपथ्य खानेवालेको सताप नहीं देते ? सम्पत्ति किसको गर्वित नहीं करती? यम किसको नष्ट नहीं करता ? और स्त्रीकृत विषय किसको संताप नहीं देता ? ॥ १२० ॥

अपरं च—

औरभी,—

मुदं विषादः शरदं हिमागम-
स्तमो विवस्वान्सुकृतं कृतघ्नता।
प्रियोपपत्तिः शुचमापदं नयः
श्रियः समृद्धा अपि हन्ति दुर्नयः ॥ १२१ ॥

(१) जो पुरुष भला बुरा न विचार कर सहसा वीरता प्रकाश करताहै, अथवा कार्यके समय श्रेष्ठ उपाय स्थिर नहीं करसकता, उसका मगल कभी नहीं होता, कारण कि—केवल नीति या वीरताके बलसेही सम्पत्ति नहीं मिलसकती, नुनीतिसहित वीरता प्रकाश करनेसे सम्पत्ति मिलती है।

विपादपन हर्षको, शीतकाल शरद्‌को, सूर्य अन्धकारको, कृतघ्नता पुण्यः मित्रका दर्शन शोकको, न्याय विपत्तिको और दुर्नीति बढी चढी लक्ष्मीको नष्ट करदेती है ॥ १२१ ॥'

ततो मयाप्यालोचितम्-'प्रज्ञाहीनोऽयं राजा। नो चेत्व थं नीतिशास्त्रकथाकौमुदीं वागुल्काभिस्तिमिरयति । यतः

जब आपने हमारे वचनोंको त्यागा तब हमने विचारा कि,-'यह अतिनिर्बु घ है, नहीं तो हमारी नीतिशास्त्रविषयक सुमन्त्रणारूप चान्दनीको यह दुर्वाक रूप उल्का राशिसे क्यों ढकता ? (१) कहा भी है कि,-

यस्य नास्ति स्वयं प्रज्ञा शास्त्रं तस्य करोति किम् ।
लोचनाभ्यां विहीनस्य दर्पणः किं करिष्यति ॥१२२॥

जिसको बुद्धिही नहीं शास्त्र उसका क्या करसकैगा ? दोनों नेत्रोंसे रहि पुरुषको दर्पण क्या करसकताहै ? ॥ १२२ ॥

इत्यालोच्य तूष्णीं स्थितः '। अथ राजा बद्धाञ्जलिराह- 'तात ! अस्त्ययं ममापराधः । इदानीं यथावशिष्टबलसहि तः प्रत्यावृत्य विन्ध्याचलं गच्छामि तथोपदिश' । गृध्रः स्व गतं चिन्तयति—'क्रियतामत्र प्रतीकार। यतः-

इसी विचारसे मैं उदासीन हूं' । इसके उपरान्त राजाने हाथ जोडकर कहा,- 'पितः ! सत्य २ ही हमने बडा भारी अपराध किया है, इससमय बचीहुई सेना और सामन्तोंको लेकर हम जिसप्रकार विन्ध्याचलको लौटजायसके, ऐसा उपाय कीजिये'। गिद्ध मनहीमन विचारने लगा,-'इस समय प्रतिकारका उपाय अवश्य ही करना होगा । कारण,-

देवतासु गुरौ गोषु राजसु ब्राह्मणेषु च ।
नियन्तव्यः सदा कोपो बालवृद्धातुरेषु च' ॥ १२३ ॥

देवतासे, गुरुसे, राजासे, ब्राह्मणसे, बालकसे, वृद्धसे कदापि क्रोध करना कर्त व्य नहीं है ॥ १२३ ॥'

---

(१) जैसे घोर तापपूर्ण उल्कापात निर्मल स्निग्ध चादनीको ढकलेताहै, वैसे आपके क्रोधपूर्ण वचनोंने हमारी मन्त्रणाको ढकलियाथा, अर्थात् आ उस समय क्रोध और लोभके वश हो हमारी श्रेष्ठ मन्त्रणा नहीं सुनी ।

मन्त्री प्रहस्य ब्रूते-'देव ! मा भैषीः। समाश्वसिहि । शृणु-देव !

इसके पीछे गिद्धने हँसकर कहा,-'महाराज ! भय न कीजिये, धीरज धरिये । सुनिये महाराज !-

मन्त्रिणां भिन्नसंधाने भिषजां सांनिपातके ।
कर्मणि व्यज्यते प्रज्ञा सुस्थे को वा न पण्डितः १२४॥

मत्रीलोगोंकी बुद्धि अलग हुओंके मिलानेमें और वैद्योंकी बुद्धि सन्निपातमें ी जातीहै। यों तो स्थिरतामें कौन पडित नहीं ॥ १२४ ॥

परं च-

औरभी,-

आरभन्तेऽल्पमेवाज्ञाः कामं व्यग्रा भवन्ति च ।
महारम्भाः कृतधियस्तिष्ठन्ति च निराकुलाः ॥ १२५॥

निर्बुद्धिलोग अल्प कार्य करनेसेही व्यग्र होजाते हैं, बुद्धिमान् बडे २ कार्य ते हैं, और व्याकुल नहीं होते (१) ॥ १२५ ॥

तदत्र भवत्प्रतापादेव दुर्गं भङ्क्त्वा कीर्तिप्रतापबलसहितं ग्रामचिरेण कालेन विन्ध्याचलं नेष्यामि'। राजाह-'कथम-ना स्वल्पबलेन तत्संपद्यते'। गृध्रो वदति-'देव ! सर्वं भवि-ष्यति । यतो विजिगीषोरदीर्घसूत्रता विजयसिद्धेरवश्यं भाविलक्षणं तत्सहसैव दुर्गावरोधः क्रियताम्'। अथ प्रहितप्रणिधिना बकेनागत्य हिरण्यगर्भस्य तत्कथितम् । देव ! स्वल्पबल एवायं राजा चित्रवर्णो गृध्रस्य मंत्रोपस्त-म्भेन दुर्गावरोधं करिष्यति'। राजाह-'सर्वज्ञ ! किमधुना विधेयम्'। चक्रो ब्रूते-'स्वबले सारासारविचारः क्रियताम्'। तज्ज्ञात्वा सुवर्णवस्त्रादिकं यथार्हं प्रसादप्रदानं क्रिय-ताम्। यतः-

महाराज ! आपके प्रतापसेही हम शत्रुका गढ तोडेंगे, और अक्षत कीर्ति व अखण्ड प्रतापके सहित, सेनाके साथ, आपको शीघ्रही विन्ध्याचलपर लेजा-

(१) इसका मूल श्लोक माघनिर्मीत शिशुपालवध काव्यके दूसरे सर्गमे है

ऊंगा' । राजाने कहा,–'इस समय इस थोडी सेनासे यह कार्य किसप्रकारसे सिद्ध होगा ?' गिद्धने कहा,–'महाराज! सब सिद्ध होजायगा । कारण कि, विजयचाहनेवाले राजामें जो कुछभी दीर्घसूत्रता (१) न हो, तो जानो कि, उसकी विजय अवश्य होगी । इसलिये आजही सहसा शत्रुके गढपर चढाई कीजिये' । इसके उपरान्त उस गूढचर बगलेने राजा हिरण्यगर्भके निकट आयकर कहा कि,–'महाराज ! राजा चित्रवर्ण गिद्ध मन्त्रीके उपदेशसे बचीहुई थोडीसी सेनाको लेकर यही आज हमारे गढद्वारको रूंधेगा'। राजा राजहसने कहा,–'हे मन्त्रिश्रेष्ठ! सर्वज्ञ! अब क्या करना चाहिये ?' चक्रवाकने कहा,–'महाराज ! अपनी सेनाके गुण अवगुण विचार करके सबको यथायोग्य सुवर्णवस्त्रादि राजप्रसाद दीजिये। कहाभी है कि,–

यः काकिनीमप्यपथप्रपन्नां
समुद्धरेन्निष्कसहस्रतुल्याम् ।
कालेषु कोटिष्वपि मुक्तहस्त-
स्तं राजसिंहं न जहाति लक्ष्मीः ॥ १२६

जो स्थानमे स्थित हुई कोडीको सहस्र निष्ककी तुल्य जानकर संग्रह करे और विशेष अवसरपर करोड धनसेभी हाथ खोले रहे, उस राजसिंहको लक्ष्मी त्याग नहीं करती है (२) ॥ १२६ ॥

अन्यच्च-
औरभी--

क्रतौ विवाहे व्यसने रिपुक्षये
यशस्करे कर्मणि मित्रसंग्रहे ।
प्रियासु नारीष्वधनेषु बान्धवे-
ष्वतिव्ययो नास्ति नराधिपाष्टसु ॥ १२७ ॥

(१) "दीर्घसूत्रता" कर्तव्यकार्यमें वृथा देरलगाना । अनिच्छा या अयत्नसे शीघ्र कार्यको न करना ।

(२) जो एक कौडीको वृथा खर्च नहीं करते, और कर्तव्य कार्यके आनेपर अकातरतासे करोडों रुपये खर्च करतेहैं, उनको राज्यलक्ष्मी कभी नहीं छोडती है । 'राजसिंह' अर्थात् सिंह जिसप्रकार पशुओंमें श्रेष्ठ है, वैसेही जो राजाओंमें श्रेष्ठ हो ।

यज्ञमें, विवाहमे, विपत्कालमें, शत्रुके क्षय करनेमें, कीर्त्ति बढानेवाले कर्ममें, मित्र करनेमें, बन्धुलोगोमें, हे महाराज! इन आठोंमे अतिशय व्यय नहींहै॥१२७॥

यतः-

कारण,-

मूर्खः स्वल्पव्ययत्रासात्सर्वनाशं करोति हि।
कः सुधीः संत्यजेद्भाण्डं शुल्कस्यैवातिसाध्वसात्॥ १२८॥'

निर्बुद्धिलोग अतिअल्प व्ययके भयसे सब नाश करदेता है, कौन सुबुद्धिमान् शुल्क देनेके डरसे भाण्डको त्यागेगा (१)॥१२८॥'

राजाह-'कथमिह समयेऽतिव्ययो युज्यते? । उक्तं च-आपदर्थे धनं रक्षेत' इति'। मन्त्री ब्रूते-'श्रीमतः कथमापदः?' राजाह-'कदाचिच्चलते लक्ष्मीः'। मन्त्री ब्रूते-'संचितापि विनश्यति'। तद्देव! कार्पण्यं विमुच्य दानमानाभ्यां स्वभटाः पुरस्क्रियन्ताम्। तथा चोक्तम्-

राजाने कहा,-'इस समय अधिक व्यय करना क्या उचित है? शास्त्रमें कहा है कि,-'विपद्के लिये धन इकट्ठाकर रक्खे'। मंत्री बोला,-'आप सरीखे राजश्रीको कभी विपद्की संभावना नहीं'। राजा बोला,-'लक्ष्मी तो कभी चलायमान होसकती है'। मन्त्री फिर बोला,-'महाराज! लक्ष्मीके प्रतिकूल होनेसे इकट्ठा किया धनभी तो नाश होजाता है। इसीलिये हे महाराज! कंजूसता छोडकर धन व सन्मान देकर अपनी सेनाको उत्साहित कीजिये। जैसा कहाभी है कि,-

परस्परज्ञाः संहृष्टास्त्यक्तुं प्राणान्सुनिश्चिताः।
कुलीनाः पूजिताः सम्यग्विजयन्ते द्विषद्बलम्॥१२९॥

परस्पर एक दूसरेको जाननेवाले, हर्षित प्राणत्याग करनेको तैयार, कुलीन, मान प्राप्तकिये, ये शत्रुकी सेनाको जीतलेते हैं॥१२९॥

(१) 'शुल्क' वाणिज्यकार्यके लिये राजाको जो कर देना पडताहै। अङ्गरेजीमें इसको Toll, duty, custom, इत्यादि कहतेहैं। राजाको कुछ एक शुल्क देनेके कारण कोई अपने मूलधनके सहित वाणिज्यको छोड नहीं देताहै।

अपरं च-

औरभी,-

सुभटाः शीलसंपन्नाः संहताः कृतनिश्चयाः ।
अपि पञ्चशतं शूरा निघ्नन्ति रिपुवाहिनीम् ॥ १३० ॥

शीलसम्पन्न, मिलेहुए, प्राण देनेको तैयार, शूर अपने पाचसौ योधाभी शत्रुके ओरकी अनेक सेनाको मारडालते हैं ॥ १३० ॥'

किं च-

औरभी;-

शिष्टैरप्यविशेषज्ञ उग्रश्च कृतनाशकः ।
त्यज्यते किं पुनर्नान्यैर्यश्चाप्यात्मंभरिर्नरः ॥ १३१ ॥

श्रेठलोगभी विशेष ज्ञानरहित, क्रोधी, कृतघ्न, आत्मम्भरि पुरुषको त्याग करते हैं। फिर और क्यो नहीं त्याग करेंगे (१) ॥ १३१ ॥

यतः-

कारण,-

सत्यं शौर्यं दया त्यागो नृपस्यैते महागुणाः ।
एभिर्मुक्तो महीपालः प्राप्नोति खलु वाच्यताम् ॥ १३२

सत्य, शूरता, दया, त्यागना, राजाके ये महागुण हैं, जिस राजामें ये न वह अत्यन्त निन्द्यताको पाता है ॥ १३२ ॥

ईदृशि प्रस्तावेऽमात्यास्तावदेव पुरस्कर्तव्याः । तथा चोक्तं-

राजा, मन्त्रिलोगोंको अवश्यही पुरस्कार देवे, कहाभी है कि,-

यो येन प्रतिबद्धः स्यात्सह तेनोदयी व्ययी ।
स विश्वस्तो नियोक्तव्यः प्राणेषु च धनेषु च ॥ १३३

जो राजा मन्त्रिसे बढै, वह राजा उस मन्त्रीको बढावे, धन दे, और जीव व धनविषयमें अत्यन्त विश्वासी पात्र नियत करे ॥ १३३ ॥

(१) 'आतमम्भरि' जो केवल अपनाही भरना भरे, अपनाही मतलब नि नेको तैयार रहै। 'कृतघ्न' जो पुरुष उपकारको नहीं माने, या याद और उपकार करनेवालेका बुरा चाहै।

यतः-

कारण,-

धूर्तः स्त्री वा शिशुर्यस्य मन्त्रिणः स्युर्महीपतेः।
अनीतिपवनक्षिप्तः कार्याब्धौ स निमज्जति॥ १३४॥

धूर्त, स्त्री और बालक ये सब जिस राजाके मंत्री हैं वह राजा अन्यायरूपी पवनसे फेका जाकर अकार्यरूप समुद्रमें डूबजाताहै (१)॥ १३४॥

शृणु देव !

सुनिये महाराज !-

हर्षक्रोधौ समौ यस्य कोशः स्वल्पव्ययेन च।
नित्यं भृत्यानुपेक्षा च तस्य स्याद्धनदा धरा॥ १३५॥

हर्ष और क्रोध जिसके बराबर है, जिसके खजानेमें थोडाभी अपव्यय नहीं है, और जो नित्य सेवकोंकी देखभाल करताहै, पृथ्वी उसको धनदा होतीहै (२)॥ १३५॥

येषां राज्ञा सह स्यातामुच्चयापचयौ ध्रुवम्।
अमात्या इति तान्राजा नावमन्येत्कदाचन॥ १३६॥

राजाके सहित जिनकी बढती घटती हो, उन मन्त्रियोंका नीतिमान् राजा कभी अनादर न करै (३)॥ १३६॥

यतः।

कारण,-

महीभुजो मदान्धस्य मज्जतोऽकार्यसागरे।
स्खलतो हि करालम्बः सुहृत्सचिवचेष्टितम्॥ १३७॥'

---

(१) 'अन्यायरूपी पवन' अविवेचनारूपी आंधी, बिजली अर्थात् न्यायके मार्गसे निकालकर 'अकार्यरूपसमुद्रमें' अर्थात् कुकार्यरूप समुद्रमें डुबाता है। जैसे अपार समुद्रमे आंधी आनेसे निस्तार नहीं, वैसेही जब राजा कुमंत्रीकी मन्त्रणामें पडजाताहै, तब हिताहित ज्ञानशून्य हो पापमें पटनेसे उसका निस्तार नहीं होता।

(२) जो राजा हर्ष और शोकसे अधीर नहीं होता अर्थात् जो अत्यन्त धीरहै।

(३) जो मन्त्रिगण प्रभुकी सम्पत्तिमेंही अपनी सम्पत्ति और प्रभुकी विपद्मेंही अपनी विपद् समझते हैं, राजाको ऐसे प्रभुभक्त विश्वासी मन्त्रियोंका अपमान कभी नहीं करना चाहिये।

जब राजा घोर मदसे अन्धा होकर अकार्यके समुद्रमें डूबता है, तब उस खसकते हुएको करका अवलंबन देनेवाला श्रेष्ठ मन्त्रीही है ॥ १३७ ॥'

अथागत्य प्रणम्य मेघवर्णो ब्रूते- 'देव ! दृष्टिप्रसादं कुरु। इदानीं विपक्षो युद्धार्थी दुर्गद्वारि वर्तते । तद्देवपादादेशाद्बहिर्निःसृत्य स्वविक्रमं दर्शयामि । तेन देवपादानामानृण्यमुपगच्छामि' । चक्रवाको ब्रूते-'मैवम् । यदि बहिर्निःसृत्य योद्धव्यं तदा दुर्गाश्रयणमेव निष्प्रयोजनम् ।

इसके उपरान्त मेघवर्णने आय प्रणाम करके राजासे कहा,-'महाराज ! कृपा दृष्टि दान कीजिये । युद्धका अभिलाषी शत्रु आयकर गढके द्वारपर टिकाहुआ है । महाराजकी आज्ञा पातेही बाहर निकलकर अपना पराक्रम दिखाऊं । और महाराजके अनुग्रहऋणसे छूटूं' । चक्रवाकने कहा,-'नहीं, ऐसा मत करना, जो गढके बाहर जाकरही लडना हो तो गढके आश्रय करनेका प्रयोजन क्या ? ।

अपरं च-

और देखो ! -

विषमो हि यथा नक्रः सलिलान्निर्गतोऽवशः ।
वनाद्विनिर्गतः शूरः सिंहोऽपि स्याच्छृगालवत ॥१३८॥

जैसे भयानक नाका जलसे निकलकर बेवश होजाताहै, वनसे निकलाहुआ सिंहभी सत्य सत्य गीदडकी समान है ॥ १३८ ॥'

काकोब्रूते-'देव ! स्वयं गत्वा दृश्यतां युद्धम् । यतः-

काकनें कहा,-महाराज ! स्वयं जायकर युद्ध देखिये । कारण;-

पुरस्कृत्य बलं राजा योधयेदवलोकयन ।
स्वामिनाधिष्ठितः श्वापि किं न सिंहायते ध्रुवम्१३९॥'

राजा देखता हुआ सेनाको आगे करके युद्ध करावे,स्वामीका ललकाया हुआ कुत्ताभी क्या सिंहकी समान आचरण नहीं करता ! ॥ १३९ ॥'

अथ ते सर्वे दुर्गद्वारं गत्वा महाहवं कृतवन्तः । अपरेद्युश्चित्रवर्णो राजा गृध्रमुवाच-'तात! स्वप्रतिज्ञातमधुना निर्वाहय' गृध्रो ब्रूते-'देव ! शृणु तावत-

इसके उपरान्त उन सबन दुर्गके द्वारपर आयकर घोर युद्ध आरंभ किया। दूसरे दिन राजा चित्रवर्णने गिद्धसे कहा;-'पितः ! इससमय अपनी प्रतिज्ञा पूरी कीजिये'। गिद्धने कहा,-'महाराज ! तो सुनिये,-

अकालसहमत्यल्पं मूर्खव्यसनिनायकम् ।
अगुप्तं भीरुयोधं च दुर्गव्यसनमुच्यते ॥ १४० ॥

बहुतकालतक स्थाई, अनेक सैन्य, पंडित, व्यसनरहितका आश्रय, और विख्यात व शूर वीर, ये सब दुर्गके गुण हैं। अल्पकालस्थायी, और थोडीसी सेना, मूर्ख व्यसनीका आश्रय, और गुप्त डरपोक योधा, ये सब दुर्गके व्यसन हैं ॥ १४० ॥

तत्तावदत्र नास्ति ।

इस शत्रुके गढमें वह एकभी दोष नहीं है, किन्तु,-

उपजापश्चिरारोधोऽवस्कन्दस्तीव्रपौरुषम् ।
दुर्गस्य लंघनोपायाश्चत्वारः कथिता इमे ॥ १४१ ॥

(१) भेद, बहुतकालतकका घेरा, आक्रमण और तीव्र पौरुष, ये गढ जीतनेके चार उपाय कहे हैं॥ १४१ ॥

अत्र यथाशक्ति क्रियते यत्नः'। चित्रवर्णः कथयति-'एवमेव'। ततोऽनुदित एव भास्करे चतुर्ष्वपि दुर्गद्वारेषु वृत्ते युद्धे दुर्गाभ्यन्तरगृहेष्वेकदा काकैरग्निर्निःक्षिप्तः। ततः 'गृहीतं गृहीतं दुर्गम्' इति कोलाहलं श्रुत्वाऽनेकगृहेषु च पावकम्प्रदीप्तं प्रत्यक्षेणावलोक्य राजहंससैनिका बहवो दुर्गवासिनश्च सत्वरं ह्रदं प्रविष्टाः। यतः-

इससमय इस विषयमें यथासाध्य चेष्टा करनी चाहिये'। चित्रवर्णने कहा,-'हां यही कर्तव्य है'। इसके पीछे सूर्य निकलनेके पहलेही जब गढके चारोंद्वारोंपर युद्ध आरम्भ हुआ, उस समय उस मेघवर्णनामक काकने और उसके अनुचरोंने गढके मध्य घर २ में आग लगादी। इसके उपरान्त ऐसा कोलाहल उठा कि,-'शत्रुओंने गढ लेलिया'। उस कोलाहलको सुनकर और चारोंओर घरोंको

(१) भेद' शत्रुओंमें फूट डलवादेना।

प्रज्वलित देखकर राजहंसकी दुर्गकी रहनेवाली लगभग सब सेना शीघ्रतासे भागकर तलावमे घुसगई । कारण;-

सुमन्त्रितं सुविक्रान्तं सुयुद्धं सुपलायितम् ।
कार्यकाले यथाशक्ति कुर्यान्न तु विचारयेत् ॥ १४२

अवसर आनेपर जो मत्रणा कीगई हो उसको यथाशक्ति करे, या युद्ध र या भागजाय, परन्तु विचार न करै ॥ १४२ ॥

राजहंसः स्वभावान्मन्दगतिः सारसद्वितीयश्च चित्रव स्य सेनापतिना कुक्कुटेनागत्य वेष्टितः । हिरण्यगर्भः सार माह-'सारस ! सेनापते ! ममानुरोधादात्मानं कथं व्यापा यिष्यसि । त्वमधुना गन्तुं शक्तः । तत्कृत्वा जलं प्रविश्य त्मानं परिरक्ष । अस्मत्पुत्रं चूडामणिनामानं सर्वज्ञसंमत्य राजानं करिष्यसि' । सारसो ब्रूते-'देव ! न वक्तव्यमे दुःसहं वचः । यावच्चन्द्रार्कौ दिवि तिष्ठतस्तावद्विजयत देवः । अहं देव ! दुर्गाधिकारी । मन्मांसासृग्विलिप्तेन द्वा वर्त्मना प्रविशतु शत्रुः । अपरं च देव !

राजा राजहंस स्वभावसे ही मन्दगति था, इसलिये शीघ्र गमन करनेमें अस मर्थ होकर वह सेनापति सारसके साथ मन्द २ चलता था कि, इतनेही शत्रुके सेनापति कुक्कुटने आयकर उसे घेरलिया । तब हिरण्यगर्भ सारससे बोला, 'सेनापते ! तुम हमारे लिये क्यों अपने प्राणोंका नाश करतेहो ! हम भागनेके असमर्थ हैं, तुम अबभी भागकर अपनी रक्षा करसकतेहो, इसलिये शीघ्र जा जलमें प्रवेश करो । तुम सर्वज्ञ मत्रीकी सम्मतिसे हमारे पुत्र चूडामणिको राज्य पदपर अभिषिक्त करना' । सारस बोला,-'महाराज ! ऐसा मर्मभेदी अमगल वचन न कहिये, जबतक चन्द्रमा सूर्य रहैं, तबतक महाराजकी जय हो । महार ज ! गढरक्षाका भार जब कि मेरे हाथमें है, तब शत्रुलोग हमारे मांसरुधिर सनेहुए द्वारसे दुर्गमें प्रवेश करें । और भी देखो महाराज !-

दाता क्षमी गुणग्राही स्वामी भाग्येन लभ्यते

दाता, क्षमावान्, गुणग्राही, स्वामी भाग्यसेही मिलताहै ।'

राजाह-'सत्यमेवैतत् । किंतु-

राजाने कहा,-'सत्य है परन्तु,-

शुचिर्दक्षोऽनुरक्तश्च जाने भृत्योऽपि दुर्लभः ॥ १४३ ॥'

पवित्र, कर्मनिपुण, अनुरागी, भृत्यभी दुर्लभ है ॥ १४३ ॥'

सारसो ब्रूते-'शृणु देव-

सारसने कहा;-सुनिये महाराज,-

यदि समरमपास्य नास्ति मृत्यो-
र्भयमिति युक्तमितोऽन्यतः प्रयातुम्।
अथ मरणमवश्यमेव जन्तोः
किमिति मुधा मलिनं यशः क्रियेत ॥ १४४ ॥

हे महाराज! जो संग्राम त्याग करनेसे मृत्युका भय न हो, तो और कहीं
ना योग्य है, और जो प्राणीका मरना अवश्यही है, तो क्यों वृथा यशको
गीन कियाजाय? ॥ १४४ ॥

न्यच्च-

रभी,-

भवेऽस्मिन्पवनोद्भ्रान्तवीचिविभ्रमभंगुरे।
जायते पुण्ययोगेन परार्थे जीवितव्ययः ॥ १४५ ॥

पवनके गमनसे जो तरंगे उठती हैं, उनके गमनकी समान अल्पकालतक
स्थित रहनेवाला जो यह संसार है, इसमें परायेके लिये प्राणत्याग करना पुण्ययो-
गसे होताहै ॥ १४५ ॥

देव! त्वं च स्वामी सर्वथा रक्षणीयः। यतः-

हे महाराज! आप स्वामी हैं, आपकी रक्षा सब प्रकारसे करनी होगी।
कारण,-

स्वाम्यमात्यश्च राष्ट्रं च दुर्गं कोशो बलं सुहृत्।
राज्याङ्गानि प्रकृतयः पौराणां श्रेणयोऽपि च ॥ १४६॥

स्वामी, मंत्री, राष्ट्र, दुर्ग, खजाना, सेना, सुहृत् और पौरश्रेणी ये आठ
परस्पर उपकार करनेके हेतु राज्यके अंग होतेहैं (१) ॥ १४६ ॥

(१) मूलमें है स्वामी, अमात्य, सुहृत्, कोष, राष्ट्र, दुर्ग, बल और पौर-
श्रेणी,-ये आठ राज्यके अंगस्वरूप प्रकृति हैं। 'स्वामी'-राजा।
'अमात्य'-मन्त्री। 'सुहृत्'-मित्र। 'कोष'-धनागार। 'राष्ट्र'-जनपदवती

अपि च-

औरभी;-

प्रकृतिः स्वामिनं त्यक्त्वा समृद्धापि न जीवति ।
अपि धन्वन्तरिर्वैद्यः किं करोति गतायुषि ॥ १४७ ।

प्रजालोग बढजानेपरभी स्वामीको छोडकर नहीं बचसकते, उमरही बीतगई हो तो धन्वन्तरि वैद्य क्या करै ? (१) ॥ १४७ ॥

अपरं च-

औरभी,-

नरेशे जीवलोकोऽयं निमीलति निमीलति ।
उदेत्युदीयमाने च रवाविव सरोरुहम् ॥ १४८ ॥'

सूर्यके अप्रकाशित रहनेसे जैसे कमलफूलभी अप्रकाशित रहते हैं, वैसेही राजाके अप्रकाशित रहनेसे ये समस्त प्राणीभी अप्रकाशित रहतेहैं, अर्थात् सूर्यके प्रकाशित होनेपर जिसप्रकार कमल खिलजातेहै, वैसेही राजाके प्रकाशित होनेपर सब प्राणियोंका प्रकाश होजाताहै ॥ १४८ ॥'

अथ कुक्कटेनागत्य राजहंसस्य शरीरे खरतरनखाघातः कृतः । तदा सत्वरमुपसृत्यसारसेन स्वदेहान्तरितो राजा । अथ

भूमि, अर्थात् जिन स्थानोमे लोगोकी वसती हो । 'दुर्ग'-गढ, किला पर्वत या समुद्रप्रभृतिको असली, और मनुष्यके बनाये गढको कृत्रिम दु[illegible] कहतेहैं । 'बल'-सेना । 'पौरश्रेणी'-पुरवासी जन, अथवा अपने देश मुख्य २ लोग, या विविध शिल्प व्यवसाई लोग । इन आठोंके परस्[illegible] सहायता करनेहीसे एक राज्य रक्षित होजाताहै । इसीलिये इन आठोंक[illegible] राज्याग, वा प्रकृति कहतेहै । 'राज्याग' अर्थात् राज्यके प्रधान भाग राज्यरक्षाके उपाय । 'प्रकृति' जो प्रकृष्टरूपसे राजाको प्रतिष्ठित करै किसी शास्त्रकारने राज्याग सातही कहेहैं; उनके मतसे 'पौरश्रेणी' अङ्ग नही गिनी जाती । कारण कि राष्ट्रके कहनेहीसे समस्त पुरवासी जनपद वासी और उनके वासस्थान समझे जातेहैं ।

(१) पहले कहे आठ अगोसे सम्पन्न राज्यका राजाही मूल है, अर्थात् सबसे प्रधान अग है । और सब अगोसे सुसम्पन्न होनेपरभी जैसे देह प्राणो[illegible] विना नहीं बचसकती, वैसेही सर्वांगसम्पन्न राज्य राजाके विना नहीं बच सकता ।

कुक्कुटनखप्रहारजर्जरीकृतेन सारसेन स्वांगेनाच्छाद्य राजा जले प्रक्षिप्तः। कुक्कुटोऽपि सेनापतिना सारसेन स्वचञ्चुप्रहारेण व्यापादितः। पश्चात् सारसोऽपि बहुभिः पक्षिभिः संभूय व्यापादितः। अथ चित्रवर्णो दुर्गं प्रविश्य दुर्गावस्थितं द्रव्यं ग्राहयित्वा वन्दिभिर्जयशब्दैरानंदितः स्वस्कन्धावारं जगाम॥

इसके उपरान्त शत्रुके सेनापति कुक्कुटने आयकर राजहंसके शरीरमें तीक्ष्ण नखोंका प्रहार किया, सारसने वैसेही शीघ्रतासे जाय अपने शरीरसे राजाको ढकलिया। उसके पीछे सारस कुक्कुटके नख व चोंचके प्रहारसे जर्जरित होकर भी अपनी देहसे ढक राजाको जलमें फेंकता भया। इसके पीछे सेनापति सारसने चोंचके प्रहारसे शत्रुके सेनापति कुक्कुटका प्राणसंहार किया। तिससे बहुत सारी शत्रुकी सेनाके एकही समय आयकर आक्रमणकरनेसे सारसभी मारागया। फिर राजा चित्रवर्ण दुर्गमें बैठ दुर्गमें रक्खे हुए समस्त द्रव्योंपर अपना अधिकारकर वन्दिगणोंके जय शब्दके साथ परमानन्दसे अपने स्थानको चलागया।

अथ राजपुत्रैरुक्तम्–'तस्मिन्राजहंसबले स पुण्यवान्सारस एव। येन स्वदेहत्यागेन स्वामी रक्षितः। उक्तं चैतत्–

राजपुत्रोंने कहा;–'राजहंसकी उस सेनाके बीचमें सारसही यथार्थ पुण्यवान् था। उसने अपनी देह देकर स्वामीके प्राणोंकी रक्षा की। ऐसा कहाहै कि,–

जनयन्ति सुतान्गावः सर्वा एव गवाकृतीन्।
विषाणोल्लिखितस्कन्धं काचिदेव गवां पतिम्॥१४९॥'

गायें (१) गवाकृति अपने समस्त पुरुषोंको जन्माती हैं, परन्तु शृङ्गोंसे शोभित यूथपति महावृषभको, कदाचित् कोई विरली ही उत्पन्न करतीहै॥१४९॥'

विष्णुशर्मोवाच–'स तावत् सत्त्वक्रीतानक्षयाँल्लोकान्विद्याधरीपरिजनोऽनुभवतु महासत्त्वः। तथा चोक्तम्–

विष्णुशर्माने कहा,–'वह महात्मा सारस अपने पुण्यबलसे विद्याधरियोंसे परिवृत हो स्वर्गका अक्षय सुखभोग करे। कहाभी है कि,–

(१) 'गवाकृति' गायका समान आकारवाला। असंख्य गायकी सन्तानोंमे महाबली यूथपति वृष जैसे थोडेही दृष्टि आतेहैं, अगणित मनुष्य संतानमे भी वैसे महापुरुष थोडेही दिखाई देतेहैं: कि जो अपने स्वामीकी रक्षा करनेमे अपने प्राणतक दे दें।

आहवेषु च ये शूराः स्वाम्यर्थे त्यक्तजीविताः ।
भर्तृभक्ताः कृतज्ञाश्च ते नराः स्वर्गगामिनः ॥ १५० ॥

प्रभुभक्त कृतज्ञ जो समस्त वीरवर संग्राममें स्वामीके लिये प्राणत्याग करतेहैं वे सब लोग स्वर्गमें जातेहैं ॥ १५० ॥

यत्र तत्र हतः शूरः शत्रुभिः परिवेष्टितः ।
अक्षयाँल्लभते लोकान्यदि क्लैब्यं न गच्छति ॥ १५१ ॥

शत्रुकरके वेष्टित हो शूर पुरुष जहां तहां मरकर अक्षय स्वर्ग पाता है जो कातर नहीं होताहै तो ॥ १५१ ॥

विग्रहः श्रुतो भवद्भिः' । राजपुत्रैरुक्तम्-'श्रुत्वा सुखिनः वयम्'। विष्णुशर्माऽब्रवीत्-अपरमप्येवमस्तु ।

तुमने विग्रहको सुना तो सही?' राजकुमारोंने कहा,-'हम सुनकर परम सुखी विष्णुशर्माने कहा;-'औरभी हम यह आशीर्वाद करतेहैं कि,-

विग्रहः करितुरङ्गपत्तिभि-
र्नो कदापि भवतां महीभुजाम् ।
नीतिमन्त्रपवनैः समाहताः
संश्रयन्तु गिरिगह्वरं द्विषः॥ १५२ ॥

इति श्रीविष्णुशर्मकृते हितोपदेशे विग्रहो नाम तृतीयः कथासंग्रहः समाप्तः ।

आप लोगोंको हाथी, घोडा और पैदलोंसे संग्राम कभी न करना पडे नीतिकी मन्त्रणारूप वायुसे उडाये गये शत्रु पर्वतोंकी गुफामें आश्रय लें (१) ॥१५२॥

हितोपदेशमें विग्रहनामक तीसरी कथाका संग्रह समाप्त हुआ ।

---

(१) जिसप्रकार कोई पदार्थ प्रबल पवनके वेगसे ताडित हो दूर जाय पडताहै, वैसेही तुम्हारे शत्रुभी तुम्हारी राजनीति और मन्त्रणाकौशलमे [illegible] अति दूर गिरिगुहामें जाय गिरें । अर्थात् तुम लोग सुनीति और सुमन्त्रणा[illegible] बलसेही समस्त शत्रुओंको हराय दो, तुमको उन्हें हरानेके लिये कभी दा[illegible] विग्रह न करना पडे ।

सन्धिः।

पुनः कथारम्भकाले राजपुत्रैरुक्तम्-'आर्य! विग्रहः श्रुतोऽस्माभिः। संधिरधुनाभिधीयताम्'। विष्णुशर्मणोक्तम्-'श्रूयताम्। संधिमपि कथयामि यस्यायमाद्यः श्लोकः-

फिर कथा आरभ करनेके समय राजकुमारोंने कहा,-'हे आर्य! हमने विग्रह सुना। अब सन्धि कहिये'। विष्णुशर्माने कहा,-'सुनो! सन्धिभी कहताहू। जिसका यह प्रथम श्लोक है,-

> वृत्ते महति सङ्ग्रामे राज्ञोर्निहतसेनयोः।
> स्थेयाभ्यां गृध्रचक्राभ्यां वाचा संधिः कृतः क्षणात्॥१॥'

अतिशय युद्ध होनेपर जब दोनों राजाओंकी अनेक सेना मारीगई, तब गिद्ध और चक्रवाकनें मध्यस्थ (पंच) होकर अल्पकालमें ही वाक्यद्वारा सन्धि स्थापन करदी॥१॥'

राजपुत्रा ऊचुः-'कथमेतत्?' विष्णुशर्मा कथयति-

राजकुमारोंने कहा,-'यह कैसे?' विष्णुशर्माने कहा,-

ततस्तेन राजहंसेनोक्तम्-'केनास्मद्दुर्गे निःक्षिप्तोऽग्निः किं पारक्येण किं वास्मद्दुर्गवासिना केनापि विपक्षप्रयुक्तेन'। चक्रवाको ब्रूते-'देव! भवतो निष्कारणबन्धुरसौ मेघवर्णः सपरिवारो न दृश्यते। तन्मन्ये तस्यैव विचेष्टितमिदम्'। राजा क्षणं विचिन्त्याह-'अस्ति तावदेव मम दुर्दैवमेतत्। तथा चोक्तम्-

इसके उपरान्त उस राजा राजहसने कहा,-'हमारे गढमें आग किसने लगाई? शत्रुके नियुक्त कियेने आयकर यह कार्य किया? या हमारेही गढमें रहनेवाले किसीने शत्रुसे मिलकर यह कार्य किया?' चक्रवाकनें कहा,-'महाराज! आपका निष्कारण बन्धु मेघवर्ण नामक वह काक परिवारसहित यहासे चला गयाहै। इसलिये हमारी समझमें आता है कि, यह कार्य उसहीका है'। राजाने क्षणभर विचारकर कहा,-'हा यही सम्भव है। हमारे कुभाग्यसेही ऐसा हुआ है। कहावती है कि,-

अपराधः स दैवस्य न पुनर्मन्त्रिणामयम् ।
कार्यं सुचरितं क्वापि दैवयोगाद्विनश्यति ॥ २ ॥'

वह दोष राजाका है, मन्त्रीका यह दोष नहीं, क्योंकि यत्नसे किया हुआभी कार्य भाग्ययोगसे नष्ट होजाता है ॥ २ ॥'

मन्त्री ब्रूते-'उक्तमेवैतत ।

मन्त्रीने कहा,-'यहभी कहाहै कि,-

विषमां हि दशां प्राप्य दैवं गर्हयते नरः ।
आत्मनः कर्मदोषांश्च नैव जानात्यपण्डितः ॥ ३ ॥

दुरवस्थाको पाकर मनुष्य भाग्यकी निन्दा करताहै, मूर्ख अपने कर्म दोषको नहीं जानता ॥ ३ ॥

अपरं च-

औरभी,-

सुहृदां हितकामानां यो वाक्यं नाभिनन्दति ।
स कूर्म इव दुर्बुद्धिः काष्ठाद्भ्रष्टो विनश्यति ॥ ४ ॥'

मनुष्य हिताभिलाषी मित्रोंका वचन नहीं सुनता, वह काठसे गिरे हुए बुद्धिरहित कछुएके समान नष्ट होजाता है ॥ ४ ॥'

राजाह-'कथमेतत् ?' मन्त्री कथयति-

राजाने पूछा,-'वह कैसे हुआ ?' मंत्रीने कहा,-

कथा १.

अस्ति मगधदेशे फुल्लोत्पलाभिधानं सरः । तत्र चिरं संकटविकटनामानौ हंसौ निवसतः । तयोर्मित्रं कम्बुग्रीवनामा कूर्मश्च प्रतिवसति । अथैकदा धीवरैरागत्य तत्रोक्तम्-'यदत्रास्माभिरद्योषित्वा प्रातर्मत्स्यकूर्मादयो व्यापादयितव्याः' । तदाकर्ण्य कूर्मो हंसावाह-'सुहृदौ श्रुतोऽयं धीवरालापः । अधुना किं मया कर्तव्यम् ?' हंसावाहतुः-'ज्ञायताम् । पुनस्तावत्प्रातर्यदुचितं तत्कर्तव्यम्' । कूर्मो ब्रूते-'मैवम् । यतो दृष्टव्यतिकरोऽहमत्र । तथा चोक्तम्-

गधदेशमें फुल्लोत्पलनामक एक सरोवर है । वहा बहुत दिनोसे सकट और
नाम दो हस वासकरतेथे । कम्बुग्रीवनाम एक उनका मित्र कछुआभी वहा
रताथा । एक दिन धीवर (१) लोगोने उस स्थानमे आयकर मत्रणा की,–
ो अब हम इस स्थानमे वास करैं, कल भोर भये इस सरोवरमे मछली कछुए
दि मारैंगें' । उन लोगोका यह परामर्श सुनकर कछआ अपने मित्र उन
हसोंसे बोला,–'मित्र ! धीवर लोगोकी मत्रणा सुनी ? इससमय मैं क्या करू?'
हस बोले,–'पहले भलीप्रकार जानाजाय, फिर जो कर्त्तव्य हो वह सबेरे
जायगा' । कछुएने कहा,–'नहीं, अब विलम्ब किये नहीं बनैगी । क्योंकि
इस स्थानमे ऐसी दुर्घटना होते देखी है । देखो!–

'अनागतविधाता च प्रत्युत्पन्नमतिस्तथा ।
द्वावेतौ सुखमेधेते यद्भविष्यो विनश्यति ॥ ५ ॥'

अनागतविधाता और प्रत्युत्पन्नमति ये दोजन सुखी रहतेहैं और यद्भविष्य
होताहै (२) ॥ ५ ॥

ावाहतुः–'कथमेतत् !' कूर्मः कथयति–

उन्होने पूछा,–'यह किसप्रकार हुआ ?' कछुएने कहा,–

कथा २.

पुरास्मिन्नेव सरस्येवंविधेषु धीवरेषूपस्थितेषु मत्स्यत्रयेणा-लोचितम् । तत्रानागतविधाता नामैको मत्स्यः । तेनालो-चितम्–'अहं तावज्जलाशयान्तरं गच्छामि' इत्युक्त्वा ह्रदा-न्तरं गतः । अपरेण प्रत्युत्पन्नमतिनाम्ना मत्स्येनाभिहितम्–'भविष्यदर्थे प्रमाणाभावात्कुत्र मया गन्तव्यम्। तदुत्पन्ने यथा-कार्यं तदनुष्ठेयम् । तथा चोक्तम्—

---

(१) 'धीवर मछली पकडकर बेचनेका रोजगार करते है ।

(२) 'अनागतविधाता' जो आगेसेही उपाय होनहारके लिये कर रक्खे, भविष्य-कारी । 'प्रत्युत्पन्नमति' जिसकी बुद्धिका प्रभाव ऐसा हो कि, विपद आतेही झट उसके निवारण करनेका उपाय कर ले । 'यद्भविष्य' आगेको क्या होगा ? जो इस बातको न विचारे; भाग्यहीके ऊपर भरोसा करके बैठरहै, अपरिणामदर्शी ।

पहले इस सरोवरपर जब इसीप्रकार धीवर आये तब तीन मत्स्य परस्पर मंत्रणा करनेलगे। तिनमेंसे अनागतविधाता नामक मत्स्यने कहा, 'मैं और जलाशयको चला जाऊंगा' यह कहकर वह और जलाशयको चलागया। प्रत्युत्पन्नमति नामक मत्स्यने कहा,—इसका क्या निश्चय है कि, कलको क्या होगा ? मैं इस स्थानको छोडकर और कहा जाऊं ? जब विपद आवेगी; तब उसका उपाय कियाजायगा। कहाभी है कि,—

उत्पन्नामापदं यस्तु समाधत्ते स बुद्धिमान्।
वणिजो भार्यया जारः प्रत्यक्षे निह्नुतो यथा ॥ ६ ॥'

जो आई हुई विपदको निवारण करै, वही बुद्धिमान् है, इसमें दृष्टान्त यह है कि, बनियेकी स्त्रीने अपने यारको पतिके सामने छिपाया ॥ ६ ॥

यद्भविष्यः पृच्छति-'कथमेतत् ?' प्रत्युत्पन्नमतिः कथयति-

यद्भविष्यने पूछा,—'वह किसप्रकार ?' प्रत्युत्पन्नमतिने कहा,—

कथा ३.

विक्रमपुरे समुद्रदत्तो नाम वणिगस्ति। तस्य रत्नप्रभा नाम गृहिणी स्वसेवकेन सह सदा रमते।

विक्रमपुरमें समुद्रदत्त नामक एक बनिया रहता था। रत्नप्रभानामक उसकी स्त्री अपने एक सेवकके साथ सदा विहार करती थी। कारण,—

न स्त्रीणामप्रियः कश्चित्प्रियो वापि न विद्यते।
गावस्तृणमिवारण्ये प्रार्थयन्ति नवं नवम् ॥ ७ ॥

स्त्रियोंको न कोई प्यारा है, न कुप्यारा है, गायें जिसप्रकार वनमें सदा नई २ घास चाहती हैं, वैसेही स्त्रियें क्षण २ भरमें नये २ पुरुषका अभिलाष करतीहैं ॥ ७ ॥

अथैकदा सा रत्नप्रभा तस्य सेवकस्य मुखे चुम्बनं ददती समुद्रदत्तेनावलोकिता। ततः सा बन्धकी सत्वरं भर्तुः समीपं गत्वाह-'नाथ ! एतस्य सेवकस्य महती निर्वृतिः। यतोऽयं चौरिकां कृत्वा कर्पूरं खादतीति मयास्य मुखमाघ्राय ज्ञातम्। तथा चोक्तम्-

इसके उपरान्त वह रत्नप्रभा एकदिन इस दासको मुखचुम्बन देरही थी कि, इसके स्वामीने यह देखा। वह कुलटा वैसेही स्वामीके सामने जायकर बोली,- नाथ! इस सेवकको बडी कुमति है, यह चोरीकरके कपूर खाताहै, मैने इसका मुख सूंघकर स्पष्टही इसके मुखमे कपूरकी गन्धि पाई! कहाभीहै कि,–

'आहारो द्विगुणः स्त्रीणां बुद्धिस्तासां चतुर्गुणा।
षड्गुणो व्यवसायश्च कामश्चाष्टगुणः स्मृतः॥ ८॥'

'स्त्रियोंमे आहार दुगुना, बुद्धि चौगुनी, व्यवसाय छैगुना, और काम आठगुणा है॥ ८॥'

तच्छ्रुत्वा सेवकेन प्रकुप्योक्तम्-'नाथ! यस्य स्वामिनो गृहे एतादृशी भार्या तत्र सेवकेन कथं स्थातव्यं यत्र प्रतिक्षणं गृहिणी सेवकस्य मुखं जिघ्रति'। ततोऽसावुत्थाय चलितः साधुना यत्नात्प्रबोध्य धृतः। अतोऽहं ब्रवीमि-'उत्पन्नामापदम्' इत्यादि। ततो यद्भविष्येणोक्तम्–

यह सुनकर उस सेवकनेभी बनावटी क्रोध प्रकाश करके कहा,-'जिस घरमे ऐसी मालकिन है कि,-क्षणक्षणमे सेवकका मुख सूंघती फिरतीहै; उस घरमें नौकर किसप्रकारसे टिकेगा?' वह यह कह क्रोधमें भरकर चलागया। इसके पीछे बनिया अनेक खुशामद करके व मीठे वचनोंसे समझाय बुझाय उसको पकडकर लाया, इसीलिये मै कहता था कि,-'जो आई हुई विपदका निवारण करै' इत्यादि। यह सुनकर यद्भविष्यने कहा,–

'यदभावि न तद्भावि भावि चेन्न तदन्यथा।
इति चिन्ताविषघ्नोऽयमगदः किं न पीयते॥ ९॥'

'जो बात होनहार नहीं है, वह नहीं होगी। और जो बात होनहार है, वह भी नहीं टलसकती, यह चिन्तारूपी विषको नाशकरनेवाली औषधी क्यों नहीं [पी]जाती? (१)॥ ९॥'

---

(१) मनुष्यके भाग्यमें जो कुछ है, वह अवश्यही होगा, किसी प्रकारसेभी उसका निवारण नहीं होसकता। मनुष्योंके मनमे ऐसा दृढ विश्वास रहनेसे उनकी समस्त चिन्तायें दूर होजाती हैं, जैसे दिव्य औषधिका गुण विशेष ज्वालाको दूर करदेताहै, वैसेही ऐसे विश्वासके गुणसे सब चिंता दूर होती है।

पहले इस सरोवरपर जब इसीप्रकार धीवर आये तब तीन मत्स्य परस्पर मंत्रणा करनेलगे। तिनमेंसे अनागतविधाता नामक मत्स्यने कहा, 'मैं और जलाशयको चला जाऊंगा' यह कहकर वह और जलाशयको चलागया। प्रत्युत्पन्नमति नामक मत्स्यने कहा,-इसका क्या निश्चय है कि, कलको क्या होगा ? मैं इस स्थानको छोडकर और कहां जाऊ ? जब विपद आवेगी: तब उसका उपाय कियाजायगा। कहाभी है कि,-

उत्पन्नामापदं यस्तु समाधत्ते स बुद्धिमान्।
वणिजो भार्यया जारः प्रत्यक्षे निह्नुतो यथा ॥ ६ ॥'

जो आई हुई विपदको निवारण करै, वही बुद्धिमान् है; इसमें दृष्टान्त यह कि, वनियेकी स्त्रीने अपने यारको पतिके सामने छिपाया ॥ ६ ॥

यद्भविष्यः पृच्छति-'कथमेतत् ?' प्रत्युत्पन्नमतिः कथयति

यद्भविष्यने पूछा,-'वह किसप्रकार ?' प्रत्युत्पन्नमतिने कहा,-

कथा ३.

विक्रमपुरे समुद्रदत्तो नाम वणिगस्ति। तस्य रत्नप्रभा नाम गृहिणी स्वसेवकेन सह सदा रमते।

विक्रमपुरमें समुद्रदत्त नामक एक बनिया रहता था। रत्नप्रभानामक उसकी स्त्री अपने एक सेवकके साथ सदा विहार करती थी। कारण,-

न स्त्रीणामप्रियः कश्चित्प्रियो वापि न विद्यते।
गावस्तृणमिवारण्ये प्रार्थयन्ति नवं नवम् ॥ ७ ॥

स्त्रियोंको न कोई प्यारा है, न कुप्यारा है, गायें जिसप्रकार वनमें सदा नई २ घास चाहती हैं, वैसेही स्त्रियें क्षण २ भरमें नये २ पुरुषका अभिलाष करतीहैं ॥ ७ ॥

अथैकदा सा रत्नप्रभा तस्य सेवकस्य मुखे चुम्बनं ददती समुद्रदत्तेनावलोकिता। ततः सा बन्धकी सत्वरं भर्तुः समीपं गत्वाह-'नाथ ! एतस्य सेवकस्य महती निर्वृतिः। यतोऽयं चोरिकां कृत्वा कर्पूरं खादतीति मयास्य मुखमाघ्राय ज्ञातम्। तथा चोक्तम्-

इसके उपरान्त वह रत्नप्रभा एकदिन इस दासको मुखचुम्बन देरही थी कि, उसके स्वामीने यह देखा। वह कुलटा वैसेही स्वामीके सामने जायकर बोली,- नाथ ! इस सेवकको बडी कुमति है, यह चोरीकरके कपूर खाताहै, मैंने इसका मुख सूंघकर स्पष्टही इसके मुखमे कपूरकी गन्धि पाई ! कहाभीहै कि,-

'आहारो द्विगुणः स्त्रीणां बुद्धिस्तासां चतुर्गुणा ।
षड्गुणो व्यवसायश्च कामश्चाष्टगुणः स्मृतः ॥ ८ ॥'

'स्त्रियोंमे आहार दुगुना, बुद्धि चौगुनी, व्यवसाय छैगुना, और काम आठगुणा है ॥ ८ ॥'

तच्छ्रुत्वा सेवकेन प्रकुप्योक्तम्-'नाथ ! यस्य स्वामिनो गृहे एतादृशी भार्या तत्र सेवकेन कथं स्थातव्यं यत्र प्रतिक्षणं गृहिणी सेवकस्य मुखं जिघ्रति'। ततोऽसावुत्थाय चलितः साधुना यत्नात्प्रबोध्य धृतः। अतोऽहं ब्रवीमि-'उत्पन्नामापदम्' इत्यादि। ततो यद्भविष्येणोक्तम्-

यह सुनकर उस सेवकनेभी बनावटी क्रोध प्रकाश करके कहा,-'जिस घरमें ऐसी मालकिन है कि,-क्षणक्षणमे सेवकका मुख सूंघती फिरतीहै; उस घरमें नौकर किसप्रकारसे टिकेगा ?' वह यह कह क्रोधमें भरकर चलागया। इसके पीछे बनिया अनेक खुशामद करके व मीठे वचनोंसे समझाय बुझाय उसको पकड़कर लाया, इसीलिये मै कहता था कि,-'जो आई हुई विपदका निवारण करै' इत्यादि। यह सुनकर यद्भविष्यने कहा,-

'यदभावि न तद्भावि भावि चेन्न तदन्यथा ।
इति चिन्ताविषघ्नोऽयमगदः किं न पीयते ॥ ९ ॥'

'जो बात होनहार नहीं है, वह नहीं होगी। और जो बात होनहार है, वह कभी नहीं टलसकती, यह चिन्तारूपी विषको नाशकरनेवाली औषधी क्यों नहीं पीजाती ? (१) ॥ ९ ॥'

---

(१) मनुष्यके भाग्यमे जो कुछ है, वह अवश्यही होगा; किसी प्रकारसेभी उसका निवारण नहीं होसकता। मनुष्योंके मनमे ऐसा दृढ विश्वास रहनेसे उनकी समस्त चिंताये दूर होजाती है, जैसे दिव्य औषधिका गुण विशेष ज्वालाको दूर करदेताहै, वैसेही ऐसे विश्वासके गुणसे सब चिंता दूर होती है।

ततः प्रातर्जालेन बद्धः प्रत्युत्पन्नमतिर्मृतवदात्मानं संदर्श्य स्थितः। ततो जालादपसारितो यथाशक्त्युत्प्लुत्य गभीरं नीरं प्रविष्टः। यद्भविष्यश्च धीवरैः प्राप्तो व्यापादितः। अतोऽहं ब्रवीमि-'अनागतविधाता' इत्यादि ॥ तद्यथाहमन्यह्रदं प्राप्नोमि तथा क्रियताम्'। हंसावाहतुः-'जलाशयान्तरे प्राप्ते तव कुशलम्। स्थले गच्छतस्ते को विधिः'। कूर्म आह-'यथाहं भवद्भ्यां सहाकाशवर्त्मना यामि स उपायो विधीयताम्'। हंसौ ब्रूतः-'कथमुपायः संभवति'। कच्छपो वदति-'युवाभ्यां चंचूधृतं काष्ठखण्डमेकं मया मुखेनावलम्ब्य गन्तव्यम्। युवयोः पक्षबलेन मयापि सुखेन गन्तव्यम्'। हंसौ ब्रूतः-'संभवत्येष उपायः। किन्तु-

इसके दूसरे दिन सबेरेको प्रत्युत्पन्नमति धीवरके जालमें फसकर अपनेको मृतकसा दिखलायकर ठहरा। फिर धीवरोंके उस (प्रत्युत्पन्नमति) को जालसे छोडतेही वह कूदकर गम्भीर जलमें घुसगया। यद्भविष्य धीवरके हाथमें पडकर प्राण त्याग करता भया। इसीलिये मैं 'अनागतविधाता और प्रत्युत्पन्नमति' इत्यादि कहताहूं। अब जिससे मैं दूसरे सरोवरमें जायसकूं, तुम लोग इस समय वही करो'। दोनों हंसोंने कहा,-'हां तुम्हारे और जलाशयमें पहुंचनेसे तुम्हारा मंगल है तो सही; पर तुम किसप्रकार स्थलमार्गसे जाओगे ?' कछुएने कहा,-'मैं तुम्हारे दोनोंके साथ जिससे शून्यमार्गमें होकर जायसकूं, वैसा कोई उपाय स्थिर करो'। दोनों हंसोंने कहा,-'वह कैसे होगा ?' कछुएने कहा;-'एक काठके टुकडेको दो तरफसे तो तुम दोजने चोंचसे पकडलेना, और मैं उसके बीचको मुखसे पकडे रहूंगा, तिसके पीछे जैसेही तुम पंखोंके बलसे उडोगे, उसके साथमें मैंभी सुख सहित जायसकूंगा,। दोनों हंसोंने कहा,-'हां यह उपाय संभव तो है, किन्तु,-

उपायं चिन्तयन्प्राज्ञो ह्यपायमपि चिन्तयेत्।
पश्यतो बकमूर्खस्य नकुलैर्भक्षिताः प्रजाः ॥ १० ॥'

बुद्धिमान् पुरुषको उपायकी चिन्ता करते हुए (१) अपायकीभी चिन्ता करनी चाहिये, क्योंकि मूर्ख बगलेके देखते हुए उसके बच्चोंको न्योंलेने खाया ॥ १० ॥'

कूर्मः पृच्छति-'कथमेतत् ?' तौ कथयतः-

कछुएने पूछा,-'यह कैसे हुआ ?' दोनों हसोंने कहा,-

कथा ४.

अस्त्युत्तरापथे गृध्रकूटो नाम पर्वतः। तत्रैव रेवातीरे न्यग्रोधपादपे बका निवसन्ति। तस्य वृक्षस्याधस्ताद्विवरे सर्पस्तिष्ठति। स च बकानां बालापत्यानि खादति। अथ शोकार्तानां बकानां विलापं श्रुत्वा केनचिद्वृद्धबकेनाभिहितम्-'भो! एवं कुरुत। यूयं मत्स्यानुपादाय नकुलविवरादारभ्य सर्पविवरं यावदेकैकशो मत्स्यान्पंक्तिक्रमेण विकिरत। ततस्तदाहारलुब्धैर्नकुलैस्तद्वर्त्मनागत्य सर्पो द्रष्टव्यः स्वभावद्वेषाद्व्यापादयितव्यश्च'। तथानुष्ठिते तद्वृत्तम्। ततस्तत्र वृक्षे नकुलैर्बकशावकरावः श्रुतः। पश्चात्तैर्वृक्षमारुह्य बकशावकाः खादिताः। अत आवां ब्रूवः-'उपायं चिन्तयन्' इत्यादि॥ आवाभ्यां नीयमानं त्वामवलोक्य लोकैः किंचिद्वक्तव्यमेव। तदाकर्ण्य यदि त्वमुत्तरं दास्यसि तदा त्वन्मरणम्। तत्सर्वथात्रैव स्थीयताम्'। कूर्मो वदति-'किमहमप्राज्ञः नाहमुत्तरं दास्यामि। किमपि न वक्तव्यम्'। तथानुष्ठिते तथाविधं कूर्ममालोक्य सर्वे गोरक्षकाः पश्चाद्धावन्ति वदन्ति च 'अहो महदाश्चर्यम्। पक्षिभ्यां कूर्मः समुह्यते'। कश्चिद्वदति 'यद्ययं कूर्मः पतति तदात्रैव पक्त्वा खादितव्यः'। कश्चिद्वदति-'अत्रैव सरस्समीपे दग्ध्वा खादितव्योऽयम्'। कश्चिद्व-

(१) किसी विषयमें उपाय अर्थात् कार्य सिद्ध करनेकी चतुरताकाही निश्चय करके न बैठरहै वरन् उस उपायके कार्य करनेमें क्या क्या विघ्न विपत्तियें होंगी, उनके रोकनेकाभी पहलेहीसे निश्चय प्रतिकार कर रक्खे। 'अपाय' विनाश, व्यसन, विघ्न, प्रतिबन्धक।

दति-'गृहं नीत्वा भक्षणीयः' इति तत्पुरुषवचनं श्रुत्वा स कूर्मः कोपाविष्टो विस्मृतपूर्वसंस्कारः प्राह-'युष्माभिर्भस्म भक्षितव्यम्' । इति वदन्नेव पतितस्तैर्व्यापादितश्च । अतोऽहं ब्रवीमि-'सुहृदां हितकामानाम्' इत्यादि ॥ अथ प्रणिधिर्बकस्तत्रागत्योवाच-'देव ! प्रागेव मया निगदितम् । दुर्गशोधनं हि प्रतिक्षणं कर्तव्यमिति तच्च युष्माभिर्न कृतं तदनवधानस्य फलमनुभूतम् । दुर्गदाहो मेघवर्णेन वायसेन गृध्रप्रयुक्तेन कृतः' । राजा निःश्वस्याह-

उत्तरमें गृध्रकूटनाम एक पर्वत है; वहा रेवा नदी (१) के किनारे न्यग्रोध (२) वृक्षपर बगले वासकरतेथे उस वृक्षके नीचेकी खोडरमें एक साप रहता था । वह सर्प बगलोंके छोटे २ बच्चोंको खाजाता । एकदिन बगलोंको शिशुसन्तानके शोकमें आर्त्तनाद करतेहुए सुनकर एक वृद्धबगला उनसे बोला,-'अरे ! तुम सब हमारा परामर्श सुनो । तुम कुछ मछलिया मारकर लेआओ और सांपके बिलसे आरभकरके न्योलोंके भट्टकतक एक २ करके मत्स्य पक्तिके क्रमसे लगादो । ऐसा करनेसे न्योले वे मछलिया खाते २ क्रमसे उस मार्गमें सापके बिलपर पहुच जॉयगे, और स्वभावसेही शत्रु सर्पको देखतेही सहार कर डालेंगे,। इसके उपरान्त जब बगलोंने ऐसाही करा तब न्योलोने जाकर उस सर्पको वधकिया । तिसके पछि न्योलोंने जब उस वृक्षके ऊपर बगलोंके बच्चोका कोलाहल सुना तब वृक्षपर चढकर उनके समस्त बच्चोंका भक्षण करलिया । इसीलिये मै कहताहू कि ' बुद्धिमान् मनुष्य चिन्ता करता हुआ ' इत्यादि । हम जब तुम्है शून्य मार्गमे लेजायॅगे, तब एक अद्भुत बात देखकर लोग अवश्य कुछ न कुछ बातचीत करैंगे और उसे सुनकर जो तुम उनकी बातका उत्तर दोगे, तबही तुम्हारा नाश है । इस कारण तुम इसी स्थानमें रहो । कछुएने कहा,-'मैं क्या इतना मूर्ख हू ! मै किसीकी कोई बातका उत्तर न दूगा । इसके उपरान्त जब दोनों हस उसको आकाशमें लेकर उडे । तब जगलके ग्वालिये उसको देखकर पछि २ दौडे और कहनेलगे-'वाहवा ! क्या आश्चर्यकी बात है ! दो पखेरू

---

(१) 'रेवानदी' नर्म्मदानदी ।

(२) 'न्यग्रोध' वडका पेड ।

एक कछुएको लेकर कैसे उडतेहैं। उनमेंसे कोई बोला,–'जो यह कछुआ गिरजाय, तो इसको यहींपर राधकर खालें'। औरने कहा,–'इसको सरोवरके किनारे भूनकर खाय'। औरने कहा,–'इसको घरपर लेजायँ और खांय'। उन सबके ये कठोर वचन सुन कछुआ क्रोधसे अधीर हो पहला परामर्श भूलगया, और उन लोगोंसे बोला,–'तुम लोग खाक खइयो!' कछुएने जैसेही मुख खोलकर यह बात कही कि, वैसेही वह काठके टुकडेसे छूट पृथ्वीपर गिरपडा, और ग्वालियोंने भी उसको मारकर खाया। इसी कारणसे मैं यह कहताहूं कि 'हित चाहनेवाले मित्रोंकी' इत्यादि। इसके उपरान्त उस गूढचर बगलेने उस स्थानमे आयकर राजासे कहा,–'महाराज! मैंने तो पहलेही कहाथा कि, अपने गढकी देखभाल प्रतिक्षण करनी उचित है, और आप लोगोंने वह नहीं की उसी असावधानताका फल इससमय भोगाजायरहा है। और यह दुर्ग जलानेका कार्य गिद्धमंत्रीके भेजेहुए उस मेघवर्णनामक कागसेही हुआहै'। राजाने लबी सास लेकर कहा,–

'प्रणयादुपकाराद्वा यो विश्वसिति शत्रुषु।
स सुत इव वृक्षाग्रात्पतितः प्रतिबुद्ध्यते॥ ११॥'

'वृक्षपर सोताहुआ मनुष्य जैसे वृक्षपरसे गिरकर जागता है, इसीप्रकार प्रीतियुक्त वा उपकारप्रयुक्त जो जन शत्रुका विश्वास करताहै, वह विपद्ग्रस्त होकर जागताहै (१)॥ ११॥'

प्रणिधिरुवाच–'इतो दुर्गदाहं विधाय यदा गतो मेघवर्णस्तदा चित्रवर्णेन प्रसादितेनोक्तम्–'अयं मेघवर्णोऽत्र कर्पूरद्वीपराज्येऽभिषिच्यताम्। तथा चोक्तम्–

इसके पीछे गूढचरने कहा,–'यह गढ जलाय जब मेघवर्ण, राजा चित्रवर्णके निकट लौटकर गया, तब राजाने सन्तुष्ट होकर कहा,–'इस मेघवर्णको इस कर्पूर द्वीपके राज्यपर अभिषिक्त करदो। शास्त्रमे कहाभी है कि,–

---

(१) जो मनुष्य वृक्षकी शाखापर निश्चिन्त होकर सोवै, वह वैसेही गिर और भलीभांति चोट खाय अपनी निर्बुद्धिताको समझताहै, वैसेही जो पुरुष शत्रुका उपकार करके वा उसके साथ मित्रता करनेके कारण उसके ऊपर विश्वासकर निश्चिन्त होजाताहै, वह उस शत्रुके भलीभांति अपकार पाय अपनी बुद्धिपर पछताताहै।

कृतकृत्यस्य भृत्यस्य कृतं नैव प्रणाशयेत् ।
फलेन मनसा वाचा दृष्ट्या चैनं प्रहर्षयेत् ॥ १२ ॥'

कृतकृत्य दासके कियेको फलसे, मनसे और वाणीसे नष्ट नहीं करे, अं इस सेवकको देखकर हर्ष उपजावै ॥ १२ ॥'

चक्रवाको ब्रूते--'देव ! श्रुतं यत्प्रणिधिः कथयति'। राजाह 'ततस्ततः'। प्रणिधिरवोचत्--ततः प्रधानमन्त्रिणा गृध्रेणाभि हितम्--'देव ! नेदमुचितम् । प्रसादान्तरं किमपि क्रियताम् यतः--

इसको सुनकर मंत्री चक्रवाकने कहा,–'महाराज ! गुप्तचरने जो कहा, उस को सुनो तो ?' राजाने पूछा,–'तिसके पीछे क्या हुआ?' गुप्तचरने कहा,–'चित्र वर्णकी यह बात सुन उसको गिद्धमंत्री बोला,–महाराज ! मेघवर्णको राज्यपद देना उचित नहीं है । इसको और कोई पुरस्कार (ईनाम) दीजिये कारण,–

अविचारयतो युक्तिकथनं तुषखण्डनम् ।
नीचेषूपकृतं राजन्वालुकास्विव मूत्रितम् ॥ १३ ॥

विना विचारके युक्ति कहना भूसीके कूटनेकी समान है, हे राजन् ! नीचसे कियाहुआ उपकार रेतमे मूत्र करनेके समान है (१) ॥ १३ ॥

महतामास्पदे नीचः कदापि न कर्तव्यः । तथा चोक्तम्–

बडके पदपर नीचको कभी स्थापित नहीं करे । कहाभी है कि,–

नीचः श्लाघ्यपदं प्राप्य स्वामिनं हन्तुमिच्छति ।
मूषिको व्याघ्रतां प्राप्य मुनिं हन्तुं गतो यथा ॥ १४ ॥'

नीच पुरुष प्रशंसित पद पायकर स्वामीको नष्ट करनेकी आकाङ्क्षा करता है, चूहा व्याघ्रपन पाय जिसप्रकार मुनिका नाश करने गया था ॥ १४ ॥'

चित्रवर्णः पृच्छति–'कथमेतत्' ? मन्त्री कथयति–

चित्रवर्णने पूछा,–'यह किसप्रकार हुआ ?' गिद्धने कहा,–

---

(१) रेतके ऊपर लकीर काढनेमे जैसे वह छिप जाती है, वैसेही अपात्रमे कियाहुआ उपकार विफल होजाता है ।

कथा ९.

अस्ति गौतमस्य महर्षेस्तपोवने महातपा नाम मुनिः। तत्र तेनाश्रमसन्निधाने मूषिकशावकः काकमुखाद्भ्रष्टो दृष्टः। ततः स्वभावदयात्मना तेन मुनिना नीवारकणैस्संवर्द्धितः। तं च मूषिकं खादितुमनुधावन् बिडालो मुनिना दृष्टः। पश्चात् तपःप्रभावात् तेन मुनिना स मूषिको बलिष्ठो बिडालः कृतः। स बिडालः कुक्कुराद्बिभेति। ततोऽसौ कुक्कुरः कृतः। कुक्कुरस्य व्याघ्रान्महद्भयमभूत्। तदनन्तरं स व्याघ्रः कृतः। अथ तं व्याघ्रं मुनिर्मूषिकनिर्विशेषं पश्यति। अतः सर्वे तत्रत्या जनास्तं व्याघ्रं दृष्ट्वा वदन्ति। अनेन मुनिना मूषिको व्याघ्रतां नीतः। एतच्छ्रुत्वा स व्याघ्रस्सव्यथमचिन्तयत्—यावदनेन मुनिना जीवितव्यं तावदिदं मे स्वरूपाख्यानमकीर्तिकरं न पलायिष्यते इत्यालोच्य मुनिं हन्तुं समुद्यतः। मुनिस्तस्य चिकीर्षितं ज्ञात्वा 'पुनर्मूषिको भव' इत्युक्त्वा मूषिक एव कृतः। अतोऽहं ब्रवीमि 'नीचः श्लाघ्यपदमि'त्यादि। अपरञ्च देव! सुकरमिदमिति न मन्तव्यम्। शृणु—

(१) गौतमारण्यमें महातपा नाम एक मुनि रहते थे। उन्होंने आश्रमके निकट देखा कि, एक चूहेका बच्चा कागके मुखमें गिरा। यह देख वह दयासे नीवारके (२) चावल भोजन कराय उस चूहेके बच्चेका प्रतिपालन करने लगे। उन्होंने एकदिन देखा, कि—एक बिलाव उस मूसेको खानेके लिये उसके पीछे दौडताहै। इसके उपरान्त उन्होंने योगबलसे उस चूहेको बली बिलाव किया। वह चूहा बिलाव हो कुत्तेके भयसे सदा डरने लगा। यह देख मुनिने उस बिलावको कुत्ता बनाया, मूसा कुत्ता होकर फिर व्याघ्रके भयसे अत्यन्तही भयभीत होता था, यह देखकर मुनिने उसको व्याघ्र किया। मूसा इस प्रकारसे व्याघ्र हुआ, परन्तु मुनि उसका चूहाही समझते थे। उस आश्रमके लोगभी उस

---

(१) गौतमारण्य' गौतममुनिका आश्रम।

(२) नीवारके धान, मुनिजन इसी धानका व्यवहार करतेहैं।

व्याघ्रको देखकर बातचीत करते कि, मुनिने उस चूहेको ऐसा व्याघ्र बनाया है। यह सुनकर उस व्याघ्रके मनमें बडाही कष्ट हुआ। उसने विचारा,-जबतक यह मुनि जीवित रहेगा, तबतक हमारे घोर कलंकका यह यथार्थ वृत्तान्त किसी प्रकारसे न ढका जायगा। यह विचारकर वह उस मुनिके वध करनेको तैयार हुआ। मुनिने यह जानकर 'तू फिर चूहा होजा' यह कह उसको फिर चूहेकेही आकारका बनाया। इसीलिये मैं कहताहूं। कि,-'नीच पुरुष प्रशसित पद पाय' इत्यादि। हे महाराज! नीचको ऊंचे पदपर प्रतिष्ठित करना, सहज न समझिये। सुनिये!

भक्षयित्वा बहून्मत्स्यानुत्तमाधममध्यमान्।
अतिलोभाद्बकः पश्चान्मृतः कर्कटकग्रहात्॥ १५ ॥'

उत्तम, मध्यम अनेक मछलियोंको खायकर बगला अति बडे लोभके करनेसे पीछे केंकडेके पकडनेसे मरा॥ १५ ॥'

चित्रवर्णः पृच्छति--'कथमेतत' ? मंत्री कथयति--

चित्रवर्णने पूछा,-'यह कैसे' ? मन्त्रीने कहा,-

कथा ६.

अस्ति मालवदेशे पद्मगर्भनामधेयं सरः। तत्रैको वृद्धं बकः सामर्थ्यहीन उद्विग्नमिवात्मानं दर्शयित्वा स्थितः स च केनचित्कुलीरेण दृष्टः दूरादेव पृष्टश्च-'किमिति भवानत्राहारत्यागेन तिष्ठति'। बकेनोक्तम्-'मत्स्या मम जीवनहेतवः। ते कैवर्तैरागत्य व्यापादयितव्या इति नगरोपान्ते कैवर्तालापो मया श्रुतः। अतो वर्तनाभावादेवास्मन्मरणमुपस्थितमिति ज्ञात्वाहारेऽप्यनादरः कृतः'। ततो मत्स्यैरालोचितम्-इह समये तावदुपकारक एवायं लक्ष्यते। तदयमेव यथाकर्तव्यं पृच्छताम्। तथा चोक्तम्-

मालव देशमें पद्मगर्भनाम एक सरोवर है। वहां एक वृद्ध बगलेको सामर्थ्यहीन हो अत्यन्त उत्कण्ठितभावसे रहतेहुए देखकर एक कुलीरक (केंकडे) ने उससे दूरसेही पूछा,-'आप आहार छोडकर इस स्थानमें ऐसे विषादित क्यों होरहे हैं ?'

बगलेने कहा,–'मछलीही हमारी प्राणरक्षाका उपाय है, परन्तु केवटलोग इस सरोवरमें उन सबका वध करेंगे। नगरके निकट केवटलोगोंको यह परामर्श करतेहुए मैंने अपने कानसे सुना। इससे इस स्थानमे जीविकाका अभाव है, हमको शीघ्रही मरना होगा. यह विचार मनके दुःखके मारे अब आहार करनेकी इच्छा नही है'। यह सुनकर मछलियोंने विचारा कि, इस समय तो यह हमारा हितकारी जानपडता है। इस कारण इससेही पूछें, हमको इस समय कर्त्तव्य क्या है? कहाभी है कि,–

'उपकर्त्राऽरिणा संधिर्न मित्रेणापकारिणा।
उपकारापकारौ हि लक्ष्यं लक्षणमेतयोः ॥ १६ ॥'

'उपकार करनेवाले शत्रुके साथ मेल करना चाहिये, अपकारकारी मित्रके साथ मेल न करै, क्योंकि, उपकार और अपकारही इन दोनोका लक्षण जानै (१)॥ १६ ॥'

मत्स्या ऊचुः–'भो! बक कोऽत्रास्माकं रक्षणोपायः।' बको ब्रूते–'अस्ति रक्षणोपायो जलाशयान्तराश्रयणम्। तत्राहमेकैकशो युष्मान्नयामि'। मत्स्या भयादाहुः–'एवमस्तु'। ततोऽसौ बकस्तान्मत्स्यानेकैकशो नीत्वा कस्मिंश्चिद्देशे खादित्वा पुनरागत्य वदति–'ते मया जलाशयान्तरे प्रस्थापिताः'। अनन्तरं कुलीरस्तमुवाच–'भो बक! मामपि तत्र नय'। ततो बकोऽप्यपूर्वकुलीरमांसार्थी सादरं तं नीत्वा स्थले धृतवान्। कुलीरोऽपि मत्स्यकण्टकाकीर्णं तत्स्थलमालोक्याचिन्तयत्–'हा! हतोऽस्मि मन्दभाग्यः। भवतु। इदानीं समयोचितं व्यवहरिष्यामि। यतः–

(१) इसका मूल श्लोक माघकविरचित शिशुपालवध काव्यके दूसरे सर्गमें है, शत्रुकी ओरका होकरभी जो उपकारी हो उसके साथ सन्धि करै, और मित्र हो अपकार करै तो उससे न मिले. कारण कि, उपकारी पुरुषको मित्र और अपकारीको शत्रु जाने, नहीं तो जातिसम्बन्ध या और किसी कारणसे कोई शत्रु या मित्र नहीं गिना जासकता।

मछलियोंने पूछा,—'हे बक ! किसप्रकारसे हमलोगोंकी प्राणरक्षा होसकती है ?' बगलेने कहा,—'और एक सरोवर है, उस स्थानमें जानेसे तुम्हारी प्राण-रक्षा होगी। मैं तुम्हें एक २ करके उस स्थानमे रख आसकताहूं'। मछलियोंने भी प्राणडरके मारे उसके कहनेको स्वीकार किया। इसके उपरान्त वह दुष्ट बगला एक २ मछलीको लेजाय किसीएक स्थानमें उसको खाय, फिर आय कहने लगा कि,—'मैं उसको और जलाशयमें रख आया'। इसके पीछे एक दिन उस कुलीरक (केंकडे) ने बगलेसे कहा,—'हे बक ! हमकोभी उस जलाशयमें लेचलो'। बगलाभी अपूर्व केंकडेका मास खानेके लोभसे आदरपूर्वक उसको लेजाय एक थलभागमें उपस्थित भया। केकडेने भी वह स्थान मछलियोंके कांटोंसे ढका देख विचारा—'हाय ! मैं मारागया ! मैं अति अभागा हूं ! जो हो इस समय यथासाध्य चेष्टा करनी चाहिये। कारण,—

तावद्भयात्तु भेतव्यं यावद्भयमनागतम्।
आगतन्तु भयं वीक्ष्य प्रहर्तव्यमभीतवत् ॥ १७ ॥

भयसे तभीतक भय पावे, जबतक भय आवै नहीं। फिर भयको आया-हुआ देख निर्भयकी नाईं प्रहार करै ॥ १७ ॥

अपरं च-

औरभी,—

अभियुक्तो यदा पश्येन्न किञ्चिद्धितमात्मनः।
युद्ध्यमानस्तदा प्राज्ञो म्रियते रिपुणा सह ॥ १८ ॥'

अभियुक्त पुरुष जब अपना कुछभी हित न देखैं तब वह सुबुद्धिमान शत्रुके सहित युद्ध करताहुआ मरै ॥ १८ ॥'

इत्यालोच्य कुलीरस्तस्य ग्रीवां चिच्छेद। स बकः पञ्चत्वं गतः। अतोऽहं ब्रवीमि—'भक्षयित्वा बहून्मत्स्यान्' इत्यादि। ततश्चित्रवर्णोऽवदत्—'शृणु तावन्मंत्रिन् ! मयैतदालोचित-मस्ति। अत्रावस्थितेन मेघवर्णेन राज्ञा यावन्ति वस्तूनि कर्पूरद्वीपस्योत्तमानि तावन्त्यस्माकमुपनेतव्यानि। तेनास्मा-भिर्महासुखेन विन्ध्याचले स्थातव्यम्'। दूरदर्शी विहस्याह-'देव !

केंकडेने यह विचार बगलेकी गर्दन काट डाली। वह बगलाभी मृत्युको प्राप्त हुआ। इसीलिये कहताहूं कि 'उत्तम, मध्यम, अनेक मछलियोंको भक्षण करके' इत्यादि॥ इसके उपरान्त राजा चित्रवर्णने फिर कहा,–'हमने जो कल्पना मन, ही मन की है, उसको भी आप श्रवण करलें। मेघवर्णको इस कर्पूरद्वीपके राज्य-पदपर स्थापन करनेसे, यह इस स्थानकी जितनी श्रेष्ठवस्तु हैं सदा हमलोगोंके लिये उपहार (नजर) भेजैगा। हम विन्ध्याचलमें रहकर परम सुखसे वह समस्त विलासभोग करेंगे'। दूरदर्शी यह सुन हँसकर बोला–'महाराज!–

अनागतवतीं चिन्तां कृत्वा यस्तु प्रहृष्यति।
स तिरस्कारमाप्नोति भग्नभाण्डो द्विजो यथा॥१९॥'

न आईहुई चिंताको करके जो पुरुष हर्षित होताहै; वह असन्मानको पाताहै, जैसे पात्रके फूटनेसे ब्राह्मण (१)॥१९॥'

राजाह-'कथमेतत्?'। मन्त्री कथयति–

राजाने पूछा–'यह कैसे?' दूरदर्शीने कहा–

कथा ७.

अस्ति देवीकोटनाम्नि नगरे देवशर्मा नाम ब्राह्मणः। तेन महाविषुवत्संक्रान्त्यां सक्तुपूर्णशराव एकः प्राप्तः। तमादायासौ कुम्भकारस्य भाण्डपूर्णमण्डपैकदेशे रौद्रेणार्तः(?) सुप्तः। ततः सक्तुरक्षार्थं हस्ते दण्डमेकमादायाचिन्तयत–'यद्यहं सक्तुशरावं विक्रीय दशकपर्दकान्प्राप्स्यामि तदात्रैव तैः कपर्दकैर्घटशरावादिकमुपक्रीयानेकधा वृद्धैस्तद्धनैः पुनः पुनः पूगवस्त्रादिकमुपक्रीय विक्रीय वाणिज्यं कृत्वा लक्षसंख्यानि धनानि कृत्वा विवाहचतुष्टयं करिष्यामि। अनन्तरं तासु सपत्नीषु रूपयौवनवती या तस्यामधिकानुरागं करिष्यामि। सपत्न्यो यदान्योन्यं द्वन्द्वं करिष्यन्ति तदा कोपा-

(१) जो पुरुष मनमें ऊंची आशा करनाको स्थान दे उन्मत्त होताहै, उसको मरादु:ख भोगना पडताहै, एक ब्राह्मणने स्वप्नकारकी कल्पनासे मत्त हो अन्तमें अपना सत्तूसे भराहुआ घडा अपने हाथसेही तोड डाला और फिर दु:ख भी पाताभया।

कुलोऽहं ता लगुडेन ताडयिष्यामि' इत्यभिधाय लगुड क्षितः। तेन सक्तुशरावश्चूर्णितो भाण्डानि च बहूनि भग्नानि ततस्तेन शब्देनागतेन कुम्भकारेण तथाविधानि भाण्डान्यव लोक्य ब्राह्मणस्तिरस्कृतो मण्डपाद्वहिष्कृतश्च । अतोऽ ब्रवीमि-'अनागतवतीं चिन्ताम्' इत्यादि ॥ ततो राजा रह सि गृध्रमुवाच-'तात ! यथा कर्तव्यं तथोपदिश'। गृध्रो ब्रूते

देवीकोटनगरमे देवशर्मा नाम एक ब्राह्मण था, उसने महा विषुसंक्रान्तिके (१) दिन एक सरैयाभर सत्तु पाये उसने वह सत्तु ले, धूपसे अत्यन्त सन्तापित हो एक कुम्हारके वर्त्तनोंसे परिपूर्ण गृहमे जायकर शयन किया (२) उस सतूसे भरी सरैयोकी रक्षाके लिये हाथमे लकडी लेकर वह मनहीमन इस प्रकारसे विचारने लगा, 'कि मैं एक सरैया सतू बेचकर जो दश कौडियें पाऊं तो उन कौडियोके इसी स्थानसे घडा और सरैये मोल ले उनको बेचकर जो कौडिया पाऊगा फिर उनको अनेक उपायसे वढाकर उस धनसे सुपारी और वस्त्रादि द्रव्य लेकर वारवार खरीदूंगा और बेचूंगा। इसप्रकार वाणिज्यद्वारा क्रमसे जब मेरे पास लाख रुपये इकट्ठे होजायँगे, तब चार विवाह करूंगा। उन चार स्त्रियोंमें जो सबसे अधिक रूपवती और युवा होगी, हम उसको ही अधिक प्यार करेगे; इससे उसकी सौते जब डाह करके आपसमे क्लेश आरंभ करेगी तब मैं क्रोधसे अधीर हो उनके लकड़ी मारूगा'। ब्राह्मणने यह विचारते२ सत्य २ ही क्रोधसे अधीर हो हाथमेकी वह लकडी जैसेही चलाई कि वैसेही उसकी वह सत्तकी सरैया चूर्ण होगई और कुम्हारकेभी अनेक वर्त्तन टूटे। उन

(१) "महाविषुव, सक्रान्ति" चैत्रसक्रान्ति यथा-"महाविषुवमाख्यात कृतिभिश्चैत्रचिह्नितम्" जब सूर्य मेषराशिपर जाते है। इस सक्रान्तिको पितृलोगोके उद्देशसे ब्राह्मणोको सत्तू और जलसे भरे घडे दियेजाते है। यथा कुलार्णवमे "यो ददाति हि मेषादौ सक्तूनम्बुघटान्वितान्। पितॄनुद्दिश्य विप्रेभ्यः सर्वपापैर्विमुच्यते"। इति। अपि च,-"मेषादौ सक्तवो देया वारिपूर्णा च गर्गरी" इति।

(२) कुम्हारके जिस घरमें हाडी, घडे, सरैये, मलसे, कच्चे और पक्के रक्खे रहतेहैं, उस गृहमें ब्राह्मणमहाराज पडे थे।

सब वर्तन और सरैया इत्यादि । चूरमार शब्दसे कुम्हारने उस स्थानमे आय गालि देते २ गलेदुआ देकर ब्राह्मणको बाहर निकालदिया इसीकारण मैं कहता था कि 'न आईहुई चिन्ता करकै' इत्यादि । इसके उपरान्त राजा चित्रवर्णने गिद्धमंत्रीसे एकान्तमे पूछा,-'पिता! तो क्या करना उचित है, वह मुझे उपदेश कीजिये'-गिद्धने कहा,-

'मदोद्धतस्य नृपतेः संकीर्णस्येव दन्तिनः।
गच्छन्त्युन्मार्गयातस्य नेतारः खलु वाच्यताम् ॥२०॥

'कुमार्गमें जानेवाले, मतवाले, सकीर्ण हाथीका चलानेवाला निन्दाको प्राप्त होताहै, ऐसेही खोटे मार्गमे जानेवाले मदान्धराजाके मंत्री निन्दाको पातेहैं ॥ २० ॥

शृणु देव! किमस्माभिर्बलदर्पाद्दुर्गं भग्नम्। न। किंतु तव प्रतापाधिष्ठितेनोपायेन'। राजाह-'भवतामुपायेन'। गृध्रो ब्रूते-'यद्यस्मद्वचनं क्रियते तदा स्वदेशे गम्यताम्। अन्यथा वर्षाकाले प्राप्ते तुल्यबलेन सह पुनर्विग्रहे सत्यस्माकं परभूमिष्ठानां स्वदेशगमनपि दुर्लभं भविष्यति। सुखशोभार्थं संधाय गम्यताम्। दुर्गं भग्नं कीर्तिश्च लब्धैव। मम संमतं तावदेतत्। यतः-

सुनिये महाराज! आपने जो यह शत्रुका गढ तोडाहै, सो क्या बाहुबलसे या मंत्रणाकी कौशलसे?' राजाने कहा,-'आपकी मंत्रणाकौशलसे'। तब गिद्धने कहा,-'जो हमारी मंत्रणा सुनो, तो अपने देशको फिर चलो। नहीं तो जब घोर वर्षाकाल आवेगा, तब इस बराबरवाले राजाके साथ संग्राम होनेपर, इस विदेशसे अपने देशको लौटकर जानाही हमारे लिये दुर्घट होगा। इसकारण इस राजाके सहित सन्धि करके चलिये। तिससे हमारी सुखसमृद्धि और सन्मान सबही बना रहैगा, क्योंकि हमने इस समय शत्रुका दुर्गभी तोडा है और कीर्तिभी पाई है। हमारी सम्मतिमें तो यही सत्परामर्श है। कारण,-

यो हि धर्मं पुरस्कृत्य हित्वा भर्तुः प्रियाप्रिये।
अप्रियाण्याह पथ्यानि तेन राजा सहायवान् ॥ २१ ॥

जो पुरुष धर्मको आगे करके प्रभुके प्रिय अप्रियको त्याग, अप्रिय और पथ्यको कह डालताहै, उसके साथ होनेसेही राजा सहायवान् होताहै ॥ २१ ॥

अन्यच्च-

और भी,-

सुहृद्बलं तथा राज्यमात्मानं कीर्तिमेव च ।
युधि संदेहदोलास्थं को हि कुर्यादबालिशः ॥ २२ ॥

सुहृद्, सेना, राज्य, आत्मा और कीर्ति इन सबको कौन मूर्ख सग्राम संशयरूपी हिंडोलेके बीच स्थित करेगा ॥ २२ ॥

अपरं च-

और भी,-

संधिमिच्छेत्समेनापि संदिग्धो विजयो युधि ।
न हि संशयितं कुर्यादित्युवाच बृहस्पतिः ॥ २३ ॥

समान पुरुषके साथभी सन्धि कर ले; क्योंकि संग्राममें विजय संदिग्ध है इसालिये ऐसे संशयके स्थानमें युद्ध न करना चाहिये, यह बृहस्पतिजी कहाहै (१) ॥ २३ ॥

अपि च-

और,--

युद्धे विनाशो भवति कदाचिदुभयोरपि ।
सुन्दोपसुन्दावन्योन्यं नष्टौ तुल्यबलौ न किम् ॥ २४॥

समान २ के युद्धमें दोनोहीके विनाश होनेकी सम्भावना है, तुल्यपराक्रमवाले सुन्द उपसुन्द क्या नहीं मारे गये? ॥ २४ ॥'

राजोवाच-' कथमेतत् ?' मन्त्री कथयति-

राजाने पूछा,-'यह कैसे !' मन्त्रीने कहा,-

कथा ८.

पुरा दैत्यौ महोदारौ सुन्दोपसुन्दनामानौ महता क्लेशेन त्रैलोक्यकामनया चिराच्चन्द्रशेखरमाराधितवन्तौ । तत

(१) समान शत्रुसे युद्ध करनेमें जय पराजय होनेकी कुछ स्थिरता नहीं, इसलिये ऐसे संशयके स्थानमें राजा युद्ध न करके सन्धिही करै, यह अमरगुरु अर्थात् बृहस्पतिजीका उपदेश है ।

स्तयोर्भगवान्परितुष्टः 'वरं वरयतम्' इत्युवाच। अनन्तरं तयोः कंठाधिष्ठितया सरस्वत्या तावन्यद्वक्तुकामावन्यदभिहितवन्तौ। 'यद्यावयोर्भगवान्परितुष्टस्तदा स्वप्रियां पार्वतीं परमेश्वरो ददातु'। अथ भगवता क्रुद्धेन वरदानस्यावश्यकतया विचारमूढयोः पार्वती प्रदत्ता। ततस्तस्या रूपलावण्यलुब्धाभ्यां जगद्धातिभ्यां मनसोत्सुकाभ्यां पापतिमिराभ्यां मम ममेत्यन्योन्यकलहाभ्यां प्रमाणपुरुषः कश्चित्पृच्छयतामिति मतौ कृतायां स एव भट्टारको वृद्धद्विजरूपः समागत्य तत्रोपस्थितः। अनन्तरम् 'आवाभ्यामियं स्वबललब्धा कस्येयमावयोर्भवति' इति ब्राह्मणमपृच्छताम्। ब्राह्मणो ब्रूते-

पूर्वकालमें सुन्द व उपसुन्दनामक दो महाप्रभावी दैत्योंने त्रिलोकीके आधिपत्यकी कामना कर बहुत कालतक अति कठोर तप कर भगवान् चन्द्रशेखरकी आराधना की थी। महादेवजीने उन दोनोंकी आराधनासे प्रसन्न होकर कहा,-'तुम दोनों हमसे वर मांगो'। उन्होंने जैसेही त्रिलोकीके आधिपत्यकी प्रार्थना करनी चाही, वैसेही उनके कंठापर आनकर सरस्वती वैठगई; और उनसे वह बात न कहलाकर और बात कहलाई। उन्होंने कहा,-'हे परमेश्वर! जो आप प्रसन्न हुएहैं तो अपनी प्रियतमा पार्वतीको हमें देदीजिये'। इन दोनोंकी उस प्रार्थनासे महादेवजी क्रोधित हुए, किन्तु जब अंगीकार कियाहै तो अवश्यही वर देनाहोगा, बस यह विचार, उन दोनों दुर्बुद्धि दैत्योंको पार्वतीको देदिया। इसके उपरान्त सृष्टिसंहारी वे दोनो पापात्मा दैत्य भगवती पार्वतीजीके रूपलावण्यसे ऐसे विमोहित और अधीरचित्त हुए कि 'इस सुन्दरीको मैंही लूंगा' यह कह परस्पर घोर कलह आरम्भ करते भये। पीछे दोनोंने यह स्थिर किया कि,-आओ! हम यह झगडा निवटानेके लिये किसी पुरुषको मध्यस्थ मानें, वह (मध्यस्थ) विचारकर जिसको दे यह सुन्दरी उसकीही होगी। इसी अवसरमें वह महादेव भगवान् ही वृद्धब्राह्मणका रूप धारण करके उनके समीप स्थित हुए। इसके उपरान्त उन दोनोंने ही उस वृद्धब्राह्मणसे पूछा-'हमने तपके बलसे इस सुन्दरीको प्राप्त किया है, इससमय हमारे दोनोंके मध्यमें कौन इसको भोग करे'? ब्राह्मणने कहा,-

'ज्ञानश्रेष्ठो द्विजः पूज्यः क्षत्रियो वलवानपि ।
धनधान्याधिको वैश्यः शूद्रस्तु द्विजसेवया ॥ २५ ॥

'ज्ञानमें श्रेष्ठ ब्राह्मण पूजनीय है, वलवान् क्षत्री पूजाजाता है, धनधान्यादि वैश्य पूज्य है, और ब्राह्मणकी सेवासे शूद्र मान्य होता है ॥ २५ ॥

तद्युवां क्षत्रधर्मानुगौ । युद्ध एव युवयोर्नियमः' । इत्यादि हिते सति 'साधूक्तमनेन' इति कृत्वान्योऽन्यतुल्यवीर्यौ सा कालमन्योऽन्यघातेन विनाशमुपगतौ । अतोऽहं ब्रवीमि 'संधिमिच्छेत्समेनापि' इत्यादि ॥ राजाह-'प्रागेव किं नो भवद्भिः' । मंत्री ब्रूते-'मद्वचनं किमवसानपर्यंतं कृतं भवद्भिः तदापि मम संमतया नायं विग्रहारम्भः । साधुगुणयुक्तोऽ हिरण्यगर्भो न विग्राह्यः । तथा चोक्तम्-

तो तुम दोनोंही क्षत्रियधर्मसे युक्त हो, इसलिये तुम परस्पर युद्ध करो; जयी होगा, वही इसको ग्रहण करेगा' । ब्राह्मणके यह बात कहनेपर वह दो उसको धन्यवाद दे परस्पर युद्ध करने लगे । दोनोंही समान वलवीर्यवाले दोनोंही परस्पर भयानक प्रहार करके एक कालमें दोनोही हत हुए । इसीलि मैं कहताहूं कि 'समान वलके साथ सन्धि करे' इत्यादि । राजाने कहा,-'त आपने पहलेही यह परामर्श क्यों न दिया ?' मन्त्री बोला,-'आपने क्या उ समय हमारी वात पूरी सुनी थी ? तव तो मेरी मतिसे यह युद्ध आरम्भ न भया । कारण कि, हमारी मतिसे इस राजा हिरण्यगर्भके साथ युद्ध करना उचि नहीं । इसमें जो समस्त गुण हैं, तिससे इसके सहित सन्धि करनाही उचि है, कहाभी है कि,-(अव यह वतलाया जाताहै कि, किस २ के साथ सन्धि करनी चाहिये)

सत्यार्यौ धार्मिकोऽनार्यो भ्रातृसंघातवान्वली ।
अनेकयुद्धविजयी संधेयाः सत कीर्तिताः ॥ २६ ॥

सत्यनिष्ट, (जो प्राणान्त होनेपरभी प्रतिज्ञा नहीं तोडे "प्राण जाय प वचन न जाई") आर्य, (जो पुरुष श्रेष्ठकुलमे उत्पन्न हुआ हो सभ्य औ सदाचाररत हो) धार्मिक, (जो सदा धर्मके मार्गपर चले) अनार्य, (हीनजा तिवाला, असभ्य, कदाचारसम्पन्न) भ्रातृसमूहविशिष्ट, (अर्थात् वहुत ता

ईबन्धु और जाति प्राणपनसे जिसकी सहायता करते हों) बली, (जो पुरुष
ोकबलसे, धनबलसे और नीतिशक्तिके प्रभावसे अति प्रबलपराक्रमी हो) अनेक
ुद्ध जेता, (अपने प्रभावसे जिसने बहुत युद्धोंमे जय पाई है) ये सात सन्धिके
ोग्य कहेगये हैं। (१) ॥ २६ ॥

सत्योऽनुपालयेत्सत्यं संधितो नैति विक्रियाम्।
प्राणबाधेऽपि सुव्यक्तमार्यो नायात्यनार्यताम् ॥ २७ ॥

त्यवादी सत्यका पालन करताहै, इसकारण वह मेलसे विकारको नहीं प्राप्त
। पूज्यलोग प्राणान्त होनेपर भी अपूज्यता नहीं पाता ॥ २७ ॥

धार्मिकस्याभियुक्तस्य सर्व एव हि युध्यते।
प्रजानुरागाद्धर्माच्च दुःखोच्छेद्यो हि धार्मिकः ॥ २८ ॥

ार्मिकके अभियुक्त होनेपर सभी युद्ध करतेहैं; प्रजानुरागके हेतु और धर्मके
ार्मिक, दुःखसे उच्छेदन करनेके योग्य है ॥ २८ ॥

संधिः कार्योऽप्यनार्येण विनाशे समुपस्थिते।
विना तस्याश्रयेणार्यो न कुर्यात्कालयापनम् ॥ २९ ॥

मरण उपस्थित होनेपर नीचके साथभी मेल करै, उसके आश्रयके सिवाय
: प्रकारसे समय नहीं बितावै (२) ॥ २९ ॥

संहतत्वाद्यथा वेणुर्निबिडैः कण्टकैर्वृतः।
न शक्यते समुच्छेत्तुं भ्रातृसंघातवांस्तथा ॥ ३० ॥

बास इकट्ठा रहनेसे और कॉटोंसे घेराहुआ जैसे घना रहता, वैसेही भ्राताका
ूह रखनेवाला उच्छिन्न नहीं होसकता ॥ ३० ॥

बलिना सह योद्धव्यमिति नास्ति निदर्शनम्।
प्रतिवातं न हि घनः कदाचिदुपसर्पति ॥ ३१ ॥

---

(१) इन सात प्रकारके शत्रुओंके साथ युद्ध न करके सन्धिही करै क्योंकि इनके सहित युद्ध करनेसे अपनी हार होनीही सभव है। और सन्धि करनेसे बहुत लाभकी सम्भावना है।

(२) गुहक और वानर लोगोंके साथ सद्भावकरके श्रीरामचन्द्रजी अनन्त संकटसे उत्तीर्ण हुएथे। इसलिये अनार्य अर्थात् असभ्यजातिके साथ विग्रह न करके सन्धि करना ठीक है।

(१) बलवान्‌के सहित युद्ध करे यह निदर्शन नहीं है; क्योंकि मेघ कद बादल पवनके विरुद्ध कभी नहीं जाय सकता ॥ ३१ ॥

जमदग्नेः सुतस्येव सर्वः सर्वत्र सर्वदा ।
अनेकयुद्धजयिनः प्रतापादेव भुज्यते ॥ ३२ ॥

जमदग्नि मुनिके बहुत संग्राममे जयी पुत्र जो परशुरामजी हैं (२) उ समान प्रतापके हेतुसे अनेक युद्धमें जीतनेवाला सब जगह निरन्तर समस्त भोग करताहै ॥ ३२ ॥

अनेकयुद्धविजयी संधानं यस्य गच्छति ।
तत्प्रतापेन तस्याशु वशमायान्ति शत्रवः ॥ ३३ ॥

अनेक युद्धोमें विजयपानेवाला राजा जिस राजाके साथ सन्धिको पा उसके प्रतापसे सभी शत्रुलोग उस राजाके वशमें होजातेहैं ॥ ३३ ॥

तत्र तावद्बहुभिर्गुणैरुपेतः संधेयोऽयं राजा' । चक्रवाक ऽवदत्-'प्रणिधे ! सर्वमवगतम् । गत्वा पुनरा भिष्यसि' । अथ राजा चक्रवाकं पृष्टवान्-'मन्त्रिन्! असंधेय कति तान्श्रोतुमिच्छामि' । मंत्री ब्रूते-'देव ! कथयामि । शृणु

इसलिये यह राजा राजहंस सन्धिका उपयुक्त पात्र है; कारण कि, इ सन्धिके उपयोगी बहुतेरे गुण हैं' ।चक्रवाकने कहा,-'गूढचर ! तुम समस्त ज तो गये ? इस समय तुम जाओ, फिर आना' । इसके उपरान्त हिरण्यगर्भ चक्रवाकसे पूछा,-'हे मन्त्रिश्रेष्ठ ! जिन राजा लोगोंके सहित सन्धि न करके यु करना उचित है, उन सबको आप बताइये,हम उनके जाननेकी इच्छा करते हैं मंत्रीने कहा,-'महाराज कहता हूं सुनिये (३)

---

(१) जिसप्रकार पवनके विरुद्ध मेघ नहीं चलते, वैसेही प्रबल शत्रुकी ओ राजा कदापि युद्ध करनेको न जाय, और जायगा तो छिन्नभिन्न होजायगा

(२) परशुरामजीके समान जिस राजाने अनेक युद्धोंमें जय पाई है ।

(३) जिनके साथ सन्धि न करके युद्ध करना चाहिये, उन सबको अब बतल जाताहै, मूल बात यह कि,-जहां २ युद्ध करनेसे जय पानेकी सम्भाव हो वहांपर सन्धि न करके युद्धही करे ।

बालो वृद्धो दीर्घरोगी तथा ज्ञातिबहिष्कृतः ।
भीरुको भीरुजनको लुब्धो लुब्धजनस्तथा ॥ ३४ ॥

बालक (जो थोडी उमरवाला है, और जिसका बल, वीर्य, ज्ञान और साहस अति साधरण है. और जो युद्धके फलाफलको नहीं जानसकता), वृद्ध (जराअवस्थाके कारण जिसकी बुद्धि और बल उत्साह जातारहाहै), चिररोगी (जो सदा रोगोंके रहनेके कारण निकम्मा होगया हो), ज्ञातिबहिष्कृत (समस्त जातिवाले और भाई बन्धु जिसपर रूठे हुए हो), भीरु (भयशील अर्थात् जो प्राणोके डरसे युद्धको छोड भागै), भीरुजन (अर्थात् जिसकी सेना और सामन्त लोग भयसे खेत छोड भागैं), लुब्ध (जो अत्यन्त लोभी हो, अर्थात् जो अपनी सेनाको और अपने सामन्तोंको पावना उन्हे न देकर आप पचाजाय), लुब्धपरिवृत (अत्यन्तलोभी स्वभाववाले मित्रलोग जिस राजाको सदा घेरे रहैं अर्थात् जिसके सेवक धनके लोभसे स्वामीका बुरा करदे) ॥ ३४ ॥

विरक्तप्रकृतिश्चैव विषयेष्वतिसक्तिमान् ।
अनेकचित्तमन्त्रस्तु देवब्राह्मणनिन्दकः ॥ ३५ ॥

विरक्तस्वभाव (मन्त्री, परिजन, सेना, पौरलोग, जिस राजापर अत्यन्त क्रोधित हों), विषयमें अत्यन्त आसक्त (जो राजा सदाही इन्द्रियोके सुखमें मतवाला रहै), बहुचित्तमन्त्र (मन्त्रणा करनेके विषयमें जिस राजाका चित्त स्थिर नहीं, और जो चपलताके कारण मन्त्रियोंकी गुप्त सलाह किसी दूसरेसे कह दे), देवब्राह्मणनिन्दक (जो राजा पूजनीय देवताके प्रति और उपदेश देनेवाले ब्राह्मणोसे द्वेष रक्खे) ॥ ३५ ॥

दैवोपहतकश्चैव तथा दैवपरायणः ।
दुर्भिक्षव्यसनोपेतो बलव्यसनसङ्कुलः ॥ ३६ ॥

दैवोपहतक (अर्थात् जिसके प्रति भाग्य अत्यन्तही विमुख हो), दैवपरायण (जो राजा अत्यन्त कायर हो केवल भाग्यहीपर भरोसा रखके निश्चिन्त रहै) दुर्भिक्षव्यसनी (जो राजा दुर्भिक्षरूप व्यसनमें अर्थात् विपदमे पडा हो, जिसकी प्रजा अकालसे मरी जाती हो), बलव्यसनी (जिन राजाके बलमें अर्थात् सेनामें व्यसन अर्थात् विपद उपस्थित हो, अर्थात् जिसकी सेनामे रोग मरीका भय, असंतोष, दासता इत्यादि गडबड हो) ॥ ३६ ॥

अदेशस्थो बहुरिपुर्युक्तः कालेन यश्च न ।
सत्यधर्मव्यपेतश्च विंशतिः पुरुषा अमी ॥ ३७ ॥

अदेशस्थ (जो राजा अपने गढ इत्यादि सुरक्षित स्थानसे भ्रष्ट हो और दूसरेके स्थानमें गया हो), बहुशत्रु (जिस राजाके चारों ओर अनेक शत्रु हों), अकालस्थ (जिस राजाका समय अति खोटा हो), सत्यधर्मच्युत (जो राजा सत्यधर्मके मार्गसे भ्रष्ट होगयाहै), ये वीस पुरुष हैं ॥ ३७ ॥

एतैः संधिं न कुर्वीत विगृह्णीयात्तु केवलम् ।
एते विगृह्यमाणा हि क्षिप्रं यान्ति रिपोर्वशम् ॥ ३८ ॥

इनके साथ मेल न करै, केवल सग्राम करै, क्योंकि, ये लोग युद्धकियेजानेपर शीघ्रही शत्रुके वशमे होजाते हैं ॥ ३८ ॥

बालस्याल्पप्रभावत्वान्न लोको योद्धुमिच्छति ।
युद्धायुद्धफलं यस्माज्ज्ञातुं शक्तो न बालिशः ॥ ३९ ॥

बालकके अल्प बलके हेतु लोग सग्राम करनेकी इच्छा नहीं करते, क्यों कि युद्ध व अयुद्धके फलको जाननेके लिये बालक समर्थ नहीं होता ॥ ३९ ॥

उत्साहशक्तिहीनत्वाद्वृद्धो दीर्घामयस्तथा ।
स्वैरेव परिभूयेते द्वावप्येतावसंशयम् ॥ ४० ॥

उत्साहरहित होजानेके हेतु वृद्ध और चिररोगी ये दोनों जन अवश्य अपने आपही पराजित होतेहैं ॥ ४० ॥

सुखोच्छेद्यो हि भवति सर्वज्ञातिबहिष्कृतः ।
त एवैनं विनिघ्नन्ति ज्ञातयस्त्वात्मसात्कृताः ॥ ४१ ॥

जातिसे बाहर निकाला गया सरलतासे नाश करनेके योग्य होता है, उसको निश्चय करके वे जातिवाले लोग, जो अपने आधीन कियेगयेहैं, नाश करदेते हैं ॥ ४१ ॥

भीरुर्युद्धपरित्यागात्स्वयमेव प्रणश्यति ।
तथैव भीरुपुरुषः संग्रामे तैर्विमुच्यते ॥ ४२ ॥

भीरुपुरुप युद्धको त्यागकर आपही नष्ट होजाताहै, और डरपोक जिस संगमे है वह डरपोक, पुरुषोंसे छोडा जाताहै ॥ ४२ ॥

लुब्धस्यासंविभागित्वान्न युद्धयन्तेऽनुयायिनः।
लुब्धानुजीविकैरेष दानभिन्नैर्निहन्यते ॥ ४३ ॥

टमें जो उपस्थित होताहै, लोभी जन आपही उसको लेता है, इसी-
तके अनुचर लोग युद्ध नहीं करते, जो स्वामीके सग लोभी पुरुष रहैं,
लोभी) शत्रुसे सुवर्णादि पायकर स्वामीको मार डालते हैं ॥ ४३ ॥

संत्यज्यते प्रकृतिभिर्विरक्तप्रकृतिर्युधि।
सुखाभियोज्यो भवति विषयेष्वातिसक्तिमान् ॥ ४४ ॥

युद्धस्थानमें प्रकृतिगण (१) विरक्तस्वभाववाले पुरुषका त्याग करदेते हैं,
अत्यन्त आसक्त पुरुष सरलतासे पराजयके योग्य होता है ॥ ४४ ॥

अनेकचित्तमन्त्रस्तु भेद्यो भवति मन्त्रिणा।
अनवस्थितचित्तत्वात्कार्यतः स उपेक्ष्यते ॥ ४५ ॥

णाके विषयमे जिसकी मति स्थिर नहीं है, उससे मत्रीलेग द्वेष करते हैं
ससेही मन्त्रीलोग उसके कार्यको छोड देते हैं (२) ॥ ४५ ॥

सदा धर्मबलीयस्त्वाद्देवब्राह्मणनिन्दकः।
विशीर्यते स्वयं ह्येष दैवोपहतकस्तथा ॥ ४६ ॥

दा धर्ममे वल होनेके कारण देवता और ब्राह्मणकी निन्दा करनेवाला वह
ही नष्ट होजाताहै, और ऐसेही भाग्यका मारा नाशको प्राप्त होताहै ॥ ४६ ॥

संपत्तेश्च विपत्तेश्च दैवमेव हि कारणम्।
इति दैवपरो ध्यायन्नात्मानमपि चेष्टते ॥ ४७ ॥

सम्पत्तिका और विपत्तिका भाग्यही कारण है; यह चिन्ता करताहुआ दैवप-
ग पुरुष अपनी भी चेष्टा नहीं करता ॥ ४७ ॥

दुर्भिक्षव्यसनी चैव स्वयमेव विषीदति।
बलव्यसनयुक्तस्य योद्धुं शक्तिर्न जायते ॥ ४८ ॥

(१) 'प्रकृतिगण' मत्री, सेना, सामन्त, परिजन और प्रजा वर्ग, विरक्त अर्थात्
राजाके प्रति अत्यन्त विरुद्ध होनेपर युद्धके समय कोई उसकी सहायता
नहीं करता, इससे शत्रुके चढतेही वह राजा हारजाताहै।

(२) जिसके चित्तकी स्थिरता मन्त्रणाके कार्यमे नहीं है। उसको 'वहुचित्तमन्त्र'
कहतेहैं। मन्त्रीलोग ऐसे चचलचित्त राजाको कार्यमें छोड देतेहैं, इसकारण
उसके साथ युद्ध [illegible] पर भी सहजमें हारजाताहै।

दुर्भिक्षरूप विपत्तिसे व्याकुल पुरुष अपने आपही अवसन्न होताहै; सेनाके व्यतिक्रमसे युद्धकी लडनेके अर्थ शक्ति उत्पन्न नहीं होती ॥ ४८ ॥

अदेशस्थो हि रिपुणा स्वल्पकेनापि हन्यते।
ग्राहोऽल्पीयानपि जले गजेन्द्रमपि कर्षति ॥ ४९ ॥

अपने देशमें न रहनेवालेको कोई छोटा शत्रुभी मार डालताहै, छोटा नाक भी जलमे हाथीकोभी खेंचलेताहै ॥ ४९ ॥

बहुशत्रुस्तु संत्रस्तः श्येनमध्ये कपोतवत्।
येनैव गच्छति पथा तेनैवाशु विपद्यते ॥ ५० ॥

बहुतसारे शत्रुरखनेवाला पुरुष (१) श्येनपक्षीके मध्यमें पडेहुए कबूतरके समान भीत होकर जिस मार्गसे जाताहै उसी मार्गमें नष्ट होताहै ॥ ५० ॥

अकालसैन्ययुक्तस्तु हन्यते कालयोधिना।
कौशिकेन हतज्योतिर्निशीथ इव वायसः ॥ ५१ ॥

अकालमे युद्ध करनेवाला पुरुष, कालमें युद्ध करनेवालेसे नाश होजाताहै। जैसे ज्योति नष्ट हुआ काक आधी रातको उल्लूसे माराजाताहै (२) ॥ ५१ ॥

सत्यधर्मव्यपेतेन संदध्यान्न कदाचन।
स संधितोऽप्यसाधुत्वादचिराद्याति विक्रियाम् ॥ ५२ ॥

सत्यधर्मसे भ्रष्ट हुएके साथ कदापि मेल नहीं करे, वह पुरुष असच्चरित्रताके हेतुसे अल्पकालमें ही मेलसे अन्यथा पाताहै ॥ ५२ ॥

अपरमपि कथयामि। संधिविग्रहयानासनसंश्रयद्वैधीभा-षाड्गुण्यम्। कर्मणामारम्भोपायः, पुरुषद्रव्यसंपद्, देश-[illegible], विनिपातप्रतीकारः, कार्यसिद्धिश्चेति पञ्चाङ्गो

---

(१) 'श्येन' बाजपक्षी। बाज, कबूतरका स्वाभाविक शत्रु है, इसकारण उसको 'कपोतारि' भी कहतेहैं। जिसप्रकार चारोंओर बाजपक्षियोंके रहनेपर बीचमें पडे कबूतरकी रक्षा नहीं, वैसेही चारोंओर बहुत सारे शत्रुओंके रहनेसे राजाकी रक्षा नहीं। ऐसा राजा शीघ्र हार जाता है।

(२) उल्लू, कागका स्वाभाविक शत्रु है, इसकारण उल्लूको 'वायसाराति' अर्थात् कागका शत्रु कहते हैं। काग रात्रिमें कुछभी नहीं देखसकता। उससमय कागको देखतेही जैसे उल्लू मारडालताहै, वैसेही शत्रुके खोटे समयमें उसपर चढाई करतेही उसका विनाश किया जासकता है।

मन्त्रः। सामदानभेददण्डाश्चत्वार उपायाः। उत्साहशक्तिर्मन्त्रशक्तिः प्रभुशक्तिश्चेति शक्तित्रयम्। एतत्सर्वमालोच्य नित्यं विजिगीषवो भवन्ति महान्तः। यतः-

औरभी कहताहूं सुनो;-सान्धि, विग्रह, यान, आसन और द्वैध, आश्रय इनको पड्गुण कहते हैं। कर्मका आरभ उपाय, पुरुष-द्रव्य-सम्पद, देश-काल-विभाग, विनिपात-प्रतीकार, और कार्यसिद्धि ये पाच मंत्रणाके अग हैं। उत्साह-शक्ति, मन्त्र-शक्ति, और प्रभु-शक्ति इन तीनको राजशक्ति कहतेहैं (१)। विजयकी इच्छा करनेवाले इन सबकी नित्य आलोचना करके बडाई प्राप्त किया करतेहैं। कारण;-

या हि प्राणपरित्यागमूल्येनापि न लभ्यते।
सा श्रीर्नीतिविदं पश्य चञ्चलापि प्रधावति ॥ ५३ ॥

जीवनदानरूप मूल्यसे जो सम्पत्ति प्राप्त नहीं होती, देखो वह सम्पत्ति नीति जाननेवाले पुरुषके निकट निश्चला हो आपही दौडती है ॥ ५३ ॥

---

(१) धन या भूमि इत्यादि दान, शत्रुके सहित राजाके मेल करनेको 'सन्धि' कहते हैं। विग्रह, अर्थात् युद्ध। शत्रुके विरुद्ध युद्धयात्रा करनेको 'यान' कहते है। शत्रुके गढादिको घेरकर पडे रहनेका नाम 'आसन' है। अपनी सेनाको दो भागोमे विभक्त करना, अथवा एक शत्रुके साथ सन्धि, और दूसरेके साथ युद्ध करनेको 'द्वैध' कहतेहै। शत्रुसे पराक्रान्त हो एक प्रबल राजाका आश्रय ग्रहण करनेको 'आश्रय' कहतेहै। राजाके स्वराज्यविषयक और परराज्यविषयक मन्त्रणाके पांच अग है। (१) 'कर्मका आरंभ उपाय' अर्थात् किसी एक कार्यके अनुष्ठानकी उपयोगी सहायताका सग्रह करना। (२) 'पुरुषद्रव्यसम्पद्' अर्थात् उस कार्यके निर्वाह करने योग्य लोकबल और अर्थबलका सग्रह करना। (३) 'देशकालविभाग' अर्थात् उस कार्यके निर्वाह करनेके योग्य उपयोगी स्थान और समय निर्णय करना। (४) 'विनिपातप्रतीकार' अर्थात् उस कार्यके सिद्धिपक्षमे जो समस्त विघ्न विपत्ति हो उन सबका प्रतिविधान स्थिर कर रखना। (५) 'सिद्धि' अर्थात् उस कार्यका सम्पूर्ण फल लाभ करना। राजाके चार उपाय हैं,-(१) 'साम' अर्थात् मधुर वचनादिसे शत्रुके कोपको शान्त करना। (२) 'दान' भूमि धन इत्यादि करके शत्रुसे झगडा निवटाना। (३) 'भेद' शत्रुके घरमे फूट कराय अपना कार्य सिद्ध करे। (४) 'विग्रह'-युद्ध। राजाकी तीन शक्ति हैं, यथा,-'प्रभुशक्ति' अर्थात् राजाका निज पौरुष व प्रताप (२) 'उत्साहशक्ति' अर्थात् राजा व राजपुरुषोका अटल उद्योग। (३) 'मन्त्रशक्ति' अर्थात् राजा और राजमंत्रियोंकी अव्यर्थ मन्त्रणाकौशल।

तथा चोक्तम्–

और वैसा कहाभी है कि,–

वित्तं यदा यस्य समं विभक्तं
गूढश्चरः संनिभृतश्च मन्त्रः ।
न चाप्रियप्राणिषु यो ब्रवीति
स सागरान्तां पृथिवीं प्रशास्ति ॥ ९४ ॥

जिसका अन्तःकरण सदा एकसा है, गूढ दूतवाला, गुप्त मन्त्रणावाला और जो मनुष्योंको निठुर वचन नहीं कहता वह पुरुष समुद्रतक पृथ्वीका शासन करताहै ॥ ९४ ॥

किं तु यद्यपि महामन्त्रिणा गृध्रेण संधानमुपन्यस्तं तथापि तेन राज्ञा संप्रति भूतजयदर्पान्न मन्तव्यम् । देव ! तदेवं क्रियताम् । सिंहलद्वीपस्य महाबलो नाम सारसो राजास्मन्मित्रं जम्बूद्वीपे कोपं जनयतु । यतः–

परन्तु महाराज ! मन्त्रिश्रेष्ठ गिद्धनेभी जो सन्धि करनेका परामर्श दिया है, तथापि वह राजा चित्रवर्ण विजयदर्पके मारे इससमय ऐसा उन्मत्त हुआहै कि, वह कदापि उस प्रस्तावको नहीं सुनैगा । इसलिये हमारा मित्र सिंहलद्वीपका राजा महाबलनामक सारस जिससे राजा चित्रवर्णके राज्य जम्बूद्वीपपर चढाई करै, इससमय हम लोगोंको इसकाही उपाय करना कर्त्तव्य है । कारण,–

सुगुप्तिमाधाय सुसंहतेन
बलेन वीरो विचरन्नरातिम् ।
संतापयेद्येन समं सुतप्त–
स्तप्तेन संधानमुपैति तप्तः ॥ ९९ ॥'

शूर पुरुष सुसगत सेनासे सावधान हो सुरक्षित शत्रुको संताप दे, क्योंकि, व्याकुल पुरुष अत्यन्त व्याकुल होकर ' व्याकुलके साथ मेल करताहै (१) ॥ ९९ ॥'

---

(१) युद्धमें जिससमय शत्रुका पक्ष प्रबल हो राजाको सतावै; उस समय राजा उस शत्रुके सहित सन्धि न करै, क्योंकि उससमय जो सन्धि कीजायगी तो शत्रु जो चाहैगा वह उसको देना पडैगा; इसकारण उस समय सन्धि–

राज्ञा 'एवमस्तु' इति निगद्य विचित्रनामा बकः सुगुप्तलेखं दत्त्वा सिंहलद्वीपं प्रहितः।

राजाने कहा,–'तो ऐसाही कियाजाय'। यह कहकर, विचित्र नामक बगलेके हाथमें गुप्तपत्री देकर सिंहलद्वीप भेजदिया।

अथ प्रणिधिः पुनरागत्योवाच–'देव! श्रूयतां तावत् तत्रत्यप्रस्तावः'। एवं तत्र गृध्रेणोक्तम्–'देव! यन्मेघवर्णस्तत्र चिरमुषितः स वेत्ति किं संधेयगुणयुक्तो हिरण्यगर्भो न वा' इति। ततोऽसौ चित्रवर्णेन राजा समाहूय पृष्टः–'वायस! कीदृशोऽसौ हिरण्यगर्भः। चक्रवाको मन्त्री वा कीदृशः'। वायस उवाच–'देव! हिरण्यगर्भो राजा युधिष्ठिरसमो महाशयः। सत्यवाक् चक्रवाकसमो मन्त्री न क्वाप्यवलोक्यते'। राजाह–'यद्येवं तदा कथमसौ त्वया वञ्चितः' विहस्य मेघवर्णः प्राह–'देव!

इसके उपरान्त फिर गुप्तदूतने आयकर राजाको समाचार दिया कि,–'महाराज! शत्रुलोगोंने जो परामर्श किया है वह श्रवण कीजिये'। वहा गिद्धमन्त्रीने राजा चित्रवर्णसे इस प्रकार कहा,–'महाराज! मेघवर्ण काग शत्रुलोगोंके निकट बहुत दिनोंसे था, इसलिये वह कहसकता है कि, राजा हिरण्यगर्भ सन्धिके योग्य पात्र है या नहीं?' यह सुनकर राजा चित्रवर्णने मेघवर्णको बुलवायकर पूछा कि,–'हे काग! वह हिरण्यगर्भ राजा कैसा है और उसका मन्त्री चक्रवाक कैसा है?' मेघवर्णने कहा,–'महाराज! राजा हिरण्यगर्भ युधिष्ठिरकी समान महात्मा व सत्यवादी है, और चक्रवाककी समान मन्त्रीभी कहीं नहीं देखाजाता'। राजाने कहा,–'जो यह सत्य हो, तो तुम किसप्रकार उसे धोखा देनेमें समर्थ हुआ? मेघवर्णने हँसकर कहा,–'महाराज!

विश्वासप्रतिपन्नानां वञ्चने का विदग्धता।
अङ्कमारुह्य सुप्तं हि हत्वा किं नाम पौरुषम्॥ ५६॥

—न करके अनेक उपायकर सन्धि होनेमे देर करै। और इसीसमय अपनी समान शत्रुओंभी फेरमें डाल दे। जिसप्रकार धातुके दो टुकडे अग्निके तापसे बराबर गलकर परस्पर ठीक मिल जातेहै, वैसेही दोनो पक्ष जब बराबर बिगडने पडे तभी सन्धि ठीक होती है।

विश्वासप्राप्त पुरुषके ठगनेमें क्या पुरुषार्थ है ? गोदीमें चढ़कर जो पुरुष, सोयारहता है उसको नष्टकरनेमें कौन पौरुष है ? ॥ ५६ ॥

शृणु देव ! तेन मन्त्रिणाहं प्रथमदर्शन एव ज्ञातः । किं तु महाशयोऽसौ राजा । तेन मया विप्रलब्धः । तथा चोक्तम्-

सुनिये महाराज ! हमको पहले दिन देखतेही मन्त्री जान गया । परन्तु राजा हिरण्यगर्भ अत्यन्त श्रेष्ठ आशयवाला है, इसीलिये मैं उसको ठगसका । वैसा कहाभी है कि,-

आत्मौपम्येन यो वेत्ति दुर्जनं सत्यवादिनम् ।
स तथा वञ्च्यते धूर्तैर्ब्राह्मणश्छागतो यथा ॥ ५७ ॥'

अपनहीं समान जो पुरुष खलको सत्यवादी करके समझताहै, वह वैसेहं ठगाजाताहै, जैसे ब्राह्मण बकरेके लिये ठगागया ॥ ५७ ॥'

राजोवाच-'कथमेतत्?' मेघवर्णः कथयति-

राजाने पूछा,-'यह कैसे'। मेघवर्ण बोला,-

कथा ९.

अस्ति गौतमस्यारण्ये प्रस्तुतयज्ञः कश्चिद्ब्राह्मणः । स च यज्ञार्थं ग्रामान्तरं गत्वा छागमुपक्रीय स्कन्धे नीत्वा गच्छन्धूर्तत्रयेणावलोकितः । ततस्ते धूर्ता यद्येष छागः केनाप्युपायेन लभ्यते तदा मतिप्रकर्षो भवतीति समालोच्य प्रान्तरवृक्षत्रयतले क्रोशान्तरेण तस्य ब्राह्मणस्यागमनं प्रतीक्ष्य पथि स्थिताः। तत्रैकेन धूर्तेन गच्छन्स ब्राह्मणोऽभिहितः।'भो ब्राह्मण!किमिति कुक्कुरः स्कन्धेनोह्यते'। विप्रेणोक्तम्-'नायं श्वा। किंतु यज्ञच्छागः'। अथानन्तरं पुनर्द्वितीयेन धूर्तेन क्रोशमात्रस्थितेन तथैवोक्तम् । तदाकर्ण्य ब्राह्मणश्छागं भूमौ निधाय मुहुर्निरीक्ष्य पुनः स्कन्धे कृत्वा दोलायमानमतिश्चलितः।यतः-

गौतमारण्यमें एक ब्राह्मणने यज्ञ आरम्भ किया था । वह गावमें जाय यज्ञके निमित्त एक बकरा मोल ले कन्धेपर चढायकर ला रहा था कि, तीन धूर्तोंने यह देखा । देखकर धूर्तोंने सलाह की;-जो यह बकरा किसी उस्तादीसे लेसकें, तो इसके भक्षण करनेसे बुद्धि तेजयुक्तहो । उन लोगोंने यह सोचकर तीन

वृक्षोंके नीचे कोस २ भरके अंतरपर उस ब्राह्मणके आनेकी प्रतीक्षा करके मार्गमें अपनेको ठहराया। इसके पीछे उनमेंसे पहला धूर्त उस ब्राह्मणसे बोला; 'हे ब्राह्मण! आप इस कुत्तेको किसलिये कंधेपर चढायकर लिये जाते हैं?' ब्राह्मणने कहा;-'यह कुत्ता नहीं, यज्ञका बकरा है'। इसके उपरान्त ब्राह्मणके एक कोश मार्ग चलनेपर दूसरे धूर्तने उस ब्राह्मणको देखकर वैसेही कहा। यह सुनकर ब्राह्मण उस बकरेको पृथ्वीपर उतार उसको वारंवार देख फिर कन्धेपर ले चला। और उस ब्राह्मणका मन सन्देहसे चलायमान हुआ। कारण;-

मतिर्दोलायते सत्यं सतामपि खलोक्तिभिः।
ताभिर्विश्वासितश्चासौ म्रियते चित्रकर्णवत् ॥ ५८ ॥'

शठके वचनसे सुबोध पुरुषकी बुद्धि भी चचल होजाती है, जो उसमें (शठके वचनमें) विश्वास करताहै, वह चित्रकर्णके समान मारा जाताहै ॥ ५८ ॥'

राजाह-'कथमेतत्?' स कथयति-

राजाने पूछा,-'यह कैसे'? मेघवर्णने कहा,-

कथा १०.

'अस्ति कस्मिंश्चिद्वनोद्देशे मदोत्कटो नाम सिंहः। तस्य सेवकास्त्रयः काको व्याघ्रो जम्बुकश्च। अथ तैर्भ्रमद्भिः सार्थभ्रष्टः कश्चिदुष्ट्रो दृष्टः पृष्टश्च-'कुतो भवानागतः'। स चात्मवृत्तान्तमकथयत्। ततस्तैर्नीत्वा सिंहेऽसौ समर्पितः। तेनाभयवाचं दत्वा चित्रकर्ण इति नाम कृत्वा स्थापितः। एवं कालो गच्छति। अथ कदाचित्सिंहस्य शरीरवैकल्याद्भूरिवृष्टिकारणाच्चाहारमलभमानास्ते व्यग्रा बभूवुः। ततस्तैरालोचितम्-'चित्रकर्णमेव यथा स्वामी व्यापादयति तथानुष्ठीयताम्। किमनेन कण्टकभुजा'। व्याघ्र उवाच-'स्वामिनाभयवाचं दत्त्वाऽनुगृहीतस्तत्कथमेवं संभवति'। काको ब्रूते-'इह समये परिक्षीणः स्वामी पापमपि करिष्यति। यतः-

एक वनमें मदोत्कटनाम एक सिंह था। काग, व्याघ्र, और गीदड ये तीन उसके सेवक थे। एकदिन उन्होंने घूमते २ एक यूथसे छूटाहुआ ऊँट देखकर पूछा,-'तुम कहासे आयेहो?' यह सुनकर ऊँटने अपना

वृत्तान्त इनलोगोंसे निवेदन किया । इसके उपरान्त वे तीन सेवक उस ऊंटको लेकर सिंहके निकट पहुचे । इसके पीछे सिंहनेभी उसको अभयदान (तुमको कुछ भय नहीं हम रक्षा करेगे ऐसा कहकर धीरज देना) दे, उसका चित्रकर्ण यह नाम रख, उसे सेवकके पदपर नियुक्त किया । इसप्रकारसे कुछ समय बीत जानेपर, सिंहके अत्यन्त पीडित होने व घोर वर्षाके आजानेसे, आहार न पाकर वे सबही अत्यन्त व्याकुल हुये । इसके पीछे काक, व्याघ्र और शृगाल इन तीन जनोने मत्रणा की कि,-'जिससे चित्रकर्णको राजा मारडाले ऐसा उपाय कियाजावे इस काटोके खानेवाले ऊटके रहनेसे हमलोगोंको क्या करना है ?' व्याघ्र कहा,-'राजाने इसको अभयदान दियाहै, वह किसप्रकारसे उसका वध करेगा ? कागने कहा;-'राजा इस समय रोग और भूखसे अत्यन्त क्षीण होगये हैं, इस कारण इस समय वे पापकर्मभी करेगे । कारण,-

त्यजेत्क्षुधार्ता महिला स्वपुत्रं
खादेत्क्षुधार्ता भुजगी स्वमण्डम् ।
बुभुक्षितः किं न करोति पापं
क्षीणा नरा निष्करुणा भवन्ति ॥ ५९ ॥

क्षुधासे आतुर स्त्री अपने पुत्रको भी त्यागकरती है, भूखी सर्पिणी अपने अडोको भक्षण करतीहै, भूँखा पुरुष क्या पापकर्म नहीं करता ? प्रायः आहारके न मिलनेसे क्लेशित मनुष्य निर्दय होजाते हैं (१) ॥ ५९ ॥

अन्यच्च-

औरभी,-

मत्तः प्रमत्तश्चोन्मत्तः श्रान्तः क्रुद्धो बुभुक्षितः ।
लुब्धो भीरुस्त्वरायुक्तः कामुकश्च न धर्मवित् ॥ ६० ॥

मत्त-(मदिरा पीनेसे या अभिमानसे जिसको हित अहितका ज्ञान न रहे) प्रमत्त-(अनवहित, अर्थात् कर्त्तव्यकर्ममें जिसका कुछभी मन नहीं लगता) उन्मत्त-(उन्मादग्रस्त, पागल), श्रमयुक्त, क्रुद्ध (क्रोधसे अधीर), बुभुक्षित (भूँखा), लुब्ध (लोभी), भीरु (भयसे व्याकुल), त्वरायुक्त

(१) रोग या भूखसे जो अत्यन्त दुःख पाता है, उसके मनमें दया धर्म नहीं रहता है, ऐसे पुरुष सब प्रकारके दुष्कर्म करसकते है ।

व्यस्त) कामुक (कामसे आतुर, कामरिपुसे उत्तेजित किया हुआ)
पीडित (जिसको रोग या शोक हो), ये लोग धर्मज्ञ नहीं हैं ॥ ६० ॥'

इति संचिन्त्य सर्वे सिंहान्तिकं जग्मुः। सिंहेनोक्तम्-'आहारार्थं किंचित्प्राप्तम्?'। तैरुक्तम्-'यत्नादपि न प्राप्तं किंचित'। सिंहेनोक्तम्-'कोऽधुना जीवनोपायः'। काको वदति-'देव! स्वाधीनाहारपरित्यागात्सर्वनाशोऽयमुपस्थितः'। सिंहेनोक्तम्-'अत्राहारः कः स्वाधीनः' काकः कर्णे कथयति-'चित्रकर्णः' इति। सिंहो भूमिं स्पृष्ट्वा कर्णौ स्पृशति ब्रूते च-'अभयवाचं दत्त्वा धृतोऽयमस्माभिः। तत्कथमेवं संभवति। तथा च-

इसप्रकारसे निश्चय कर वे सब मिल सिंहके पास गये। सिंहने पूछा-'क्या हमारे भोजनके लिये कुछ पाया?' उन्होने कहा,-महाराज! बहुत यत्नसे भी कुछ नहीं मिला'। सिंहने कहा,--'तो अब प्राणधारण करनेको क्या उपाय है'? कागने कहा,-'जो आहार इच्छाके आधीन रहाहै उसके त्यागनेहीसे तो यह सबका नाश उपस्थित है'। सिंहने कहा,-'कौनसा आहार यहाँपर इच्छाके आधीन रहाहै?' कागने सिंहके कानमें कहा,-'चित्रकर्ण'। सिंहने यह सुन पृथ्वीको छू अपने कानोपर हाथ रक्खे, और कहा,-'हमने उसको अभयदान देकर रखाहै। यह कभी संभव होसकताहै? देख!

न भूप्रदानं न सुवर्णदानं
न गोप्रदानं न तथान्नदानम्।
यथा वदन्तीह महाप्रदानं
सर्वेषु दानेष्वभयप्रदानम् ॥ ६१ ॥

संसारके सब दानोंमे जिसप्रकार अभयदानको महादान कहाजाताहै, वैसा भूमिदान, सुवर्णदान, गोदान, या अन्नदान नहीं है ॥ ६१ ॥

अन्यच्च-

औरभी,-

सर्वकामसमृद्धस्य अश्वमेधस्य यत्फलम्।
तत्फलं लभते सम्यग्रक्षिते शरणागते ॥ ६२ ॥'

सर्व अभिलाषोंको देनेवाले अश्वमेध यज्ञके जो फल हैं, वे समस्त फल शरण आये पुरुषकी रक्षा करनेसे मिलते हैं ॥ ६२ ॥

काको ब्रूते-'नासौ स्वामिना व्यापादयितव्यः । किं त्वस्माभिरेव तथा कर्तव्यं यथासौ स्वयमेव स्वदेहदानमङ्गीकरोति' । सिंहस्तच्छ्रुत्वा तूष्णीं स्थितः । ततोऽसौ लब्धावकाशः कूटं कृत्वा सर्वानादाय सिंहान्तिकं गतः। अथ काकेनोक्तम्-'देव ! यत्नादप्याहारो न प्राप्तः । अनेकोपवासखिन्नः स्वामी । तदिदानीं मदीयमांसमुपभुज्यताम् । यतः-

कागने कहा,-'स्वामीको उसका वध करना उचित तो नहीं है; किन्तु हम ऐसा करैं कि, जो यह आपही आकर स्वामीको अपनी देहका देना अंगीकार करै' । सिंह यह सुनकर चुप होरहा । कागनेभी वैसेही उस सुयोगमें युक्तिकर सबको सिंहके निकट उपस्थित किया । इसके पीछे कागने कहा;-'महाराज! अनेक चेष्टा करकेभी भोजनके लिये कुछ नहीं पाया । स्वामी ! आपभी बहुत समयसे भोजन न पाय कृश हुएहैं । उसलिये इस समय मेराही देह भोजन करके प्राण धारण कीजिये । कारण,-

स्वामिमूला भवन्त्येव सर्वाः प्रकृतयः खलु ।
समूलेष्वपि वृक्षेषु प्रयत्नः सफलो नृणाम् ॥ ६३ ॥'

सब प्रजाका मूल निश्चय करके स्वामी है, मनुष्योंका प्रयत्न समूल वृक्षोंपर ही सफल है (१) ॥ ६३ ॥'

सिंहेनोक्तम्—'वरं प्राणपरित्यागः । न पुनरीदृशी कर्मणि प्रवृत्तिः' । जम्बुकेनापि तथोक्तम् । ततः सिंहेनोक्तम्-'मैवम्' । अथ व्याघ्रेणोक्तम्-'मद्देहेन जीवतु स्वामी' । सिंहेनोक्तम्-'न कदाचिदेवमुचितम्' । अथ चित्रकर्णोऽपि जातविश्वासस्तथैवात्मदानमाह । ततस्तद्वचनात्तेन व्याघ्रेणासौ कुक्षिं विदार्य

(१) वृक्षके मूलकी रक्षा करनेसे जिसप्रकार सब वृक्षकी रक्षा होजाती है, एवं राजाके रक्षित होनेसे वैसेही सब प्रजाकी रक्षा होतीहै ।

यापादितः सर्वैर्भक्षितः । अतोऽहं ब्रवीमि-'मतिर्दोलायते त्यम्' इत्यादि ॥ ततस्तृतीयधूर्तवचनं श्रुत्वा स्वमतिभ्रमं नेश्चित्य च्छागं त्यक्त्वा ब्राह्मणः स्नात्वा गृहं ययौ । स छागस्तैर्धूर्तैर्नीत्वा भक्षितः । अतोऽहं ब्रवीमि-'आत्मौप म्येन यो वेत्ति' इत्यादि ॥ राजाह-'मेघवर्ण ! कथं शत्रुमध्ये त्वया चिरमुषितम् । कथं वा तेषामनुनयः कृतः' । मेघवर्ण उवाच-'देव ! स्वामिकार्यार्थिना स्वप्रयोजनवशाद्वा किं न क्रियते ? पश्य ।

सिंहने कहा;-'भद्र ! हमारा प्राण जाय यह अच्छा, तथापि ऐसा कार्य हम नहीं करसकेंगे' । इसके उपरान्त शृगालके अपनी देहके देनेका प्रस्ताव करनेपर सिंहने उसकोभी अंगीकार न किया । फिर व्याघ्रने कहा;-'प्रभो ! तब हमारीही देह भक्षण करके प्राण धारण कीजिये'। सिंह बोला;-'यह कदापि कर्त्तव्य नहीं । उन लोगोंके ऐसा प्रस्ताव करनेपर जब सिंहने किसीका वध न किया ? तब चित्रकर्णके मनमें भी सम्पूर्ण विश्वास उत्पन्न हुआ । चित्रकर्णनेभी अपनी देहदान करनी चाही । व्याघ्रने उसीसमय उसका पेट फाडकर उसका संहार किया । और सबने उसको भक्षण किया । इसीलिये मैं कहताहूं कि;-'खलके वचनसे उत्तमकी बुद्धिभी चंचल होती है' । इत्यादि ॥ इसके उपरान्त वह ब्राह्मण तीसरे धूर्तके मुखसे वही वचन सुनकर निश्चय करता भया कि, मैंने ही धोखेसे कुत्तेको बकरा समझाहै । वह उसी समय बकरेको छोड स्नान कर अपने घरको गया । इस ओर धूर्त्तोंनेभी वह बकरा लेकर भोजन किया । इसीकारण मैं कहताहूं कि,-'अपने समान जो जानताहै' इत्यादि ॥ इसके उपरान्त राजा चित्रवर्णने पूछा,-'हे मेघवर्ण ! तैंने तो बहुत दिन शत्रुओंमे वास किया, फिर किस प्रकारसे शत्रुको भुलावा दिया ?' मेघवर्णने कहा;-'महाराज ! स्वामीका काय या अपना कार्य सिद्ध करनेको क्या नहीं कियाजाताहै ? देखिये !

लोको वहति किं राजन्न मूर्ध्ना दग्धुमिन्धनम् ।
क्षालयन्नपि वृक्षांघ्रिं नदीवेगो निकृन्तति ॥ ६४ ॥

लकडियोंको जलानेके लिये लोग शिरपर धरकर लेजातेहैं, वृक्षकी ज
धोतीहुई नदीकी धारा उस (वृक्ष) को उखाडदेती है (१) ॥ ६४ ॥

तथा चोक्तम्-

और वैसा कहाहै कि,-

स्कन्धेनापि वहेच्छत्रून्कार्यमासाद्य बुद्धिमान् ।
यथा वृद्धेन सर्पेण मण्डूका विनिपातिताः ॥ ६५ ॥

और कहाहै कि, बुद्धिमान् पुरुष अपने कार्यके निमित्त शत्रुको भी क
चढाय कर फिरता है । जैसे वृद्ध सापने मेडकोंको नष्ट किया ॥ ६५ ॥'

राजाह-'कथमेतत ?' मेववर्णः कथयति-

राजाने पूछा,-'यह किसप्रकार ?' मेववर्णने कहा-

कथा ११.

अस्ति जीर्णोद्याने मन्दविषो नाम सर्पः । सोऽतिजीर्ण याहारमप्यन्वेष्टुमक्षमः सरस्तीरे पतित्वा स्थितः । त दूरादेव केनचिन्मण्डूकेन दृष्टः पृष्टश्च-'किमिति त्वमाह नान्विष्यसि' । सर्पोऽवदत । 'गच्छ भद्र ! मम मन्दभाग्य वृत्तान्तप्रश्नेन किम् ?' । ततः सञ्जातकौतुकः स भेकः 'सर्व कथ्यताम्' इति तं सर्पमाह । सर्पोऽप्याह । 'भद्र ! अ ब्रह्मपुरे कौंडिन्यनाम्नः श्रोत्रियस्य विंशतिवर्षीयः पुत्रः स गुणसम्पन्नो दुर्दैवान्मया नृशंसेन दष्टः । ततस्तं पुत्रं सुशील जामानं मृतमालोक्य कौंडिन्यः शोकेन मूर्छितः पृथ्वीत लुलोठ । अनन्तरं ब्रह्मपुरवासिनः सर्वे बान्धवास्तत्रागत्य पविष्टाः ।

एक पुरानी वाटिकामें मन्दविपनामक एक सर्प था । वह जरासे ऐ
जीर्ण होगया था कि, वह अपना अहारतक नहीं खोजता था । वह एक ि

(१) नदीका स्रोत किनारेके वृक्षकी जडको पहले धोया करता है, फिर और
उस वृक्षको जडसे उखाड देताहै । इसकारण किसी शत्रुका नाश करने
पहले, जो उसके (शत्रुके) पैर धोने पडै या उसको कन्धेपर चढा
पडै; तो वह भी करना उचित है ।

ोवरके तीरपर पडा था कि, इतनेमें एक मेंडकने दूरसे देखकर उससे
। आहारको क्यों नही खोजते हैं?' सर्पने कहा,–'भद्र! तुम
अभागेका वृत्तान्त सुननेकी अब कुछ आवश्यता नहीं'। सर्पकी
मण्डूकके मनमें अत्यन्त कौतुक उत्पन्न हुआ। वह उस वृत्तान्तको
ेके लिये जिद करके सर्पसे बोला,–'आपको यह कहनाही पडैगा'।
।,–'श्रेष्ठ! इस ब्रह्मपुरमें कौंडिन्य नामक श्रोत्रियका बीस वर्षकी उम-
ुणसम्पन्न एक पुत्र था। मेरा अतिकुभाग्य था कि, मैने निठुरताके वश
ोत्रियके पुत्रको काटखाया। सुशीलनामक उस पुत्रको मृतक देखकर,
शोकसे मूर्छित होकर भूमिपर लोटनेलगा। इसके उपरान्त ब्रह्मपुर-
ाके बान्धवगण उसके निकट आयकर बोले–

ा चोक्तम्–
कहाभी है कि,–

उत्सवे व्यसने युद्धे दुर्भिक्षे शत्रुविग्रहे।
राजद्वारे श्मशाने च यस्तिष्ठति स बान्धवः॥ ६६॥

ुत्सवमें, विपदमें, दुर्भिक्षमें, शत्रुके साथ संग्राममें, राजद्वारमें, श्मशानमें,
थ रहता है वही बन्धु है॥ ६६॥

त्र कपिलो नाम स्नातकोऽवदत्–'अरे कौण्डिन्य! मूढो-
। येनैवं विलपसि। शृणु–

ुसके उपरान्त उसके उन सब बन्धुओंमें कपिल नामक एक स्नातक (१)
ाने कहा,–'कौंडिन्य! तुम अति अज्ञान हो; इसीसे ऐसा विलाप करते
। सुनो,–

(१) 'स्नातक' गुरुके गृहमें वेदाध्ययन करके गृहस्थाश्रममें प्रवेश करनेके पहले यथाविधानसे जो स्नानादि करना होताहै, उसको 'समावर्त्तन' कहतेहैं। जिस ब्राह्मणने वह समावर्त्तन कियाहै, वह 'स्नातक' कहाताहै। स्नातक तीन प्रकारके हैं,–विद्यास्नातक, व्रतस्नातक और विद्याव्रतस्नातक। गुरुगृहमें केवल वेद समाप्त करके और व्रत समाप्त न करके जो समावर्त्तन करताहै, उसको 'विद्यास्नातक' कहतेहैं। केवल व्रतको समाप्त करके वेद विनाही समाप्त किये जो समावर्त्तन करताहै, उसको 'व्रतस्नातक' कहतेहैं। वेद और व्रतको यथाविधिसे समाप्त करके जो समावर्त्तन करताहै, वह 'विद्याव्रतस्ना-

क्रोडीकरोति प्रथमं यथा जातमनित्यता।
धात्रीव जननी पश्चात्तथा शोकस्य कः क्रमः ॥ ६७

माताकरके गोदीमें लेनेसे पहले जैसे धात्री गोदीमें लेतीहै; ऐसेही र होनेमात्र सबको पहिले अनित्यता गोदीमें लेतीहै, पीछे माता इत्यादि गो लेतीहैं; फिर इसमें शोककी बात क्या है ? (१) ॥ ६७ ॥

क्व गताः पृथिवीपालाः ससैन्यबलवाहनाः।
वियोगसाक्षिणी येषां भूमिरद्यापि तिष्ठति ॥ ६८ ।

देखो !-सेना, सामन्त, वाहनसहित पृथ्वीपति लोग कहा गये हैं, ि लोगोकी वियोगकी गवाही देनेवाली पृथ्वी अवतक स्थित है ॥ ६८ ॥

प्रतिक्षणमयं कायः क्षीयमाणो न लक्ष्यते।
आमकुम्भ इवाम्भःस्थो विशीर्णः सन्विभाव्यते॥ ६९

यह शरीर प्रतिक्षणपर छीजताहुआ दिखाई नहीं देता, परन्तु जलमध्य आमकुम्भ (२) की समान गलकर नष्ट होजाता है ॥ ६९ ॥

तक' कहाजाताहै । यथाह हारीतः-"त्रयः स्नातका भवन्ति विद्यास्नातक व्रतस्नातको, विद्याव्रतस्नातकश्चेति । यः समाप्य वेदमसमाप्य व्रता समावर्त्तते स विद्यास्नातकः । यः समाप्य व्रतानि असमाप्य वेद समावर्त्त स व्रतस्नातकः । उभयं समाप्य समावर्त्तते यः स विद्याव्रतस्नातकः" । या वल्क्योऽप्याह,-"वेद व्रतानि वा पारं नीत्वा ह्युभयमेव वा" इति ।

(१) 'धात्री' अर्थात् धाई; जो बच्चेका और प्रसूतिका लालन पालन करती बच्चेके पैदा होते ही जैसे धाई उसको गोदीमें लेतीहै, वैसेही जीव जन्म लेतेही अनित्यता सबसे पहले अर्थात् मृत्यु उस जीवको अक लेतीहै, अर्थात् उसको अपने अधिकारमें गिनतीहै, पीछे उस जीवकी मा उसे गोदीमें लेतीहै "जातस्य हि ध्रुवो मृत्युः" जन्महोनेसे मृत्युका हो निश्चय जानना चाहिये ।

(२) 'आमकुम्भ' कचाघडा मट्टीका घडा जो पकाया नहीं गया, कचा घ जलमें डुबानेसे जैसेही वह प्रतिक्षण नजर न आयकर छीजता रहता है वैसेही यह असार शरीरभी मिनट२ सेकण्ड२ पल२ अदृश्यभावसे क्ष होताहै; अज्ञानी लोग इसका क्षय होना नहीं जानते वे तबहीं जानतेहैं कि जब एकवार ही नाश होताहै ।

आसन्नतरतामेति मृत्युर्जन्तोर्दिनेदिने।
आघातं नीयमानस्य वध्यस्येव पदेपदे ॥ ७० ॥

मारनेको लायेहुये पशुका पग २ पर काटना जिसप्रकार निकट आता- है, ऐसेही मृत्यु प्राणिके दिन २ निकट होता जाता है (१) ॥ ७० ॥

:-

कि,-

अनित्यं यौवनं रूपं जीवितं द्रव्यसंचयः।
ऐश्वर्यं प्रियसंवासो मुह्येत्तत्र न पण्डितः॥ ७१ ॥

यौवन, रूप, जीवन, धनसंचय, ऐश्वर्य्य, मित्रके साथ रहना ये सबही नित्य हैं, इसी हेतुसे ज्ञानवान् पुरुष इनमें मोहित नहीं होता ॥ ७१ ॥

यथा काष्ठं च काष्ठं च समेयातां महोदधौ।
समेत्य च व्यपेयातां तद्वद्भूतसमागमः॥ ७२ ॥

समुद्रमें अलग २ देशोंके दो काठोंका जिस प्रकार मिलन होजाता है, और मिलकर पृथक् होजाते हैं, इसी प्रकारसे प्राणियोंका समागम है॥ ७२ ॥

यथा हि पथिकः कश्चिच्छायामाश्रित्य तिष्ठति।
विश्रम्य च पुनर्गच्छेत्तद्वद्भूतसमागमः ॥ ७३ ॥

जैसे मार्गमें थकाहुआ पुरुष किसी वृक्षके छायामें ठहर शीतल हो, फिर सीसमय चलाजाताहै इसीप्रकारसे प्राणियोंका समागम है ॥ ७३ ॥

न्यच्च-

औरभी,-

पञ्चभिर्निर्मिते देहे पञ्चत्वं च पुनर्गते।
स्वां स्वां योनिमनुप्राप्ते तत्र का परिदेवना॥ ७४ ॥

---

(१) राजाकी आज्ञासे जिसको प्राणदंड दियाजाताहै, वह पुरुष शूल या फाँसीकी लकडीके निकटको जितने पग आगे बढेगा मृत्यु उसकी ओरको उतनाही बढेगा। इसीभांति एक २ करके जितने दिन जातेहैं; जीवका मृत्युकालभी जीवकी ओरको उतनाही बढता है।

पचभूत करके वनाहुआ जो शरीर है वह फिर पंचत्व पानेपर अपने २ कारणमे लीन होजाताहै, तिसमें शोक क्या ? (१) ॥ ७४ ॥

यावतः कुरुते जन्तुः संबन्धान्मनसः प्रियान् ।
तावन्तोऽपि निखन्यन्ते हृदये शोकशङ्कवः ॥ ७५ ॥

जीव जितना मनका प्रिय सम्बन्ध करताहै, उतनेही हृदयमें शोकके शङ्कु गडते जात हैं । (२) ॥ ७५ ॥

नायमत्यन्तसंवासो लभ्यते येन केनचित् ।
अपि स्वेन शरीरेण किमुतान्येन केनचित् ॥ ७६ ॥

ऐसा अत्यन्तही मेल जिस किसी पुरुषके साथ नहीं, वरन् अपनी देहके साथभी नही रहसक्ता फिर औरके सग तो क्या? ॥ ७६ ॥

अपि च-

औरभी,-

संयोगो हि वियोगस्य संसूचयति संभवम् ।
अनतिक्रमणीयस्य जन्म मृत्योरिवागमम् ॥ ७७ ॥

अपरिहार जन्म मृत्युका समागम जैसे अवश्यही होताहै, इसी प्रकारसे पुत्र मित्रादिका मिलन उन लोगोंसे वियोग अवश्य करताहै ॥ ७७ ॥

आपातरमणीयानां संयोगानां प्रियैः सह ।
अपथ्यानामिवान्नानां परिणामोऽतिदारुणः ॥ ७८ ॥

प्यारेके सहित प्रथमही सुखका देनेवाला जो मिलन है, उसका अत कठिन होताहै, जैसे कुपथ्य अन्नका परिणाम दारुण है (३) ॥ ७८ ॥

---

(१) क्षिति, जल, पावक, गगन, समीरा । पचरचित यह अधम शरीरा ॥ इनपाचोंको पाच भूत कहतेहैं, जीवदेह इन पंचभूतोंसे बनकर फिर इनमेंही लीन होजाता है । पचभूतका इसप्रकारसे मिलना और अलग होनाही ससारका नियम है, सो इसमे शोक क्या ?

(२) इस ससारमे जो पुरुष जितने पुरुषोंके साथ स्नेह करताहै वह अपने हृदयमें इतनेही शोकके भाले गाडताहै, अर्थात् उन प्यारोंके रोग, शोक, वियोग उसको बहुत सतावे हैं ।

(३) कुपथ्यके सेवन करनेसे प्रथम तो इन्द्रियोंको सुख होताहै, परन्तु पीछेसे पीडा पाय मरना होताहै, तैसेही पुत्रादिके प्रेमसे प्रथम सुख है, परन्तु अन्तमे उनहीके लिये प्राण जाते है ।

रं च-

भी,--

व्रजन्ति न निवर्तन्ते स्रोतांसि सरितां यथा।
आयुरादाय मर्त्यानां तथा रात्र्यहनी सदा ॥ ७९ ॥

ादियोके स्रोत जिस प्रकारसे वहजायकर फिर लौटकर नहीं आते, वैसेही
देन मनुष्योंकी परमायु ले जातेहैं, फिर लौटकर नहीं आते ॥ ७९ ॥

सुखास्वादपरो यस्तु संसारे सत्समागमः।
स वियोगावसानत्वाद्दुःखानां धुरि युज्यते ॥ ८० ॥

पृथ्वीमें सुखदायक जो उत्तम पुरुषके संग मिलना है, वह पीछे वियोगके
,से दु खसमूहका देनेवाला होताहै (१) ॥ ८० ॥

अत एव हि नेच्छन्ति साधवः सत्समागमम्।
यद्वियोगासिलूनस्य मनसो नास्ति भेषजम् ॥ ८१ ॥

इसीलिये उत्तम मनुष्यलोग साधुलोगोंके समागमकी वांछा नही करते,
ारण कि, उनके वियोगरूप खड्गसे कटाहुआ जो चित्त है, उसकी औषधि
हीं है (२) ॥ ८१ ॥

सुकृतान्यपि कर्माणि राजभिः सगरादिभिः।
अथ तान्येव कर्माणि ते चापि प्रलयं गताः ॥ ८२ ॥

सगर इत्यादि राजा लोगोंने कार्य अच्छे किये थे, अनन्तर वे समस्त क्रियायें,
और वे सब राजालोगभी विनाशको प्राप्त हुए हैं ॥ ८२ ॥

संचिन्त्यसंचिन्त्य तमुग्रदण्डं
मृत्युं मनुष्यस्य विचक्षणस्य।
वर्षाम्बुसिक्ता इव चर्मबन्धाः
सर्वे प्रयत्नाः शिथिलीभवन्ति ॥ ८३ ॥

(१) अर्थात् परम साधु मित्रके सगसे जितना आनन्द होता है, उसके वियोगमे उतनाही शोक होता है, इसीलिये कहावत है कि.-"जितना हँसोगे उतनाही रोओगे" "प्रियवियोगसम दुख जग नाहीं"।

(२) इस जगत्में सब शोक भुलादिये जाते है, परन्तु परम साधु मित्रका शोक किसी प्रकार नहीं भूलाजाता इसलिये ज्ञानी लोग साधुका सगभी नहीं करते "बिछुरत सत प्राण हरलेहीं"।

वर्षाके जलसे गीला होकर चर्मका बंधन जिसप्रकार शिथिल होजाताहै, वैसेही उस उग्रदण्डवाले यमका स्मरण करके साधुलोगोंके सर्व प्रयत्न शिथिल होजातेहैं ॥ ८३ ॥

यामेव रात्रिं प्रथमामुपैति
गर्भे निवासं नरवीर लोकः ।
ततः प्रभृत्यस्खलितप्रयाणः
स प्रत्यहं मृत्युसमीपमेति ॥ ८४ ॥

हे नरवीर ! जीव गर्भमे वास करके प्रथम रात्रिसे जो दुःख पाताहै त लेकर प्रतिदिन बेरोक चलताहुआ वह मृत्युके निकट जाताहै ॥ ८४ ॥

अतः संसारं विचारय। शोकोऽयमज्ञानस्य प्रपञ्चः। पश्य

और यही ससारका स्वभाव है, एकबार विचार करके देखो । देखते समझाओगे कि,-

अज्ञानं कारणं न स्याद्वियोगो यदि कारणम् ।
शोको दिनेषु गच्छत्सु वर्धतामपयाति किम् ॥ ८५ ॥

शोक केवल अज्ञानका ही प्रपञ्चमात्र है (१) क्योंकि, जो अज्ञान शोकः हेतु नहींहो, वियोगही कारण हो, तो अधिक दिन जानेपर शोक बढनेके बदले घटता क्यों है ? (२) ॥ ८५ ॥

तद्भद्रात्मानमनुसंधेहि । शोकचर्चां परिहर । यतः-

इसलिये भाई ! आत्मज्ञानको खोजो, शोककी चर्चा छोडो । कारण,-

अकाण्डपातजातानां गात्राणां मर्मभेदिनाम् ।
गाढशोकप्रहाराणामचिन्तैव महौषधम् ॥ ८६ ॥

---

(१) 'अज्ञानप्रपञ्च' मोहजाल । लोग जिस अज्ञानजालसे मोहित हो शोक किया करते है, उस मोहके परदेसे छूट जानेपर फिर शोकके वश होना नहीं पडता ।

(२) जो प्यारी वस्तुके साथ वियोग होनेहीको शोकका कारण कहाजाय, तो इस जगत्मे किसीके शोककी सीमा नहीं रहे, क्योंकि इस ससारमे पल २ भरके अन्दर किसी न किसी प्यारी वस्तुसे वियोग होताही है । इसलिये शोकका कारण वियोग नहीं, एक केवल अज्ञानही शोकका कारण है, क्योंकि सहस्र २ वियोगमे भी ब्रह्मज्ञानी लोग शोकके आधीन नहीं होते ।

विना बाणके लगनेसे उत्पन्न, और शरीरका मर्म भेदन करनेवाला ऐसा जो निविड शोकरूप अस्त्रका प्रहार है, उसकी चिन्ताका न करना ही उत्तम औषधि है ॥ ८६ ॥'

ततस्तद्वचनं निशम्य प्रबुद्ध इव कौण्डिन्य उत्थायाब्रवीत्—'तदलमिदानीं गृहनरकवासेन । वनमेव गच्छामि' । कपिलः पुनराह—

उसके ये समस्त वचन सुनकर कौंडिन्य कुछ चैतन्यसा हुआ इसके उपरान्त वह उठकर बोला,—'घोर नरककी समान इस गृहस्थाश्रममें रहनेसे फल क्या है ? मै गृह छोडकर वनमें जाताहूं' । यह सुनकर कपिलने फिर कहा,—

'वनेऽपि दोषाः प्रभवन्ति रागिणां
गृहेऽपि पञ्चेन्द्रियनिग्रहस्तपः ।
अकुत्सिते कर्मणि यः प्रवर्तते
निवृत्तरागस्य गृहं तपोवनम् ॥ ८७ ॥

'रागी पुरुषोको वनमेभी दोष उत्पन्न होताहै, घरमेभी पांच इन्द्रियोंको जो दमन करना है वही तप है । जो पुरुष निन्दारहित कार्यको करता है, उस वीतराग (१) पुरुषका घरही तपोवन है ॥ ८७ ॥

यतः—

कारण,—

दुःखितोऽपि चरेद्धर्मं यत्र कुत्राश्रमे रतः ।
समः सर्वेषु भूतेषु न लिङ्गं धर्मकारणम् ॥ ८८ ॥

सब प्राणियोंको समानदृष्टिसे देखनेवाला जो पुरुष है, वह चाहे जिस आश्रममे रहे दु खित होकरभी धर्माचरण करता है, क्योकि रक्तवस्त्र (लालवस्त्र) धारणादि रूप चिह्न पुण्यजनक नहीं है (२) ॥ ८८ ॥

उक्तं च—

कहाभी है कि,—

वृत्त्यर्थं भोजनं येषां संतानार्थं च मैथुनम् ।
वाक्सत्यवचनार्थाय दुर्गाण्यपि तरन्ति ते ॥ ८९ ॥

(१) 'वीतराग' जिसने संसारकी ममताको काट परमात्मामे चित्त लगाया ।

(२) आज कल तो यह चाल अधिक है कि,—"नारि मुई गृहसम्पति नाशी । मूंड मुंडाय भये संन्यासी" (तुलसीदासकृतरामायण)

प्राणधारण करनेके लिये, जिनका भोजन है, और संतानके लि जिनका स्त्रीसंसर्ग है, और यथार्थके लिये जिनका वचन है; वे लोग वि त्तिको तरजाते हैं ॥ ८९ ॥

तथाहि-

औरभी,-

आत्मा नदी संयमपुण्यतीर्था
सत्योदका शीलतटा दयोर्मिः ।
तत्राभिषेकं कुरु पाण्डुपुत्र !
न वारिणा शुध्यति चान्तरात्मा ॥ ९० ॥

(उसका प्रमाण कहतेहैं) आत्मा नदीस्वरूप है, इन्द्रियोंका जीतना पुण्य तीर्थस्वरूप है, शील किनारा है, दया तरंगस्वरूप है, हे युधिष्ठिर ! ऐ नदीमें स्नान करो; अन्तःकरण केवल जलसे स्वच्छ नहीं होता (१) ॥ ९०

विशेषतश्च,-

विशेष करके;-

जन्ममृत्युजराव्याधिवेदनाभिरुपद्रुतम् ।
संसारमिममुत्पन्नमसारं त्यजतः सुखम् ॥ ९१ ॥

जन्म, मृत्यु, जरा, रोग, व्यथा, भय इन सबसे पराजित असार संसारको जो त्यागकरताहै वही सुखी है ॥ ९१ ॥

यतः-

कारण,-

दुःखमेवास्ति न सुखं यस्मात्तदुपलक्ष्यते ।
दुःखार्तस्य प्रतीकारे सुखसंज्ञा विधीयते ॥ ९२ ॥'

दुःखही है सुख नहीं, क्योंकि यह उपलक्षित होताहै, दुःखका अनुभव जो नहीं करताहै उसकोही सुख कहते हैं ॥ ९२ ॥'

---

(१) इन्द्रियोंका जीतना उस आत्मारूप नदीका घाट है; अर्थात् उसमें प्रवेश करनेका मार्ग है । 'शील' पवित्रस्वभाव, उस नदीका तट अर्थात् पाट है । ('पाण्डुनन्दन' युधिष्ठिर ! यह उपदेश महाभारतके शान्तिपर्वमें भीष्मपितामहने युधिष्ठिरको दियाहै । उद्योग पर्वमें धृतराष्ट्रको विदुरजीनेभी ठीक ऐसाही समझाया है ।)

कौण्डिन्यो ब्रूते-'एवमेव'। ततोऽहं तेन शोकाकुलेन ब्राह्मणेन शप्तः-'यदद्यारभ्य मण्डूकानां वाहनं भविष्यसि' इति। कपिलो ब्रूते-'संप्रत्युपदेशासहिष्णुर्भवान्। शोकाविष्टं ते हृदयम्। तथापि कार्यं शृणु-

यह समस्त उपदेश सुनकर कौंडिन्यने कहा,-'हो ऐसाही है'। इसके उपरान्त उसने पुत्रके शोकसे अत्यन्त अधीर हो मुझको यह कहकर शाप दिया कि,-'तू आजसे मेडकोका वाहन होगा'। कपिलने कहा,-'तुम्हारा हृदय इस समय अत्यन्त शोकाकुल है, इस समय तुमको उपदेश देना वृथाहै, तथापि जो कर्तव्य है वह सुनो-

सङ्गः सर्वात्मना त्याज्यः स चेत्त्यक्तुं न शक्यते।
स सद्भिः सह कर्तव्यः सतां सङ्गो हि भेषजम् ॥९३॥

सर्वप्रकारकी आसक्ति त्याग कर दे, परन्तु उसका (आसक्तिका) त्याग करनेमें सामर्थ्य नहीं होता। इसलिये साधुपुरुषोंका संग करना उचित है, क्योंकि श्रेष्ठोका सगही औषधि है ॥ ९३ ॥

अन्यच्च-

औरभी,-

कामः सर्वात्मना हेयः स चेद्धातुं न शक्यते।
स्वभार्यां प्रति कर्तव्यः सैव तस्य हि भेषजम् ॥ ९४ ॥'

काम सदा त्यागकरनेके योग्य है, जो उसको त्याग करनेकी सामर्थ्य न हो, तो अपनी स्त्रीके साथ करै, क्योंकि यही उसकी औषधि है ॥ ९४ ॥'

एतच्छ्रुत्वा स कौण्डिन्यः कपिलोपदेशामृतप्रशान्तशोकानलो यथाविधि दण्डग्रहणं कृतवान्। अतोऽहं ब्राह्मणशापान्मण्डूकान्वोढुमत्र तिष्ठामि'। अनन्तरं तेन मण्डूकेन गत्वा मण्डूकनाथस्य जालपादनाम्नोऽग्रे तत्कथितम्। ततोऽसावागत्य मण्डूकनाथस्तस्य सर्पस्य पृष्ठमारूढवान्। स च सर्पस्तं पृष्ठे कृत्वा चित्रपदक्रमं बभ्राम। ततो परेद्युश्चलितुमसमर्थं तं मण्डूकनाथोऽवदत्-'किमद्य भवान्मन्दगतिः'। सर्पो ब्रूते-'देव! आहारविरहादसमर्थोऽस्मि'। मण्डूकनाथोऽवदत्-

'अस्मदाज्ञया मण्डूकान्भक्षय'। ततः 'गृहीतोऽयं महाप्रसादः' इत्युक्त्वा क्रमशो मण्डूकान्खादितवान्। अतो निर्मण्डूकं सरो विलोक्य मण्डूकनाथोऽपि तेन खादितः। अतोऽहं ब्रवीमि-'स्कन्धेनापि वहेच्छत्रून्' इत्यादि॥ 'देव! यात्विदानीं पुरावृत्ताख्यानकथनम्। सर्वथा संधेयोऽयं हिरण्यगर्भो राजा संधीयतामिति मे मतिः'। राजोवाच-'कोऽयं भवतो विचारः। यतो जितस्तावदयमस्माभिस्ततो यद्यस्मदाज्ञया सेवायां वसति तदास्तां नो चेद्विगृह्यताम्'। अत्रान्तरे जम्बूद्वीपादागत्य शुकेनोक्तम्-'देव! सिंहलद्वीपस्य सारसो राजा संप्रति जम्बूद्वीपमाक्रम्यावतिष्ठते'। राजा ससंभ्रमं ब्रूते-'किंकिम्'। शुकः पूर्वोक्तं कथयति। गृध्रः स्वगतमुवाच-'साधु रे चक्रवाक मन्त्रिन्! सर्वज्ञ! साधुसाधु'। राजा सकोपमाह-'आस्तां तावदयम्। गत्वा तमेव समूलमुन्मूलयामि'। दूरदर्शी विहस्याह-

कपिलका इसप्रकार उपदेशामृत पानकरके क्रम २ से कौंडिन्यकी शोकाग्नि शान्त हुई। उसने यथाविधिसे दंड ग्रहणकरके संसारका त्याग किया। तबसे मैं उस ब्रह्मशापसे मेड़कोंको पीठपर चढानेके लिये यहांपर स्थित होरहाहूं'। इसके उपरान्त उस मंडूकने मंडूकराज जालपादके निकट जाय उसे यह समाचार दिया। मंडूकराज यह समाचार पाय, वहां आय, उस सांपकी पीठपर चढा। सर्पभी उसको पीठपर चढाय, विचित्र चालकी चतुरता दिखाय विचरने लगा। दूसरे दिन मंडूकराजने सर्पको चलनेमे सामर्थ्यहीन देखकर कहा;-'आज तुम धीरे २ क्यों चलते हो?' सर्पने कहा,-'महाराज! अनाहारसे दुर्बल हुआहूं'। मंडूकराजने कहा, 'हमारी आज्ञासे तुम कई एक मंडूक खाओ'। 'आपका यह महाप्रसाद मैंने सिरपर धारण किया'। यह कहकर वह क्रमसे मंडूकोंको भक्षण करनेलगा। क्रमसे जब सरोवरके समस्त मेंडक चुकगये, तब उसने उस मंडूकराजकोभी भक्षण किया। इसीलिये मैं कहताहूं कि 'बुद्धिमान् पुरुष अपने कार्यके लिये शत्रुकोभी कंधेपर लेकर' इत्यादि। 'हे महाराज! इससमय इन सब पौराणिक कथाओंकी आलोचना रहे। राजा हिरण्यगर्भ सब प्रकारसे सन्धिका

ोग्य पात्र है; इसलिये हमारी सम्मतिमें तो उसके साथ सन्धि करनाही कर्त्तव्य ?'। राजा चित्रवर्णने कहा,-'आपका यह क्या विचार है ? हम लोगोंने जब कि, उसको पराजित कियाहै तब तो वह जो हमारी आज्ञाके अधीन हो हमारी सेवामें नियुक्त रहे, तबही वह रक्षा पावेगा, नही तो युद्ध करना होगा'। इसी अवसरमें जम्बूद्वीपसे शुकने आयकर समाचार दिया,-'महाराज ! सिंहलद्वीपका राजा सारस अब सेनासहित जम्बूद्वीपको घेरे पडाहुआहै'। यह सुनकर राजा घबडायकर बोला,-'क्या ! क्या !' तोतेनें फिर वैसाही कहा। गिद्ध मनही मन कहनेलगा,-'मंत्रिन् ! चक्रवाक! सर्वथा तुम्हारी बुद्धिकौशलको धन्य है २ !!' राजाने इस समाचारसे अत्यन्त क्रोधित होकर कहा,-'इस समय यह हिरण्यगर्भ रहै, पहले जायकर उस राजा सारसकोही उखाडू'। यह सुन मंत्री दूरदर्शीने हँसकर कहा,-

'न शरन्मेघवत्कार्यं वृथैव घनगर्जितम्।
परस्यार्थमनर्थं वा प्रकाशयति नो महान्॥ ९५॥

'शरत्कालके मेघकी समान निरर्थक गर्जन करना उचित नहीं, उत्तम पुरुष पराये कार्यको वा अकार्यको प्रकाश नहीं करता॥ ९५॥

अपरं च।

औरभी,-

एकदा न विगृह्णीयाद्बहून्राजाभिघातिनः।
सदर्पोऽप्युरगः कीटैर्बहुभिर्नाश्यते ध्रुवम्॥ ९६॥

एक कालमेंही राजा अनेक राजाओंके साथ विग्रह न करे, क्योंकि बलवान् सर्पभी बहुत सारे कीडोंकरके अवश्य नष्ट होताहै॥ ९६॥

देव ! किमिति विना संधानं गमनमस्ति। यतस्तदास्मत्पश्चात्प्रकोपोऽनेन कर्तव्यः। अपरं च-

महाराज ! विना सन्धि स्थापन किये इस स्थानसे जानेकी क्या सामर्थ्य है ? कारण कि, वैसा होनेसे ये शत्रुलोग हमारे पीछे चढ धावेंगे। और,-

योऽर्थतत्त्वमविज्ञाय क्रोधस्यैव वशं गतः।
स तथा तप्यते मूढो ब्राह्मणो नकुलाद्यथा॥ ९७॥'

जो पुरुष यथार्थ निरूपण न करके कोपके वश होताहै, वह पुरुष ऐसा संतापित होताहै, जैसा मूर्ख ब्राह्मण न्योलेसे व्याकुल हुवा था ॥ ९७ ॥'

राजाह-'कथमेतत् ?' दूरदर्शी कथयति-

राजाने पूछा;-'यह कैसे ?' दूरदर्शीने कहा-

कथा १२.

अस्त्युज्जयिन्यां माधवो नाम विप्रः । तस्य पत्नी ब्राह्मणं प्रसूता । बालापत्यस्य रक्षार्थं ब्राह्मणमवस्थाप्य स्नातुं गता अथ ब्राह्मणाय राज्ञः पार्वणश्राद्धं दातुमाह्वानमागतम् । तच्छ्रुत्व ब्राह्मणः सहजदारिद्र्यादचिन्तयत्-'यदि सत्वरं न गच्छामि तदान्यः कश्चिच्छ्रुत्वा श्राद्धं ग्रहीष्यति । यतः-

उज्जयिनी नगरीमें माधवनाम एक ब्राह्मण था । उसकी ब्राह्मणीने एक पु जना । एकदिन ब्राह्मणी शिशुसन्तानके रक्षणार्थ ब्राह्मणको घरमें रखक स्नान करने गई । उसी अवसरमे राजाके पार्व्वण श्राद्धका दान ग्रहण करनेके लिये इस ब्राह्मणको बुलवा आया । राजाका निमत्रण पाय ब्राह्मण अपनी दारिद्रताके हेतुसे मनही मन विचारताभया;-'जो शीघ्र नहीं जाऊ तो और कोई जायकर यह दान ग्रहण करलेगा । कहाभी है कि;-

आदानस्य प्रदानस्य कर्तव्यस्य च कर्मणः ।
क्षिप्रमक्रियमाणस्य कालः पिबति तद्रसम् ॥ ९८ ॥

धनादिका ग्रहण और दान, और अन्य २ कारणोपयुक्त कर्म इन सबको जो शीघ्र नहीं कियाजाय तो काल उनका रस पान करताहै (१) ॥ ९८ ॥

किं तु बालकस्यात्र कोऽपि रक्षको नास्ति। तत्किं करोमि। यातु । चिरकालपालितमिमं नकुलं पुत्रनिर्विशेषं बालकरक्षायां व्यवस्थाप्य गच्छामि' । तथा कृत्वा गतः । ततस्तेन नकुलेन बालकसमीपमागच्छन्कृष्णसर्पो दृष्टस्तं व्यापाद्य कोपात्खण्डं खण्डं कृत्वा खादितः । ततोऽसौ नकुलो ब्राह्मणमायान्तमवलोक्य रक्तविलिप्तमुखपादः सत्वरमुपागम्य

(१) अर्थात् लेन देनको साफ न करके उसमें जितनी देर की जायगी उतनी हानि है ।

च्चरणयोर्लुलोठ। ततः स विप्रस्तथाविधं तं दृष्ट्वा बालको-
नेन खादित इत्यवधार्य नकुलं व्यापादितवान्। अनन्तरं
यावदुपसृत्यापत्यं पश्यति ब्राह्मणस्तावद्बालकः सुस्थः सर्पश्च
व्यापादितस्तिष्ठति। ततस्तमुपकारकं नकुलं निरीक्ष्य भावि-
तचेताः स परं विषादमगमत्। अतोऽहं ब्रवीमि-'योऽर्थतत्त्व-
मविज्ञाय' इत्यादि॥

परन्तु यहांपर इस बालकका रक्षक कोई नहीं, इसलिये क्या करूं ? अपने इस न्योलेको हमने सदासे सन्तानकी समान पालन कियाहै. इसलिये इसकोही इस बालककी रक्षामें नियुक्त करके जाऊं'। इसके उपरान्त ब्राह्मण न्योलेको बालककी रक्षामे नियुक्त करके गया। कुछ देरके पीछे न्योलेने एक काला सांप उस बालकके धोरे आता देखकर उसे मार क्रोधसे उसके टुकडे २ कर खागया। इसके उपरान्त ब्राह्मणको लौटता हुआ देख यह न्योला रुधिरसे मुख और चरणमे सना उसके निकट दौडजायकर उसके चरणोमे लोटने लगा। ब्राह्मणने न्योलेका मुख और पैर रुधिरसे सने देख निश्चय किया कि, इसने हमारे बालक संतानको खायालिया है। उसने उसी समय उस न्योलेका प्राणसंहार किया। फिर जब जायकर देखा तो, बालक स्थिर हो सोरहाहै, और उसके निकट एक काला सांप टुकडे २ होकर मरा पडाहै, तब वह ब्राह्मण उपकारी न्योलेको देख व्याकुलचित्त हो दारुण संतापसे भस्म होनेलगा। इसीलिये मैं कहताहूं कि,-'यथार्थ निरूपण न करके' इत्यादि।

अपरं च-

औरभी,-

कामः क्रोधस्तथा मोहो लोभो मानो मदस्तथा।
षड्वर्गमुत्सृजेदेनमस्मिंस्त्यक्ते सुखी भवेत्॥ ९९॥'

काम, क्रोध, मद, मोह, लोभ, मात्सर्य इन छै वर्गको छोडदे इनके त्यागसे सुखी होताहै॥ ९९॥'

राजाह-'मंत्रिन्! एष ते निश्चयः'। मन्त्री ब्रूते-'एवमेव। यतः-

राजाने पूछा,-'मन्त्री! सधिकरनाही क्या आपने दृढ निश्चय कियाहै?' मन्त्रीने कहा,-'हा यही हमारा दृढ निश्चय है। कारण,-

स्मृतिश्च परमार्थेषु वितर्को ज्ञाननिश्चयः ।
दृढता मन्त्रगुप्तिश्च मन्त्रिणः परमो गुणः ॥ १०० ॥

उत्तम कार्यके विषयमें स्मरण, वितर्क, अवधारण, दृढता अर्थात् कर्त्तव्याकर्त्तव्यका निश्चय, और छिपकर मंत्रणा करना, ये सब सचिवके बडे गुण हैं ॥ १०० ॥

तथा च-

औरभी,-

सहसा विदधीत न क्रिया-
मविवेकः परमापदां पदम् ।
वृणुते हि विमृश्यकारिणं
गुणलुब्धाः स्वयमेव संपदः ॥ १०१ ॥

अकस्मात् कभी कार्य न करै, क्योंकि विवेचनासे हीन कार्य अत्यन्त विपदका स्थान है, और परामर्शपूर्वक कार्य करनेवालेको गुणलोभी सम्पत्तियां आपही प्राप्त होजातीहैं (१) ॥ १०१ ॥

तद्देव ! यदिदानीमस्मद्वचनं श्रूयते तत्संधाय गम्यताम् यतः-

इसकारण हे महाराज ! जो आप हमारी मंत्रणा सुने, तो सन्धि करके गमन कीजिये । कारण,-

यद्यप्युपायाश्चत्वारो निर्दिष्टाः साध्यसाधने ।
संख्यामात्रं फलं तेषां सिद्धिः साम्नि व्यवस्थिता ॥१०२॥'

कार्यके सिद्ध करनेमें यद्यपि चार उपाय कहे गये हैं, तथापि उनका फल केवल गिनतीको है, सिद्धि साम उपायमेंही स्थित है ॥ १०२ ॥'

राजाह-'कथमेवं सत्वरं संभवति ?' मन्त्री ब्रूते-'देव ! सत्वरं भविष्यति । यतः-

राजाने कहा,-'इतनी जलदी सन्धिका करना किसप्रकारसे सम्भव है ?' मंत्री बोला,-'महाराज ! शीघ्रही सन्धिको करादूंगा । कारण,-

(१) मूल श्लोक भारविकविप्रणीत किरातार्जुनीय काव्यके दूसरे सर्गमें है ।

मृद्घटवत्सुखभेद्यो दुस्संधानश्च दुर्जनो भवति ।
सुजनस्तु कनकघटवद्दुर्भेद्यश्चाशु संधेयः ॥ १०३ ॥

दुष्ट पुरुष मट्टीके बरतनकी समान है, जो कि सहजसेही टूटजाता है, और तेदुःखसे मेल करताहै, साधुपुरुष सुवर्णके पात्रकी समान है, कठिनतासे ता है, परन्तु शीघ्रतासे जुडजाताहै ॥ १०३ ॥

परं च-

रभी,-

अज्ञः सुखमाराध्यः सुखतरमाराध्यते विशेषज्ञः ।
ज्ञानलवदुर्विदग्धं ब्रह्मापि नरं न रञ्जयति ॥ १०४ ॥

अज्ञानी पुरुष सहजसेही उपासना करनेके योग्य होताहै, विशेषज्ञ पुरुष भी ति शीघ्र मिलालियाजाताहै । (परन्तु) जो बुद्धिका लेशमात्रसे दुराग्रहीहै, स मनुष्यको ब्रह्माभी अनुरागी नही करसकता (१) ॥ १०४ ॥

विशेषतश्चायं धर्मज्ञो राजा सर्वज्ञो मन्त्री च । ज्ञातमेत-मया पूर्वं मेघवर्णवचनात्तत्कृतकार्यसंदर्शनाच्च । यतः-

विशेषकरके यह राजा हिरण्यगर्भ अत्यन्त धार्मिक है, और उसका मन्त्रीभी भाँति ज्ञानसे विभूषितहै, हमने यह मेघवर्णकी वातोंसे पहलेही जानलियाहै, और उसका कर्म देखकरभी यह समझाहै । क्योंकि,-

कर्मानुमेयाः सर्वत्र परोक्षगुणवृत्तयः ।
तस्मात्परोक्षवृत्तीनां फलैः कर्मानुभाव्यते ॥ १०५ ॥'

सर्वत्र परोक्षमें कर्मके द्वारा गुणका अनुमान होताहै, इसी हेतुसे फलद्वारा कर्मका अनुभव कर्तव्य है (२) ॥ १०५ ॥'

---

(१) थोडी विद्या अति भयानक है, वरन् अज्ञान रहना अच्छा । अल्पविद्या तो केवल गर्वहीको बढाती है । इसलिये अल्प शिक्षित पुरुषको कोई नहीं समझाय सकता । "मूरखहृदय न चेत, जो गुरु मिलहिं विरंचिसम ।"

(२) जिस स्थानसे दूसरेके कार्यको देखनेकी सम्भावना नही हो, वहांपर फल देख-करही, उसके उस कार्यको समझले । इस कारण राजहसका भला होना मेघवर्णके प्रति उसके सरल व्यवहारसे ही पायाजाता है ।

राजाह-'अलमुत्तरोत्तरेण । यथाभिप्रेतमनुष्ठीयताम्' एतन्मन्त्रयित्वा गृध्रो महामन्त्री 'तत्र यथार्हं कर्तव्यम्' इ कृत्वा दुर्गाभ्यन्तरं चलितः । ततः प्रणिधिना बकेनागत्य रा हिरण्यगर्भस्य निवेदितम्-'देव ! संधिं कर्तुं महामन्त्री गृध्रे स्मत्समीपमागच्छति' । राजहंसो ब्रूते-'मन्त्रिन् ! पुनः स न्धिनाकेनचिदत्रागन्तव्यम्' । सर्वज्ञो विहस्याह-'देव ! न शङ्क स्पदमेतत् । यतोऽसौ महाशयो दूरदर्शी, अथवा स्थितिरि मन्दमतीनाम् । कदाचिच्छङ्कैव न क्रियते । कदाचित्सर्व शंका । तथा हि-

राजाने कहा;-'तव फिर प्रश्नोत्तरका प्रयोजन नहीं, आपकी जो इच्छा कीजिये' । इसप्रकार मंत्रणा कर महामन्त्री गिद्ध बोला,-'इस विषयमें जो कर्त है, करताहूँ' । यह कह गढके भीतर प्रवेश किया । इसओर उस गुप्तचर बग आयकर राजा हिरण्यगर्भको समाचार दिया,-'महाराज महामंत्री गिद्ध सं स्थापन करनेके लिये हमारे निकट आताहै' । राजहंसने कहा, 'जानपडताहै मेघवर्णकी समान कोई सबका नाश करनेके आशय कपटी बन्धु होकर आया यह सुन सर्वज्ञ मन्त्रीने हँसकर कहा,-'महाराज ! इसमें अब वैसी आशंका कीजिये, कारण कि, यह दूरदर्शी मन्त्री अति महात्मा है । अथवा थोडी बु वाले पुरुषोंका स्वभाव ही यह है कि, कभी तो एक बार भी शंका नहीं कर और कभी सबमेंही शंका करते हैं । देखिये,-

सरसि बहुशस्ताराच्छाये क्षणात्परिवञ्चितः
कुमुदविटपान्वेषी हंसो निशास्वविचक्षणः ।
न दशति पुनस्ताराशंकी दिवापि सितोत्पलं
कुहकचकितो लोकः सत्येऽप्यपायमपेक्षते ॥ १०६ ॥

बुद्धिमान् हंस कुमुद (बघुलाग) मृणालको ढूढते २ रात्रिके समय सरो रमें अनेक तारागणोंका प्रतिबिम्ब देखनेसे ठगाय, दिनके समयभी तारागणों शंकासे युक्त हो श्वेतकमलकोभी नही काटता, क्योंकि कपटसे ठगाहुआ पु यथार्थमेभी विपदकी शंका करताहै (१) ॥ १०६ ॥

(१) हंसगण कुमुद, और कमल फूलोंकी डंडियें खाया करते हैं ।

अपि च-

और देखो,-

> दुर्जनदूषितमनसः सुजनेष्वपि नास्ति विश्वासः ।
> बालः पायसदग्धो दध्यपि फूत्कृत्य भक्षयति ॥१०७॥

दुष्ट पुरुषकरके दूषित अन्तःकरणवाले पुरुषका सुजनमें भी विश्वास नहीं होता, दूधसे जलाहुआ जो बालक है, वह दहीकोही फूक २ कर खाताहै। कहावतहै कि, 'दूधका जलाहुआ छाछ फूक २ पीताहै' ॥ १०७ ॥

तद्देव ! यथाशक्ति तत्पूजार्थं रत्नोपहारादिसामग्री सुसज्जीक्रियताम्' । तथानुष्ठिते सति स गृध्रो मन्त्री दुर्गद्वाराच्चक्रवाकेणोपगम्य सत्कृत्यानीय राजदर्शनं कारितो दत्तासने चोपविष्टः। चक्रवाक उवाच-'युष्मदायत्तं सर्वम् । स्वेच्छयोपभुज्यतामिदं राज्यम्' । राजहंसो ब्रूते-'एवमेव' । दूरदर्शी कथयति-'एवमेवैतत् । किं त्विदानीं बहुप्रपञ्चवचनं निष्प्रयोजनम् । यतः-

इसलिये हे महाराज ! उस मन्त्रिश्रेष्ठका यथाविधिसे सन्मान करनेके लिये रत्नादि उपहारसामग्री यथासाध्य सजकर रक्खिये' । इसके उपरान्त उसके सत्कारके लिये समस्त तैयारियां हुई । चक्रवाक दुर्गके द्वारतक जाय, गिद्धमन्त्रीको आदरपूर्वक लेआय, राजाके सहित साक्षात् करादिया । राजाके दिये आसनपर गिद्धके बैठनेके पीछे चक्रवाकने कहा-'मन्त्रिन् ! इस स्थानमें सबकोही आप अपना समझे, यह राज्य आप इच्छानुसार भोगकरें' । राजा राजहंसने कहा,-'सत्यही यह समस्त आप अपनाही जानें' । दूरदर्शी गिद्ध बोला,-'इसमें फिर सन्देह क्या है ? किन्तु इससमय अधिक बातोंके आडम्बरका प्रयोजन नहीं है, कारण,-

> लुब्धमर्थेन गृह्णीयात्स्तब्धमञ्जलिकर्मणा ।
> मूर्खं छन्दानुरोधेन याथातथ्येन पण्डितम् ॥ १०८ ॥

लोभी पुरुषको धनसे, गर्वित पुरुषको हाथ जोडकर, मूर्खको छन्दसे, और पंडितको यथार्थ कहकर वश करे ॥ १०८ ॥

अन्यच्च-

औरभी,-

सद्भावेन हरेन्मित्रं संभ्रमेण तु बान्धवान् ।
स्त्रीभृत्यौ दानमानाभ्यां दाक्षिण्येनेतराञ्जनान् ॥१०

मित्रको प्रीतिसे, बान्धवको सन्मानसे, स्त्री सेवकको दानसे, और नीचपुरु सरलतासे वश करे ॥ १०९ ॥

तदिदानीं संधाय गम्यताम् । महाप्रतापश्चित्रवर्णो राज चक्रवाको ब्रूते-'यथा संधानं कार्यं तदप्युच्यताम्'। राजहं ब्रूते-'कति प्रकाराः संधीनां संभवन्ति'। गृध्रो ब्रूते-'कथया श्रूयताम् ।

इसलिये इससमय सन्धि स्थापन करके निस्तार प्राप्त कीजिये । कारण । महाराज ! चित्रवर्ण अति प्रतापशाली है'। चक्रवाकने कहा,-'जैसी सन्धि क हो उसकी आज्ञा कीजिये' । राजहंसने पूछा,-'सन्धि' के प्रकारकी है? गिद्ध बो कहताहू सुनो ।

बलीयसाभियुक्तस्तु नृपो नान्यप्रतिक्रियः ।
आपन्नः संधिमन्विच्छेत्कुर्वाणः कालयापनम् ॥ ११०

बलवान्करके अभियुक्त राजा, उसका प्रतिकारकरनेमें असमर्थ हो विपद काल बिताताहुआ सन्धि करनेकी चेष्टा करे ॥ ११० ॥

कपाल उपहारश्च संतानः संगतस्तथा ।
उपन्यासः प्रतीकारः संयोगः पुरुषान्तरः ॥ १११ ॥
अदृष्टनर आदिष्ट आत्मादिष्ट उपग्रहः ।
परिक्रयस्तथोच्छिन्नस्तथा च परभूषणः ॥ ११२ ॥
स्कन्धोपनेयः संधिश्च षोडशैते प्रकीर्तिताः ।
इति षोडशकं प्राहुः संधिं संधिविचक्षणाः ॥ ११३ ।

(१) कपाल, (२) उपहार, (३) सन्तान, (४) सगत, (५) उपन्यास, (६) प्रतीकार, (७) सयोग, (८) पुरुषान्तर, (९) अदृष्टनर, (१०) आदिष्ट, (११) आत्मादिष्ट, (१२) उपग्रह, (१३) परिक्रय, (१४) उच्छिन्न, (१५) परभूषण, (१६) स्कन्धोपनेय ये सोलह

प्रकारकी सन्धि हैं। सन्धितत्त्वके जाननेमें चतुर पंडित लोगोंने ये सोलहप्रकारकी सन्धि कहीहै ॥ १११ ॥ ११२ ॥ ११३ ॥

कपालसंधिर्विज्ञेयः केवलं समसंधितः।
संप्रदानाद्भवति य उपहारः स उच्यते ॥ ११४ ॥

केवल समानतासे जो मेल होता है उसको 'कपाल' सन्धि जानना चाहिये नादिसे जो सन्धि हो उसको 'उपहार' कहते है ॥ ११४ ॥

संतानसंधिर्विज्ञेयो दारिकादानपूर्वकः।
सद्भिस्तु संगतः संधिर्मैत्रीपूर्व उदाहृतः ॥ ११५ ॥

कन्यादि देकर जो मेल हो वह 'सन्तान' सन्धि और मित्रतापूर्वक जो सन्धि हो, उसको पंडित लोग 'संगत' संधि कहते हैं ॥ ११५ ॥

यावदायुःप्रमाणस्तु समानार्थप्रयोजनः।
संपत्तौ वा विपत्तौ वा कारणैर्यो न भिद्यते ॥ ११६ ॥

समस्त जीवनतक दोनोंही एकविषय, एक प्रयोजनसे संपत्तिमें या विपत्तिमें हो, या किसी कारणके होनेसे भी भिन्न नहीं होते ॥ ११६ ॥

संगतः संधिरेवायं प्रकृष्टत्वात्सुवर्णवत्।
तथान्यैः संधिकुशलैः काञ्चनः स उदाहृतः ॥ ११७ ॥

यह संगतसन्धि उत्तमताके हेतु करके सुवर्णकी समान है, इसलिये सन्धिके जाननेवाले पुरुष इसको 'काञ्चन' सन्धि कहते है ॥ ११७ ॥

आत्मकार्यस्य सिद्धिं तु समुद्दिश्य क्रियेत यः।
स उपन्यासकुशलैरुपन्यास उदाहृतः ॥ ११८ ॥

अपने कार्यकी सिद्धिका उद्देश्यकरके जो मेल कियाजाताहै, उसको उपन्यास-कुशललोग 'उपन्यास' सन्धि कहते है ॥ ११८ ॥

मयास्योपकृतं पूर्वं ममाप्येष करिष्यति।
इति यः क्रियते संधिः प्रतीकारः स उच्यते ॥ ११९ ॥

हमने पहले इसका उपकार कियाहै, यह हमाराभी उपकार करैगा इस अभिप्रायसे सन्धि करनेका नाम 'प्रतीकार' है ॥ ११९ ॥

उपकारं करोम्यस्य ममाप्येष करिष्यति।
अयं चापि प्रतीकारो रामसुग्रीवयोरिव ॥ १२० ॥

मैं इसका उपकार करताहूं, यह मेरा उपकार करेगा, यह जो 'प्रतीकार' सन्धि है, यह रामचन्द्रजी और सुग्रीवकी समान है (१)॥ १२० ॥

एकार्थां सम्यगुद्दिश्य क्रियां यत्र हि गच्छति ।
सुसंहितप्रमाणस्तु स च संयोग उच्यते ॥ १२१ ॥

जहांपर एक कार्यको उद्देश्यकरके उसके प्रमाणके सहित गमन कियाजाता इसको 'सयोग' सन्धि कहतेहैं ॥ १२१ ॥

आवयोर्योधमुख्यैस्तु मदर्थः साध्यतामिति ।
यस्मिन्पणस्तु क्रियते स संधिः पुरुषान्तरः ॥ १२२

हम दोनोंके मुख्य सेनापतिलोग हमारे कार्यको सावें, यह कहकर जिसमें कियाजाय, उस सन्धिका 'पुरुषान्तर' नाम है ॥ १२२ ॥

त्वयैकेन मदीयोऽर्थः संप्रसाध्यस्त्वसाविति ।
यत्र शत्रुः पणं कुर्यात्सोऽदृष्टपुरुषः स्मृतः ॥ १२३ ॥

केवल तुमसे हमारा यह कार्य सुसाध्य होगा, इसप्रकारका पण जिस स्था शत्रु करै, उसको 'अदृष्टपुरुष' सन्धि कहते हैं ॥ १२३ ॥

यत्र भूम्येकदेशेन पणेन रिपुरूर्जितः ।
संधीयते संधिविद्भिः स चादिष्ट उदाहृतः ॥ १२४

जहा शत्रुकरके छोडे हुए भूमिके एक देशके पणसे जो मेल होताहै उस 'आदिष्ट' सन्धि कहते हैं ॥ १२४ ॥

स्वसैन्येन तु संधानमात्मादिष्ट उदाहृतः ।
क्रियते प्राणरक्षार्थं सर्वदानादुपग्रहः ॥ १२५ ॥

अपनी सेनाके सहित शत्रुके सगनमें जो मेल करनाहै, उसको 'आत्मादि सन्धि कहते हैं । जीवनरक्षाके कारण, सर्वस्व देकर जो मेल करताहै, उस 'उपग्रह' सन्धि कहतेहैं ॥ १२५ ॥

---

(१) श्रीरामचद्रजी वालीका वध करके उससे राज्य ले सुग्रीवको देगे, अ सुग्रीवजीभी रावणके वधका उपाय करके सीताजीका उद्धारकर उ श्रीरामचद्रजीको देगे, दोनोंमे इसप्रकारसे पण होकर मित्रताई व थ हुई थीं; इस सन्धिका नाम 'प्रतीकार' है ।

कोशांशेनार्धकोशेन सर्वकोशेन वा पुनः।
शिष्टस्य प्रतिरक्षार्थं परिक्रय उदाहृतः॥ १२६॥

अवशिष्ट प्रकृतिकी रक्षाके लिये कोषके (खजानेके) कुछ सुवर्ण या चांदीके से, या आधे सुवर्ण चांदीके द्रव्यदेनेसे, अथवा समस्त चांदी सुवर्ण देनेसे जो कियाजाताहै, उसको 'परिक्रय' सन्धि कहतेहैं॥ १२६॥

भुवां सारवतीनां तु दानादुच्छिन्न उच्यते।
भूम्युत्थफलदानेन सर्वेण परभूषणः॥ १२७॥

उत्तम भूमिदान करनेसे जो सन्धि होती है, उसको 'उच्छिन्न' सन्धि कह-, भूमिके उत्पन्न हुए सब फलोंके दान करनेसे जो मेल होता है, उसका म 'परभूषण' है॥ १२७॥

परिच्छिन्नं फलं यत्र प्रतिस्कन्धेन दीयते।
स्कन्धोपनेयं तं प्राहुः संधिं संधिविचक्षणाः॥ १२८॥

जिस स्थानमें भूमिसे उत्पन्न हुए फलको गिन २ कर कंधेपर धर लेजाय तेहैं; सन्धि जाननेवाले पंडित लोग उसको 'स्कन्धोपनेय' सन्धि कहते हैं॥१२८॥

परस्परोपकारस्तु मैत्री संबन्धकस्तथा।
उपहारश्च विज्ञेयाश्चत्वारश्चैव संधयः॥ १२९॥

और परस्पर उपकार करना, मित्रता, सम्बन्ध व उपहार येभी (१) चार कारकी सन्धि होती है॥ १२९॥

एक एवोपहारस्तु संधिरेव मतो मम।
उपहारविभेदास्तु सर्वे मैत्रविवर्जिताः॥ १३०॥

हमारी सम्मतिमें तो उपहारही एक सन्धि है, क्योंकि उपहारके विना समस्त सन्धिही मित्रतारहित हैं॥ १३०॥

अभियोगी बलीयस्त्वादलब्ध्वा न निवर्तते।
उपहारं विना तस्मात्संधिरन्यो न विद्यते॥ १३१॥'

और अभियोगी अर्थात् वादी बलसे राज्य ग्रहण न करके नहीं लौटता; इसलिये उपहारके विना और प्रकारकी सन्धि नहीं है॥ १३१॥'

---

(१) ऊपर जो सोलह प्रकारकी सन्धि कही गई, वे मुख्यकरके चार भागोंमें विभक्त की जासकती हैं। यथा,-(१) परस्पर एक दूसरेका उपकार करनेको तयार होना। (२) परस्पर मित्रता स्थापन करना। (३) कन्यादानादिसे परस्पर वैवाहिक सम्बन्ध करना। (४) भूमि, धन इत्यादि दान करना। 'उपहार' अर्थात् प्रबल शत्रुको धनादि देकर उससे झगड़ा निबटाना।

राजाह—'भवन्तो महान्तः पण्डिताश्च । तदत्रास्माकं यथा कार्यमुपदिश्यताम्' ।

राजा राजहंस बोला,-'आप लोग परमपंडित हैं; इसकारण इस विषयमें हमको जो कुछ करना पडेगा आप उसका उपदेश कीजिये' ।

दूरदर्शी ब्रूते 'आः ! किमेवमुच्यते ।

दूरदर्शीने कहा—'आः ! क्या कहूं देखिये !

आधिव्याधिपरीतापादद्य श्वो वा विनाशिने ।
को हि नाम शरीराय धर्मापेतं समाचरेत् ॥ १३२ ॥

मानसिक पीडा, रोग और सन्तापके मारे आज या कलको नाश होनेवाला जो शरीर है, उसके कारण कौन पुरुष अधर्माचरण करेगा ? ॥ १३२ ॥

जलान्तश्चन्द्रचपलं जीवितं खलु देहिनाम् ।
तथाविधमिति ज्ञात्वा शश्वत्कल्याणमाचरेत् ॥ १३३

शरीरधारियोंका जीवित जलके बीच परछाईं पडे चन्द्रमाकी समान चंचल है यह निश्चय है, इस कारण ऐसा जानकर सदा पुण्यका आचरण करना योग्य है १३

वाताभ्रविभ्रममिदं वसुधाधिपत्यं
आपातमात्रमधुरो विषयोपभोगः ।
प्राणास्तृणाग्रजलबिन्दुसमा नराणां
धर्मः सखा परमहो परलोकयाने ॥ १३४ ॥

पवनके वेगसे बादल जिसप्रकार छिन्नभिन्न होजाते हैं, ऐसेही पृथ्वीका राज है और विषयका भोगभी थोडीही देरके लिये मधुर है, तिनकेकी नोकपर जलबिन्दुकी समान मनुष्योंके प्राण हैं, इससे केवल धर्मही परलोकके लिये परम सखा है ॥ १३४ ॥

मृगतृष्णासमं वीक्ष्य संसारं क्षणभङ्गुरम् ।
सज्जनैः सगतं कुर्याद्धर्माय च सुखाय च ॥ १३५ ॥

मृगतृष्णाकी समान संसारको क्षणविध्वंसी जानकर धर्मके कारण और सुखकेलिये साधुपुरुषोंका संग करे (१) ॥ १३५ ॥

(१) मृगतृष्णा' रेतीली भूमिमें मैदानोंमें तिरछी सूर्यकिरणोंके आन्दोलनसे दृष्टिभ्रम उत्पन्न होताहै, और सन्मुख नदी, तलैया, वन, उपवन, अटारियें इत्यादि ठीक जान पडतीहैं । पुरुष इस झूठे लोभसे मोहित हो धीरे२ उस ओरको बढताहै, और पीछेसे निराश व व्याकुल हो मृत्युके मुखमें पडताहै इस मायामय संसारका स्वभाव वैसाही है, अर्थात् पुरुष उसमें मोहित होकर पीछेसे नष्ट होताहै ।

तन्मम संमतेन तदेव क्रियताम्। यतः—

इसलिये हमारी समझमे तो वैसाही करना उचित है। कारण,—

अश्वमेधसहस्राणि सत्यं च तुलाया कृतम्।
अश्वमेधसहस्राद्धि सत्यमेवातिरिच्यते ॥ १३६ ॥

सहस्र अश्वमेध यज्ञ और सत्यवचन ये दोनो तराजूपर धरे हुए हैं, इन दोनोंमें स्र अश्वमेधसे सत्यही बढकर हुआ (१)॥ १३६ ॥

अतः सत्याभिधानदिव्यपुरःसरयोरप्यनयोर्भूपालयोः का-नाभिधानसंधिर्विधीयताम्'। सर्वज्ञो ब्रूते—'एवमस्तु'। तो राजहंसेन राज्ञा वस्त्रालङ्कारोपहारैः स मन्त्री दूर-र्शी पूजितः प्रहृष्टमनाश्चक्रवाकं गृहीत्वा राज्ञो मयूरस्य निधानं गतः। तत्र चित्रवर्णेन राज्ञा सर्वज्ञो गृध्रवचनाद्बहु-ानदानपुरःसरं संभावितस्तथाविधं संधिं स्वीकृत्य राजहं-समीपं प्रस्थापितः। दूरदर्शी ब्रूते—'देव! सिद्धं नः समी-हितम्। इदानीं स्वस्थानमेव विन्ध्याचलं व्यावृत्य प्रतिगम्य-ाम्। अथ सर्वे स्वस्थानं प्राप्य मनोऽभिलषितं फलं ाप्नुवन्तु' इति।

इसलिये उस सत्यकोही अगीकार करके इन दोनों राजाओंके बीच परस्पर ाञ्चन (२) नामक सन्धि स्थापित होवै'। सर्वज्ञ मत्रीने कहा,—'ऐसाही हो'। इसके उपरान्त बडे मोलके अलकार वस्त्र इत्यादि उपहारसे यथाविधि पूजित हो वह दूरदर्शी गिद्ध मत्री पुलकित चित्तसे चक्रवाक मत्रीको सग ले मयूर-राजाके समीप पहुचा। वहा मयूरराजनेभी गिद्धमत्रीके वचनसे उस सर्वज्ञनामक चक्रवाकके प्रति उचित सन्मान दिखाया। और उसके साथ यथोचित वार्त्तालाप करनेपर उस सन्धिमें सम्पूर्ण सम्मति दिखाय उसको विदा किया। तब दूरद-

(१) यह श्लोक महाभारतके आदिपर्वके बीच दुष्यन्तोपाख्यानमे अविकल है, वाल्मीकिरामायणके अयोध्या काण्डके मध्य कौशिल्याजीके विलापमें इस प्रकारसे है। यथा,—"श्लोकश्चायं महाराज! पौराणः प्रथितः क्षितौ। सत्य पुरा तुल्यता स्वय गीतः स्वयम्भुवा ॥ अश्वमेधसहस्र च सत्य च तुलया धृतम्। तुलयित्वा तु पश्यामि सत्यमेवातिरिच्यते ॥" हे महाराज! यह पौराणिक श्लोकभी जगत्में प्रसिद्ध है, पूर्वकालमे स्वय ब्रह्माजीने सत्यको तराजूपर धरकर यह श्लोक गाया था, कि हमने सहस्र अश्वमेध और एक सत्य, तराजूकी डडीपर तोला, तो सहस्र अश्वमेधसे सत्यही भारी हुआ।

(२) 'काञ्चन नामक' सन्धि,—पूर्ववर्त्ती ११५। ११६। ११७ श्लोक देख

र्मोने कहा,-'महाराज ! हम लोगोका अभिलाष पूर्ण हुआ, अब चलिये, अपने देश विन्ध्याचलको फिर चले इसके पीछे सबही अपने देशमें पहुचकर अभिलषित फलको प्राप्त होवें' ।

विष्णुशर्मणोक्तम्-'अपरं किं कथयामि कथ्यताम्' राजपुत्रा ऊचुः-'आर्य्य! तव प्रसादाद्राज्यव्यवहाराङ्गं ज्ञात ततः सुखिनो वयम्'। विष्णुशर्मोवाच-'यद्यप्येवम् । तथा परमपीदमस्तु-

विष्णुशर्म्माने कहा,-'और क्या कहू वह कहिये' । राजपुत्रोंने कहा,-'आ हमलोग आपके प्रसादसे राजनीतिके सब अगही जान गये' । विष्णुशर्माने क 'यद्यपि ऐसा है तोभी हम यह आशिर्वाद करते हैं कि,-

संधिः सर्वमहीभुजां विजयिनामस्तु प्रमोदः सदा
सन्तः सन्तु निरापदः सुकृतिनां कीर्तिश्चिरं वर्धता
नीतिर्वारविलासिनीव सततं वक्षःस्थले संस्थिता
वक्त्रं चुम्बतु मन्त्रिणामहरहर्भूयान्महानुत्सवः ॥१३७॥

इति विष्णुशर्मविरचिते हितोपदेशे संधिर्नाम चतुर्थः कथासंग्रहः सम्पूर्णः ।

सब राजा सदा परस्पर एका रक्खें, विनयशाली पुरुषोंको प्रतिक्षणपर आमो हो, सज्जन आपत्तिरहित हों और सुकृतिमान् लोगोंकी कीर्ति उत्तरोत्तर बढ़े वाराङ्गनाकी समान नीति सदा छातीसे लगीरहकर मंत्री लोगोंका मुख चूमे इस प्रकारसे प्रतिदिन महोत्सव हो ॥ १३७ ॥'

हितोपदेशमें सन्धिनामक चौथी कथाका संग्रह समाप्त हुवा ।

दोहा-श्रावणकृष्णातृतिया, निशानाथको वार ।
उन्निससे पंचासशुभ, संवत लेहु विचार ॥
व्रजभूषन शंकरसुवन, गौरि गिरीश मनाय ।
मैं याकी भाषा करी, जाहि पढे भ्रमजाय ॥
मातपिता वंदन करौं, भ्रातहि नायौं माथ ।
जानि आपनो दास सब, कीजे मोहि सनाथ ॥
मुरलीवारे नन्दसुत, गोपसुतनचितचोर ।
द्विज बलदेवप्रसादपै, करहु कृपाकी कोर ॥

भाषाटीकासमेत हितोपदेश समाप्त ।

हितोपदेशके उपदेश।

कुछ एक कुमार्गपर चलनेवाले राजपुत्रोंके उपलक्ष्यसे विष्णुशर्माजीने समानभावसे सर्वसाधारणको ये उपदेश दिये हैं। मनुष्य और कीटानुकीट, ब्राह्मण और चण्डाल, पृथ्वीश्वर और अकिञ्चन सबकोही उन्होने समभावसे देखा है। सूर्यनारायण उदयाचलपर प्रकाशित होकर पवित्र बालातपसे जिसप्रकार समस्त जगतको पुलकित करतेहैं; वैसेही उन्होने (विष्णुशर्माने) राजभवनकी छत्तपर बैठकर (१) समस्त जगत्को पुलकित कियाहै।

इस जगह उनके कुछ उपदेशोंका मर्म कथाओंसे अलग करके दिखातेहैं।

१—हाथमे राजशक्ति पाकर जो पुरुष उस शक्तिको बुरी भाँतिसे काममे लावेगा, वह मानो अपने हाथसे राजलक्ष्मीको त्यागेगा। देखो विग्रहमें श्लोक,– ११९।

२—असीम समुद्रकी समान सामने संकटयुक्त अतिविशाल कर्मक्षेत्र फैल रहाहै। अर्ज्जुन जिसप्रकार कृष्णजीको सारथी बनाय और अक्षय तूण व अजय गाण्डीव धारण करके समरसागरके पार हुएथे, वैसेही तुम लोगभी धर्मको सहाय करके और अटल कार्यपरायणता व अनुपम उद्योग धारण करके इस कर्मसागरके पार हो जाओ। भाग्यके ऊपर भरोसा रखके अपने अस्तित्वको लोप न करो। भाग्यभी पुरुषकार (२) के न होनेसे फलदाई नहीं होता। इसलिये पुरुषकारही मनुष्यकी एकमात्र गति है। देखो हितोपदेशके अवतरणिकाके श्लोक,–३०। ३१। ३२। ३४। ३५। ३६। और मित्रलाभका श्लोक–१९८।

---

(१) अथ प्रासादपृष्ठे सुखोपविष्टाना राजपुत्राणा पुरस्तात् प्रस्तावक्रमेण स पण्डितोऽब्रवीत्–"भो राजपुत्रा शृणुत" अनन्तर वे राजपुत्र लोग जब प्रासादके तले सुखसे बैठगये, तब वह पण्डित विष्णुशर्मा प्रसङ्गके क्रमसे कहनेलगे। हे राजपुत्रगण! श्रवण करो! यह कहकर उन्होने कथाका आरम्भ किया। (हितोपदेशकी अवतरणिकाका शेष देखो)।

(२) 'पुरुषकार' मनुष्यकी स्वकीय चेष्टा।

३–आत्माकी उन्नति वा अवनति सवही अपने वश है । अपनेही कर्म
गुणसे उन्नति और अपनेही कर्मदोषसे अवनति हुवा करतीहै । देखो सुहृ
श्लोक;– ४९ ।

" श्रेयांसि बहुविघ्नानि " उन्नतिके मार्गमें अनेक विघ्न है । इसकारण ए
ग्रचित्त होकर विचार करने और कठोरसाधनाके अतिरिक्त कभी उन्नति
होती । परन्तु घटतीका मार्ग साफ है, जरा असावधानी करली कि, घटती हु
देखो सुहृद्भेद श्लोक,– ४४ ।

४–चित्तमें स्थिरता रखना सम्पूर्ण सिद्धियोंका मूल है । सिद्धिमें आपकी सम
और दूसरा विघ्न नहीं है, । शत्रुकी उकमाहटसे चित्तमें तेजीके आतेही विच
शक्ति जाती रहतीहै, और किंचित् मिस पातेही चित्त छिन्न भिन्न होजाता
देखो सुहृद्भेद श्लोक,–४८ ।

५–किसी कार्यमे उद्योग करतेही फल प्राप्त करनेको तैयार न होजाओ
यथाकालमे यथोचित उद्योग करनेपर समयानुसार उसका फल अवश्यही फले
फलका अवसर आनेपर उसको कोई नहीं रोकसकेगा । और असमयमें उस
कोई देभी नहीं सकेगा । देखो विग्रहमें श्लोक,–४६ ।

६–केवल एक सरलतासे गुणका सद्व्यवहार होताहै । खलके हाथमे गु
पडनेसे उस गुणकी इतनी दुर्गति होती है कि, जिसकी सीमा नहीं । उस
सुफल न फलकर प्रायः कुफलही फला करताहै । देखो विग्रह श्लोक,–४ मि
लाभ श्लोक,–९० और फिर विग्रह श्लोक,–८२ ।

७–जिसपर ज्ञान है, अनुष्ठान नहीं, धन है, दान भोग नहीं, बल है, शत्रु
रोकनेका साहस नहीं, आत्मा है, इन्द्रियसंयम नहीं. उसका वह ज्ञान, वह ध
वह बल, वह आत्मा न होनेकी बराबर है । देखो मित्रलाभ श्लोक,–१७।१६९
१८० । १८१ ।

८–पूजनीय पुरुषकी पूजा करना कदापि मत भूलो । क्योंकि, योग्य पुरुष
पूजा न करनेसे मंगलका मार्ग बंद होजाताहै । इस जगत्मे केवल चारित्रही पू
है । इसलिये जाति, कुल वा सम्बन्धकी ओर दृष्टि न करके अन्तःकरणसे चा
हीकी पूजा करो । देखो मित्रलाभ श्लोक,– ९९ ।

९–स्वजातिकी उन्नति स्वजातिकी एकताके ऊपर प्रतिष्ठित होतीहै । ज
इस एकताके मूलसूत्रको तोडतेहैं, वे मानो विदेशीय शत्रुको अपने देश

जुलातेहैं । विना छिद्र पाये बाहरका शत्रु गृहके भीतर प्रवेश नहीं करसकता । (१) जन्मभूमिकी सब सन्तान यदि एकप्राण होजाय, सब भ्राता यदि एकमत करले तब किसकी सामर्थ्य है जो जातिको उजाडकरै (२) देखो सन्धि श्लोक;–३० ।

जो जाति पराधीन है, उस जातिको मानो शाप लगाहुआ है । इसकारण जातिके छोटेसे छोटेको नगराय समझकर त्याग न करे (३) सद्भाव और एकताका एक परमाणुभी खसका कि हानि हुई । देखो मित्रलाभ श्लोक,–३५।३६

---

(१) इसीलिये शास्त्रमे घरका भेद छिपानेकी व्यवस्था है ।
"आयुर्वित्त गृहच्छिद्र मन्त्रमैथुनभेषजम् । तपो दानापमान च नव गोप्यानि यत्नतः।"
(मि. ला. श्लो०. १३८)

(२) हितोपदेशके मूलग्रन्थ पचतंत्रके तीसरे तंत्रमे इस प्रकारसे है ।

"लघूनामपि सश्लेपो रक्षायै भवति ध्रुवम् ।
महानप्येकजो वृक्षो बलवान्सुप्रतिष्ठितः ॥
सुमन्देनापि वातेन शक्यो धूनयितु यतः ।
एव मनुष्यमप्येक शौर्य्येणापि समन्वितम् ॥
शक्य द्विषन्तो मन्यन्ते हिंसति च ततः परम् ।
बलिनापि न बाध्यन्ते लघवोऽप्येकसश्रयात् ॥
प्रभञ्जनविपक्षेण यथैकस्था महीरुहाः ॥"

एकताके गुणसे दुर्बलभी प्राणरक्षा करसकताहै, देखो वृक्ष यदि सघन न लगे होकर दूर २ पर लगेहो, तो जिसप्रकार अल्पपवन उनको कम्पाय देताहै, वैसेही बलवान् जातिमे जो ऐक्यताका बन्धन न हो तो साधारण शत्रुभी उसको पराजित करसकताहै । और छोटे २ वृक्षोंकेभी जिसप्रकार परस्पर मजबूत सटे रहनेपर प्रबलपवनभी उनको बाधा नही देसकती, वैसेही दुर्बल जातिके मिलजानेपर बलवान् शत्रुभी उनको बाधा नहीं देसकता ।

(३) सद्भावकी व्याख्या–

'विश्वेषा हृदयाना यदक्षय्य परिबन्धनम् । एकब्रह्ममहासूत्रेणैष सद्भाव ईरित' ॥ १ ॥
प्रीतिर्नो वर्द्धता नित्य वयं सर्वे सहोदरा' । इति मैत्रीमयी बुद्धिः सद्भावादुपजायते ॥२॥
मैत्री बुद्धेर्महाशक्तिरनन्ता जायतेऽनया।महाशक्तिमयो लोकः प्रलयेऽपि न लीयते॥३॥"

एक-ब्रह्मरूप महासूत्रसे समस्त विश्ववासीके हृदयमडलमे जो अक्षय बन्धन है, उसहीका नाम 'सद्भाव' है ॥ १ ॥ नित्यही हमलोगोमे प्रीति बढे, हम सबही

१०-धनके गुणागुणव्यवहारके ऊपर निर्भर करते हैं। कंजूसताईमें धनका अस्तित्व नहीं रहता (१) फजूल खर्चीमें यह विषकी समान, और सद्व्यय अमृतकी समान कार्य करता है। हाथमें बहुत सम्पत्ति पायकर एक कौडीभी बेपरवाहीसे न फेको। जब एक कौडीको अपव्यय करना चाहो तो विचार लो कि, एककौडीसेभी एक दरिद्र प्राणीको कुछ लाभ पहुंचसकता है । और भले कार्यमें सर्वस्व देनेसेभी मुह न मोडो। देखो विग्रह श्लोक,-२६ ।

११-धान्यही श्रेष्ठ धन है। धान्यही राजाकी राज्यलक्ष्मी और प्रजाकी प्राणवायु है। जिस देशके घर२ में धान्य इकट्ठा रहता है, वह देश अकाल या किसी विपदसे सहसा उजाड नहीं होता। इसकारण राजाको अपने राज्यमें धान्य बहुत एकत्र रखना चाहिये (२) देखो विग्रह श्लोकः-५८ ।

१२-इस संसारमें जिसको किसी बातकी कमी नहीं है, वही यथार्थ ऐश्वर्य्यवान् और स्वाधीन है। जो तुम तृष्णाको नहीं जीतसके, तो समस्त वसुधाकी सम्पत्तिभी तुम्हारे हाथ आजाय तोभी तुम्हारी समान दरिद्र दूसरा नहीं, और समस्त भूमंडल आधीनता मानले तोभी तुम्हारी समान पराधीन दूसरा न होगा। जिसने तृष्णाको जीतलिया है, वही जगत्के सिंहासनपर स्वाधीन राजा है,

---

एक माताकी सन्तान है, यह मैत्रीमयी बुद्धि सद्भावसे उत्पन्न होती है ॥ २ ॥ मैत्रीमयी बुद्धिसे अनन्त और अक्षय महाशक्ति उत्पन्न होतीहै, जो मनुष्यजाति उस महाशक्तिके बलसे बलवान्है उसका लोप महाप्रलयमेंभी नहीं है ॥ ३ ॥

(१) मित्रलाभ श्लोक,- १६३ । १६४ । १६५ । १६६ । १६७ । १६८ । १६९ । १७० । १७१ । १७२ । १७३ । १७४ । देखो । १६९ श्लोक यथा.-

दानोपभोगहीनेन धनेन धनिनो यदि । पृथ्वीग्वातनिग्वातेन धनेन धनिनो वयम् ॥

(२) अति प्राचीनकालसे धान्यही इस देशमे सर्व साधारणका सर्व प्रधान खाद्य है। इसलिये धान्यकाही विषय कहागया है। विदेशीयलोग "धान्य"-शब्दसे अपने २ देशमें सर्वसाधारणका सर्व प्रधान खाद्य समझें ।

: संसारके लुभावको तिनकेकी समान समझ सब जगत्में निडर हो घूमताहै। (१) उसने मृत्युलोकमें अपने लिये स्वर्गका सिंहासन स्थापित किया है (२) और जिसने उस तृष्णाको आश्रय दियाहै, उसने जीवनभरके लिये दरिद्रता और दासताका बोझा अपने माथेपर उठाया। देखो मित्रलाभ श्लोक,–१४९। १५०। १५१। १५२। १५३। १५४। १५५। १५६।

१३–धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष इन चारो वर्गोंके लिये सर्वप्रयत्नसे आत्माकी रक्षा करै। देखो मित्रलाभ श्लोकः–४४

परन्तु जो परोपकारके लिये प्राणभी छोडना पडे तो उसमे विचारी सोच न करे। जान रक्खे कि, केवल परोपकारसे चतुर्वर्गके फल मिलते हैं। अनित्य और अपवित्र देहके बदले जिसके भाग्यमें नित्य और निर्मल यश प्राप्त होवे उसकी समान भाग्यवान् और कौन है? देखो मित्रलाभ श्लोकः–४५। ४९। और विग्रह श्लोकः–१४५।

१४–पुण्यमय गंगाजीके जलमें स्नान करनेसे देह और मन पुलकित होताहै, साधुसंगसे चरित्र पवित्र होताहै, और ईश्वरभक्तिसे आत्माके पाप धुलजातेहैं। इसलिये गंगास्नान, साधुसंग और नारायणमें भक्ति, इन तीनोको असार संसारमें सार जानो (३) देखो मित्रलाभ श्लोक.–१६२।

१५–मनुष्योंमे जितनी शुद्धि है उनमे भावशुद्धि ही यथार्थ शुद्धि है (४) और तीर्थोंमें स्नान करनेसे देह स्वच्छ होताहै परन्तु आत्मारूप महातीर्थमें विना स्नान किये अन्तरात्मा निर्मल नहीं होता। देखो सन्धिश्लोकः–३०।

---

(१) "तृणं ब्रह्मविद. स्वर्गस्तृणं शूरस्य जीवितम्। जिताक्षस्य तृणं नारी निस्पृहस्य तृणं जगत्॥" ब्रह्मज्ञानीको स्वर्ग तिनकेकी तुल्य है, वीरको जीवन तिनकेको नाई है, जितेन्द्रियके निकट नारी तृणवत् है, और निस्पृहके निकट जगत् तृणतुल्य है। वृद्धचाणक्य।

(२) ४० सख्यक चाणक्यका श्लोक देखो–
" अभावे सति सन्तोष· स्वर्गस्थोऽसो महीतले।"

(३) शारीरिक, मानसिक, और आध्यात्मिक समान भावसे यह तीन प्रकारकी शिक्षाही मनुष्यकी पूर्ण शिक्षा हैं। इन तीन सारवस्तुओंसे उस पूर्ण शिक्षाको बतायागया।

(४) शुद्धि दोप्रकारकी है,–बाह्यशुद्धि और भावशुद्धि, गोवर जलादिसे बाह्यशुद्धि होती है, सत्य, दमन, दया, शील और भक्तिसे आत्माकी शुद्धिको भावशुद्धि कहते है।

१०–धनके गुणागुणव्यवहारके ऊपर निर्भर करते हैं। कजूसताईमें धनका अस्तित्व नहीं रहता (१) फजूल खर्चीमे यह विषकी समान, और सद्व्यय अमृतकी समान कार्य करता है। हाथमें बहुत सम्पत्ति पायकर एक कौडीभी बेपरवाहीसे न फेको। जब एक कौडीको अपव्यय करना चाहो तो विचार लो कि, एककौडीसेभी एक दरिद्र प्राणीको कुछ लाभ पहुचसकता है। और भले कार्यमें सर्वस्व देनेसेभी मुह न मोडो। देखो विग्रह श्लोक,–२६।

११–धान्यही श्रेष्ठ धन है। धान्यही राजाकी राज्यलक्ष्मी और प्रजाकी प्राणवायु है। जिस देशके घर२ में धान्य इकट्ठा रहता है, वह देश अकाल या किसी विपदसे सहसा उजाड नहीं होता। इसकारण राजाको अपने राज्यमें धान्य बहुत एकत्र रखना चाहिये (२) देखो विग्रह श्लोकः–९८।

१२–इस ससारमें जिसको किसी बातकी कमी नहीं है, वही यथार्थ ऐश्वर्य्यवान् और स्वाधीन है। जो तुम तृष्णाको नहीं जीतसके, तो समस्त वसुधाकी सम्पत्तिभी तुम्हारे हाथ आजाय तोभी तुम्हारी समान दरिद्र दूसरा नहीं, और समस्त भूमंडल आधीनता मानले तोभी तुम्हारी समान पराधीन दूसरा न होगा। जिसने तृष्णाका जीतलिया है, वही जगत्के सिंहासनपर स्वाधीन राजा है,

---

एक माताकी सन्तान है, यह मैत्रीमयी बुद्धि सद्भावसे उत्पन्न होती है ॥ २ ॥ मैत्रीमयी बुद्धिसे अनन्त और अक्षय महाशक्ति उत्पन्न होतीहै, जो मनुष्यजाति उस महाशक्तिके बलसे बलवान्है उसका लोप महाप्रलयमेभी नहीं है ॥ ३ ॥

(१) मित्रलाभ श्लोक,– १६३। १६४। १६५। १६६। १६७। १६८। १६९। १७०। १७१। १७२। १७३। १७४। देखो। १६९ श्लोक यथाः–

दानोपभोगहीनेन धनेन धनिनो यदि। पृथ्वीग्वातनिखातेन धनेन धनिनो वयम् ॥

(२) अति प्राचीनकालसे धान्यही इस देशमे सर्व साधारणका सर्व प्रधान खाद्य है। इसलिये धान्यकाही विषय कहागया है। विदेशीयलोग "धान्य"–शब्दसे अपने २ देशमें सर्वसाधारणका सर्व प्रधान खाद्य समझें।

वह ससारके लुभावको तिनकेकी समान समझ सब जगत्में निडर हो घूमताहै। (१) उसने मृत्युलोकमें अपने लिये स्वर्गका सिहासन स्थापित किया है (२) और जिसने उस तृष्णाको आश्रय दियाहै, उसने जीवनभरके लिये दारिद्रता और दासताका बोझा अपने माथेपर उठाया। देखो मित्रलाभ श्लोक,—१४९। १५०। १५१। १५२। १५३। १५४। १५५। १५६।

१३—धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष इन चारो वर्गोंके लिये सर्वप्रयत्नसे आत्माकी रक्षा करे। देखो मित्रलाभ श्लोक:—४४

परन्तु जो परोपकारके लिये प्राणभी छोडना पडे तो उसमें विचारी सोच न करे। जान रक्खे कि, केवल परोपकारसे चतुर्वर्गके फल मिलते हैं। अनित्य और अपवित्र देहके बदले जिसके भाग्यमें नित्य और निर्मल यश प्राप्त होवै उसकी समान भाग्यवान् और कौन है? देखो मित्रलाभ श्लोक:—४५। ४९। और विग्रह श्लोक:—१४९।

१४—पुण्यमय गगाजीके जलमें स्नान करनेसे देह और मन पुलकित होताहै, साधुसगसे चरित्र पवित्र होताहै, और ईश्वरभक्तिसे आत्माके पाप धुलजातेहैं। इसलिये गगास्नान, साधुसग और नारायणमें भक्ति, इन तीनोको असार संसारमें सार जानो (३) देखो मित्रलाभ श्लोक—१६२।

१५—मनुष्योंमे जितनी शुद्धि है उनमे भावशुद्धि ही यथार्थ शुद्धि है (४) और तीर्थोंमें स्नान करनेसे देह स्वच्छ होताहै परन्तु आत्मारूप महातीर्थमें विना स्नान किये अन्तरात्मा निर्मल नहीं होता। देखो सन्धिश्लोक:—३०।

---

(१) "तृण ब्रह्मविदः स्वर्गस्तृण शूरस्य जीवितम्। जिताक्षस्य तृण नारी निस्पृहस्य तृण जगत्॥" ब्रह्मज्ञानीको स्वर्ग तिनकेकी तुल्य है, वीरको जीवन तिनकेकी नाई है, जितेन्द्रियके निकट नारी तृणवत् है, और निस्पृहके निकट जगत् तृणतुल्य है। वृद्धचाणक्य।

(२) ४० सख्यक चाणक्यका श्लोक देखो—
"अभावे सति सन्तोषः स्वर्गस्थोऽसौ महीतले।"

(३) शारीरिक, मानसिक, और आध्यात्मिक समान भावसे यह तीन प्रकारकी शिक्षाही मनुष्यकी पूर्ण शिक्षा हैं। इन तीन सारवस्तुओंसे उस पूर्ण शिक्षाको बतायागया।

(४) शुद्धि दोप्रकारकी है,—बाह्यशुद्धि और भावशुद्धि, गोबर जलादिसे बाह्यशुद्धि होती है, सत्य, दमन, दया, शील और भक्तिसे आत्माकी शुद्धिको भावशुद्धि कहते है।

१६–दान, पुण्यका प्रधान अंग है । जो दान, विशुद्ध सतोगुणकी मधुमय आत्मासे उछलताहै, वही सात्विक दान पुण्यका अंग है । जिस गुणसे जगदीश्वर इन अनन्तकोटि जीवोंका पालन करतेहैं, जिसके प्रभावसे जीवके जन्म लेतेही उसके लिये माताके स्तनसे अमृतकी धारा निकलती है (१) जिस गुणके प्रभावसे एक क्षुधित मुमूर्षु प्राणि अपने मुखका अन्न दूसरेके मुखमें देदे, और जिसमें स्वार्थका लेशमात्र न हो, उसकोही सतोगुण कहतेहैं इसलिये अभिमान छोड़कर शुद्धहृदयसे सत्पात्रको दानकरे। देखो मित्रलाभ श्लोकः–१९ । दरिद्रही दानका पात्र है और कोई नहीं । देखो मित्रलाभ श्लोकः–१०।१४ ।

१७–पराये दुःखपरही दया करना योग्य है । बालककी रुलाईसे जैसे माताका हृदय गीला होजाताहै, और उस बालकके मलमूत्रमें सने रहनेपरभी माता निर्विकार चित्तसे उसको गोदमें लेतीहै, वैसेही कातरके स्वरसे जिसका हृदय भर आताहै, और उस छूनेके अयोग्य प्राणीकोभी जो विना घिन खाये गोदमे लेलेताहै, वह यथार्थ दयावान् है । इसलिये चंडालपरभी दया करनेसे मुंह न मोडो । जो चंडालको देखकर मुख फिरा लेताहै, वह कर्मचंडाल है । निर्दयी

"सत्यंशौच मनःशौच शौचमिंद्रियनिग्रहः । सर्वभूतदया शौच जलशौच तु पंचमम् ॥ शौचन्तु द्विविधं प्रोक्तं बाह्यमाभ्यन्तरं तथा । मज्जनादिकृतं बाह्य भावशुद्धिस्तथान्तरम् ॥" (गरुडपुराण) भावशुद्धिही पुरुषार्थसिद्धिका मूल है इसलिये भाव–शुद्धि ही श्रेष्ठ है,–

"अग्निहोत्रं विना वेदा न च दानं विना क्रिया । न भावेन विना सिद्धिस्तस्माद्भावो हि कारणम् ॥ न देवो विद्यते काष्ठे न पाषाणे न मृन्मये । भावे हि विद्यते देवस्तस्माद्भावो हि कारणम् ॥" (वृद्धचाणक्य)

जैसे अग्निहोत्रके विना वैदिक अनुष्ठान नहीं होता, दान विना पुण्यकर्म नहीं होता वैसेही भाव अर्थात् आत्माके प्रेमविना सिद्धि नहीं प्राप्त होती । इसलिये भावही श्रेष्ठ है । काठ, पत्थर, धातु ओर मट्टी इत्यादिमें ईश्वर नहीं, भावमेंही ईश्वर विद्यमान है । इसलिये भावही सबसे श्रेष्ठ है ।

(१) गर्भादुत्पत्तिते जन्तोर्मातुः प्रस्रवतः स्तनौ । (मित्रलाभ १८८ श्लोक)

पुरुषको कर्मचण्डाल कहतेहै (१) कर्मचण्डालकी समान अधम दूसरा नहीं। देखो मित्रलाभ श्लोकः—६३।

१८—गृहस्थाश्रम सब आश्रमोंसे श्रेष्ठ है। प्राणी जिसप्रकार प्राणवायुका आश्रय करके प्राण धारण करतेहै, वैसेही गृहस्थको आश्रय करके क्या ब्रह्मचारी, क्या गृही, क्या संन्यासी सबही जीतेहै। सबका आश्रय देनेवाला होनेसे पडितलोग इस आश्रमको श्रेष्ठ आश्रम कहतेहै (२) मनुष्यको सर्व जीवोकी तृप्ति करनेके लिये इस आश्रममे प्रवेश करना कहाहै। आतिथ्यही इस श्रेष्ठ आश्रमका श्रेष्ठ व्रत है। जो इस आतिथ्यव्रतको प्राणपणसे पालन करतेहैं, वेही गृहस्थ हैं। जिसका प्रीतिपूर्ण हृदय, चिरं शीतल, भागीरथीकी धारके समान प्राणिमात्रकी तापशान्तिके लिये सदाही खुला रहताहै वही गृहस्थ है। शत्रुमित्र और उदासीन समस्तको जो समभावसे आश्रय देतेहै, वेही गृहस्थ है,—देखो मित्रलाभ ६०। ६९। और २०१ श्लोक।

गृहीक हृदयकी प्रीतिही अतिथिके तृप्ति करनेका कारण है (३) पहुनक तृप्त होनेसेही पहुनई सम्पूर्ण होतीहै। अभिमानसे अतुल राजभोगदान करनेपरभी अतिथिसत्कार नहीं होता; और श्रद्धासे एक मुट्ठी साग या अन्नदान करनेपरभी अतिथिसत्कार होजाता है। जो अतिथिको शाकान्न देनेकी भी सामर्थ्य न हो तो,-

---

(१) श्रीरामचन्द्रजीने सीताजीपर निर्दयी व्यवहार करनेके कारणही अपनेको 'कर्मचण्डाल' कहाथा।

"अपूर्वकर्म्मचण्डालमपि मुग्धे ! विमुञ्च माम्। श्रितासि चन्दनभ्रान्त्या दुर्विपाक विषद्रुमम् ॥" (उत्तररामचरित)

(२) "यथा वायुं समाश्रित्य वर्त्तन्ते सर्वजन्तवः। तथा गृहस्थमाश्रित्य वर्त्तन्ते सर्वे आश्रमाः ॥ यस्मात्त्रयोऽप्याश्रमिणो ज्ञानेनाऽन्नेन चान्वहम्। गृहस्थेनैव धार्यन्ते तस्माज्ज्येष्ठाश्रमो गृही ॥ स सन्धार्यः प्रयत्नेन स्वर्गमक्षयमिच्छता। सुखं चेहेच्छता नित्य योऽधार्यो दुर्बलेन्द्रियैः। सर्वेषामेव चैतेषा वेदस्मृतिविधानतः। गृहस्थ उच्यते श्रेष्ठ. स त्रीनेतान्बिभर्ति हि ॥ यथा नदीनदाः सर्वे सागरे यान्ति संस्थितिम्। तथैवाश्रमिणः सर्वे गृहस्थे यान्ति संस्थितिम् ॥" मनु, ३ अध्याय ७७। ७८। ७९। और छठे अध्यायमे ८९। ९०। श्लोक देखो।

(३) अतिथिसत्कार करनेवाली द्रौपदीने प्रीतिके गुणसेही शाकके एक पत्तेसे श्रीकृष्णजीको तृप्त किया था, और पहुनईसेही विदुरजीने प्रीतियुक्त हो चावलके छिलकोंसे श्रीकृष्णजीको तृप्त किया था।

तृणानि भूमिरुदकं वाक्चतुर्थी च सूनृता ।
एतान्यपि सतां गेहे नोच्छिद्यन्ते कदाचन ॥ (मि० ला० ६१ श्लोक)

१९—आत्माकी नीचताही भेदज्ञानका मूल है, जिसप्रकार अति ऊंचे पर्वतके शिखरसे पृथ्वीपर दृष्टि करनेपर समविषमका ज्ञान नहीं होता, वरन् सब पदार्थ समतल दिखाई देते हैं. वैसेही मोहभेदी उन्नत आत्मासे इस जीवलोकपर दृष्टि डालनेसे, भेदज्ञान नहीं रहता, वरन् सब जीवोंमेंही समान ज्ञान होजाताहै। जो उन अभेद नेत्रोंसे समस्त जीवकोही समान प्रेमसे देखते हैं वेही यथार्थ महात्मा हैं (१) देखो मित्रलाभ श्लोकः–१२ ।

२०—यदि धर्ममार्गपर अविचलित रहोगे तो भगवान् अपने आप तुम्हें अन्न देंगे । देखो मित्रलाभ श्लोकः–१८९ ।

२१—जिसका हृदय मीठा है,उसके मुखसेभी मीठे वचन निकलते हैं। सुशील मधुरभाषीका कोईभी शत्रु नहीं (२) जो मधुर वचन छोड और कुछ बोलना नहीं जानते वेही 'अजातशत्रु' हैं। देखो सुहृद्भेद श्लोक –११ ।

प्रेमसने मधुर वचनोंसे सब झगडा मिटजाता है । राजनीतिशास्त्रमे 'साम' "दान' 'भेद' विग्रह',–इन चार उपायोंकी कथा है तो सही, परन्तु सिद्धिप्राप्त 'साम' अर्थात् मीठे वचनोंहीके ऊपर प्रतिष्ठित है । देखो, सन्धि श्लोकः–१०२ ।

२२—जो अपनी पीडाके समान पराई पीडाकोभी जानतेहैं, वे सब प्रकारकी हिंसाओंसे अलग रहतेहैं । जो सर्वप्रकारकी हिंसासे बचे रहतेहैं, वेही साधुरूप हैं, इसलिये अपनी पीडाकी समान पराया कष्ट विचार देखो, और 'अहिंसा परमो धर्मः' यह स्वर्गीय अक्षर अपने हृदयमें खोदरक्खो (३) । देखो, मित्रलाभ श्लोकः–११ । १२ । ९६ ।

---

(१) "त्वयि मयि चान्यत्रैको विष्णुर्व्यर्थं कुप्यसि मय्यसहिष्णुः । सर्वं पश्यात्मन्यात्मानं सर्वत्रोत्सृज भेदज्ञानम् ।" (मोहमुद्गर)

(२) "शीलेन हि त्रयो लोकाः शक्या जेतुं न संशयः । नहि किञ्चिदसाध्यं वै लोके शीलवता भवेत् ॥" (म० भा० शान्तिपर्व राजधर्म)

(३) "परस्पर विवदमानानामपि प्रमाणशास्त्राणाम् 'अहिंसा परमो धर्मः' इत्यत्रैकमत्यम् ।" प्रमाणस्वरूप धर्मशास्त्रोंमें परस्पर भेद रहनेपर भी "अहिंसा परम धर्म है" यह सर्व शास्त्र एकवाक्यसे स्वीकार करतेहैं ।

...२३–अधर्मसे जो अन्न प्राप्त होताहै, वह राजभोग होनेपरभी विषकी समान ...र है । क्योंकि उस अन्नके संग बहुत विपत्ति, शंका और आत्मग्लानि ...है । इससे जिस अन्नमे विघ्न, विपत्ति, शंका और आत्मग्लानि नहीं है, जो सदा हर्षितचित्त हो भोगाजाय, उस निष्पाप अन्नका संचय करो । शाकान्न होनेपर (१) भी अमृत है । शान्तिदेवी रावणकी लंकापुरी जो सुवर्णकी बनीहै उसमें वास नहीं करती, बरन् वह सदा वाल्मीकिजीकी ...कुटीमें रहती है । देखो मित्रलाभ श्लोकः–१५९ । और ७० ।

२४–भिक्षाकरले, पर पराये गले पडकर पेटभरनेकी समान अधम ...विका और कोई नहीं है । बुद्धिमान् प्राणत्यागनेको भला समझते, परन्तु ...राये आश्रयसे पेट नहीं भरते । देखो मित्रलाभ श्लोकः–१४० । १४१ । १४२ । १४८ ।

२५–अग्निकी गरमीसे पिघलकर जिस प्रकार सुवर्ण सुवर्णसे मिलजाता है, वैसेही प्रेमसे तपकर हृदय हृदयसे मिलजाताहै । जहांपर ऐसे साधु मित्रका मिलाप

–"अद्रोहः सर्वभूतेषु कर्मणा मनसा गिरा । अनुग्रहश्च दानं च सतां धर्मः सनातनः ॥"
(म० भा० अ० प० १४५ अ०)

' न तत्परस्य सन्दध्यात्प्रतिकूलं यदात्मनः । सङ्ग्रहेणैष धर्मः स्यात्कामादन्यः प्रवर्त्तते ॥"
(म० भा० उ० प० ३९ अ०)

(१) भले पुरुषोंकी जीविकाके विषयमे मनुजी कहतेहैं । "न लोकवृत्तं वर्त्तेत वृत्तिहेतोः कथञ्चन । अतिक्षामशठां शुद्धां जीवेद्ब्राह्मणजीविकाम् ॥ यत्कर्म कुर्वतोऽस्य स्यात्परितोषोऽन्तरात्मनः । तत्प्रयत्नेन कुर्वीत विपरीतं तु वर्जयेत् ॥ अधार्मिको नरो यो हि यस्य चाप्यनृतं धनम् । हिंसारतश्च यो नित्यं नेहासौ सुखमेधते ॥ न सीदन्नपि धर्मेण मनोऽधर्मे निवेशयेत् ॥ अधार्मिकाणां पापानामाशु पश्यन्विपर्ययम् ॥ अधर्मेणैधते तावत्ततो भद्राणि पश्यति । ततः सपत्नाञ्जयति समूलस्तु विनश्यति ॥ (मनु चतुर्थ अध्याय) जीविकाके लिये कभी घिनौना कार्य न करे, निष्पाप साधु जीविकाका आश्रय ले । जिस कर्मके करनेसे अन्तरात्माको निर्मल सन्तोष हो वही करे, ...दुरे उपायसे संचय करके कोई इस जगत्मे सुखी नहीं होसकता । पापियोंका विषम परिणाम देख प्राण जानेपर भी धर्मसे चलायमान न हो । अधर्मने पहले सिद्धि होगी तो सही है, परन्तु पीछे मूलसहित नष्ट होना होगा ।

है, वहां स्वर्गकी सुन्दरता विराजमान है। जो लोग उस दुर्लभ सुन्दरताको भोगतेहैं, उनकी समान पुण्यवान् और कौन है, जिसके दर्शनसेही सब अभाव दूर होजाय उस अनमोले रत्नकी समान और अनमोल रत्न क्या है? (१) देखो मित्रलाभ श्लोकः—४० । २२० । २२३ । २२४ ।

२६—पंचभूतके मिलने और अलग होनेसे भौतिक पिंड क्षण २ में अपना रूप बदलता है। संसारका स्वभाव ही यह है । मूर्खलोग यह न जानकर शोकमें डूबतेहैं । परन्तु पंडितगण सब जानते है। वह संसारका स्वरूप समझ शोकसागरके पार होजातेहैं। उनका आत्मा मोहके अंधकारको भेदकर नित्यानन्दमय ज्ञानलोकका भोगकरता है। देखो मित्रलाभ श्लोकः—२ । १७९। और सन्धिश्लोकः—७१ । ७२ । ७३ । ७६ । ७९ ।

२७—भगवान् अनन्तदेव जिस कल्याणमयी महाशक्तिके प्रभावसे अपरिच्छिन्न विश्वमण्डलको धारण किये हुए है उनको धर्म कहते है। (२) उस विश्वम्भर धर्मका दूसरा नाम सत्य है (३) सत्य स्वयं 'सत्' अर्थात् सर्वकाले

(१) "अकिञ्चिदपि कुर्वाणः सौख्यैर्दुःखान्यपोहति । तत्तस्य किमपि द्रव्य यो हि यस्य प्रियो जनः ।" (भवभूति)

(२) "नमो धर्माय महते धर्मो धारयते प्रजा. ।" इत्यादि ।
(म० भा० उद्योगपर्व १३७ अ०)

"धारणाद्धर्ममित्याहुर्धर्मेण विधृताः प्रजाः।यत्स्याद्धारणसंयुक्त. स धर्म इति कथ्यते॥"
(म० भा० राजधर्म १०९ अ०)

(३) विचारकरके देखनेसे जाना जासकता है कि 'धर्म' और 'सत्य' एकही पदार्थ है। इसलिये प्राचीन पंडितोंने जो धर्मके तत्त्व निरूपण किये हैं, सत्यके भी वेही तत्त्व निरूपण किये है। जो उपादान धर्मके स्थिर किये हैं, वेही सत्यके उपादान स्थिर किये है। जो लक्षण धर्मके बताये है, वेही लक्षण सत्यके कहे है। धर्मको जिस आकारसे और जिस भावसे देखा है, सत्यकोभी उसी आकारसे और उसी भावसे देखाहै ।

'सत्यं ब्रह्म तपः सत्य सत्यं विसृजते प्रजाः। सत्येन धार्यते लोकः स्वर्ग सत्येन गच्छति॥ अनृत तमसो रूप तमसा नीयते ह्यध. । तमोग्रस्ता न पश्यन्ति प्रकाश तमसावृताः ॥ स्वर्ग प्रकाश इत्याहुर्नरक तम एव च । सत्यानृत

विद्यमान है। न सत्यको विकार है, न व्यभिचार। प्रलयकालकी रात २ काल-रात्रिभी सत्यकी ज्योति लोप नहीं करसकतीं। देखो विग्रह श्लोकः-६९। मित्रलाभका क्षेपक १। और सन्धिका श्लोकः-१३६।

२८-सहस्र उपाय करकेभी कोई गुणी पुरुषके गुणको लोप नहीं करसकता। जो गुणके लोप करनेकी चेष्टा करता है, सो वह उस गुणका कुछ भी न करसकके अपनी नीचताकाही परिचय देता है। "शुष्केन्धनमिवानलः" अग्नि जैसे तृण काष्टको भेद करके जलउठती है, गुणभी वैसेही अपलापकारीके जालको भेदकर जल उठता है। देखो मित्रलाभ श्लोक-६६। ६७। ७२।

२९-जो पुरुष युवाअवस्थामे परिणामको न विचारकर कार्य करताहै वह बुढापेके लिये अपने हाथसे ही अपने अर्थ विषका बीज बोता है। क्योंकि पीछेसे सन्तापरूप कठोर सन्तापानलसे भस्म होनेके सिवाय उसके पापका दूसरा प्रायश्चित्त नहीं है। देखो मित्रलाभ श्लोकः-१६३।

३०-निर्मल आत्माही धर्मका क्षेत्र है। जिसमें समस्त इन्द्रियविकारसे छूट, सबको एक रीतिसे देखा है (१) वह वनमें चलाजाय, या गृहमें रहै, उसके

तदुभय प्राप्यते जगतीश्वरै.॥ राहुग्रस्तस्य सोमस्य यथा ज्योत्स्ना न भासते। तथा तमोऽभिभूतानां भूतानां नश्यते सुखम्" तत्र यत्सत्य स धर्मो यो धर्मः स प्रकाशो, यः प्रकाशस्तत्सुखमिति। तत्र यदनृत सेऽधर्मो, योऽधर्मस्तत्तमो, यत्तमस्तद्दु.खमिति।

(म० भा० मोक्षधर्म १०९ अ०)

अर्थात्-सत्यही ब्रह्म सत्य विश्वकी सृष्टि स्थितिका करनेवाला है कभी सत्यके द्वाराही ज्योतियुक्त स्वर्गमे पहुचता है। तम असत्यकी मूर्ति है। आत्मा तमोग्रस्त हो कुगतिको पहुचजाताहै चन्द्रमाके राहुग्रस्त होनेपर जैसे उससे चॉदनी प्रकाशित नही होती वैसेही आत्माके तमोग्रस्त होनेपर उससे आनन्दमय सत्यजोति नही झलकसकती। जो सत्यहै, वही धर्म है; जो धर्महै वही प्रकाशहै, जो प्रकाशहै, वही स्वर्ग है; और जो स्वर्ग है वही सुख है। जो असत्य है, वही अधर्म, जो अधर्म है वही तम, जो तम है, वही नरक; और जो नरकहै, वही दुःखहै। इसलिये 'धर्म' और 'सत्य' एकात्मा, अभिन्न पदार्थ हैं। केवल नाममात्रका भेदहै।

(१) सर्वत्र समदर्शन,-ब्रह्मज्ञानसे सब प्राणियोमे समदृष्टि।

लिये सब स्थान धर्मक्षेत्र हैं, जैसे पारस पत्थरके छूनेसे लोहा सुवर्ण होता है, वैसेही पवित्र आत्माके स्पर्श कियेसे सबही स्थान तपोवन होजाते हैं । देखो मित्रलाभ श्लोक.–८७ । ८८ ।

३१–दो दिनके मित्रको पायकर सदाके मित्रको मत भूलो । धन, जन, जीवन और यौवन, कुछभी सदाके लिये साथी नहींहैं । धर्मही अनन्तकालका सखा है (१) देखो मित्रलाभ श्लोकः–६७ । सन्धि श्लोकः–१३४ ।

प्रश्न । "को धर्मः" ? धर्म किसको कहते हैं ?

उत्तर । "भूतदया" अर्थात् सर्व प्राणियोंमें दया करना ।

इसप्रकारसे हितोपदेशमें अनेक उपदेश हैं विष्णुशर्म्माजीने ये उपदेश ऐसे चतुरतासे संग्रह किये हैं, कि प्रत्येक उपदेश जीवनके मार्गका मार्ग बतानेवाला है । जिसको देखते हैं उसकेही दिखानेकी इच्छा होती है । जिन्होंने सम्पूर्ण हितोपदेश पाठ कियाहै, या करेंगे वेही यह बात समझते हैं और समझेंगे ।

आजकल हम लोगोंके लिये हितोपदेश ऐसे नीतिशास्त्रकी कितनी आवश्यकता है, सो उसको अधिक क्या बतावें ! हमारी वर्त्तमान अवस्था और इन प्राचीन उपदेशोंको जिन्होंने एकबार विचारा होगा वेही इस बातको समझेहोंगे । हमारे पूर्वपुरुषोंने जिस नीति और जिस जातिको नमूना बनाया है । केवल एक धर्मही उनकी जडमें प्रतिष्ठित है; अर्थ और कामभी धर्म–मूलमें स्थापितहै, इस कारण धर्मही सहायक है। परन्तु हमने उसके विरुद्ध किया है,धर्मको मूल न बनाय कामकोही मूलमें स्थापित कियाहै, और धर्मकोभी उस कामके मूलमें लगाया है । बस हमारा धर्म,धर्म नहोकर, धर्मका मिसमात्र या कामका सहायक है । और हमारा अर्थ, अर्थ न होकर, अनर्थ होगयाहै । हम किनारेको छोड धारमें पडे, मार्गको

(१) मनुस्मृति चतुर्थअध्याय २३९ । २४० । २४१ । २४२ श्लोक यथा,–
"नाऽमुत्र हि सहायार्थं पिता माता च तिष्ठतः । न पुत्रदारं न ज्ञातिर्धर्मस्तिष्ठति केवलः॥
एकः प्रजायते जन्तुरेक एव हि लीयते । एकोऽनुभुङ्क्ते सुकृतमेक एव च दुष्कृतम्॥
मृतं शरीरमुत्सृज्य काष्ठलोष्ठसमं क्षितौ । विमुखा बान्धवा यान्ति धर्मस्तमनुगच्छति॥
तस्माद्धर्मं सहायार्थं नित्यं सञ्चिनुयाच्छनैः। धर्मेण हि सहायेन तमस्तरति दुस्तरम् ॥"

छोड कुमार्गमे चलेहै (१) केवल मूलके छोडनेसे हम निर्मूल होतेहैं । इससे हमारी यह दुर्दशा अपने किये पापका फल (२) है । इसके लिये दैव दोषी नहीं है (३) पूर्वपुरुषोके उपदेशवाक्य और अपनी दुर्गतिका विचार करनेसे अति बडे पाखडीकोभी संतापानलमें दग्ध होना पडताहै । हा ! जो जाति प्राचीन पुरुषोंके महावाक्यको मानकर चलती तो आज मातृहत्या, पितृहत्या, स्त्रीहत्या, भ्रूणहत्या, आत्महत्या इत्यादि भयंकर महापापोका होना दिनरात न सुनना पडता। सुहृद्भेदसे जाति ऊजड न होजाती । विग्रहकी अग्निसे यह सुवर्णकी लंका भस्म न होगई होती । अल्पायु, अल्पभोग, रोग व इतने अधिक शोक न पाने पडते। हितोपदेशका उपदेश यही है कि--इस जगत्मे सबही मित्रलाभ करो । जो बिना समझेबूझे सुहृद्भेद और विग्रहसे छिन्न भिन्न होजाओ तो फिर सन्धि अर्थात् मेल मिलाप स्थापित करो । अवश्यही सिद्धि और शक्ति प्राप्त करलोगे ।

"सिद्धिः साध्ये सतामस्तु"। इति ।

बलदेवप्रसाद मिश्र.

---

(१) आपदा कथित. पन्था इन्द्रियाणामसंयम: । तज्जयं सम्पदा मार्गो येनेष्ट तेन गम्यताम् । (मित्रलाभ २९ श्लोक)

(२) रोगशोकपरीतापबन्धनव्यसनानि च । आत्मापराधवृक्षस्य फलान्येतानि देहिनाम् ।। (मित्रलाभ ४२ श्लोक)

(३) विपदा हि दशा प्राप्य दैव गर्हयते नरः । आत्मन: कर्मदोपास्तु नैव जानात्यपण्डित. ।। (सन्धि ३ श्लोक)

हितोपदेश-परिशिष्ट ।



भूमिकामें लिख आये हैं कि, महाभारत, मनुस्मृति, बृहस्पतिनीति, शुक्रनीति, चाणक्यनीति, कामन्दकनीति इत्यादि प्राचीन ग्रन्थोंके प्रबन्धोंसे विष्णुशर्माजीने हितोपदेशके अधिकाश श्लोक संग्रह किये हैं। इन प्रबन्धोंके कोई २ श्लोक हितोपदेशमें अविकृत देखेजाते हैं, और कोई २ श्लोक कुछ बदले हुए भी दिखाई देतेहैं। अत एव इस परिशिष्टमें वेही सब दिखलाये जाते हैं (१)।

हितोपदेश, अवतरणिका, श्लोक नं० २ वृद्धचाणक्यमें यथा,-

अर्जयेज्ज्ञानमर्थं च पुमानमरवत्सदा ।
केशेष्विव गृहीतः सन्मृत्युना धर्ममाचरेत् ॥

कथारम्भ, श्लोक नं० १२ वृद्धचाणक्यमें यथा,-

कोऽर्थः पुत्रेण जातेन यो न विद्वान्न भक्तिमान् ।
किं तया क्रियते धेन्वा या न दोग्ध्री न गुर्विणी ॥

किसी २ पुस्तकमें इस श्लोकका दूसरा अर्द्धभाग इस प्रकारसे है यथा,-

किं तया क्रियते धेन्वा या न सूते न दुग्धदा ॥

कथारम्भ श्लोक नं० ११६ महाभारत उद्योगपर्व ११२ अध्याय श्लोक नं० २२ मे यथा,--

दाने तपसि शौर्य्ये च यस्य नोच्चारितं यशः ।
विद्यायामर्थलाभे वा मातुरुच्चार एव सः ॥

गरुडपुराण ११९ अध्यायमें यथा,--

शौर्य्ये तपसि दाने वा यस्य न प्रथितं यशः ।
विद्यायामर्थलाभे वा मातुरुच्चार एव सः ॥

कथारम्भश्लोक नं० १७ चाणक्यमें यथा,--

वरमेको गुणी पुत्रो न च मूर्खशतान्यपि ।

---

(१) इसप्रकरणसे पाठकगण समझसकेंगे कि--चाणक्य, कामन्दक, विष्णुशर्मा इत्यादि सबहीने महाभारतका आश्रय लियाहै। हमने इसमें जिस भारतके श्लोक और अध्यायोंका उल्लेख किया है। उस महाभारतको महाराजा वर्द्धमानने प्रकाशित कराया है ॥

एकश्चन्द्रस्तमो हन्ति न च ताराः सहस्रशः ॥

गरुडपुराण ११९ अध्यायमें यथा,—

एको हि गुणवान्पुत्रो निर्गुणेन शतेन किम्।
चन्द्रो हन्ति तमांस्येको न च ज्योतिः सहस्रशः ॥

शुक्रनीति चौथा अध्याय प्रथम प्रकरण श्लोक न० ११४ यथा,—

पित्रोर्निदेशवर्त्ती यः स पुत्रोऽन्वर्थनामवान्।
श्रेष्ठ एकस्तु गुणवान् किं शतैरपि निर्गुणैः ॥

कथारम्भ, श्लोक न० १९ महाभारत उद्योगपर्व ३३ अध्याय, श्लोक नं० ८९ में यथा,—

अर्थागमो नित्यमरोगिता च प्रिया च भार्या प्रियवादिनी च।
वश्यश्च पुत्रोऽर्थकरी च विद्या षड्जीवलोकस्य सुखानि राजन्।

कथारम्भ, श्लोक नं- २० वृद्धचाणक्यमें यथा,—

किं जातैर्बहुभिः पुत्रैः शोकसन्तापकारकैः।
वरमेकः कुलालम्बी यत्र विश्राम्यते कुलम् ॥

कथारम्भ, श्लोक न० २१ चाणक्यनीतिमें अविकल है। शुक्रनीतिके चतुर्थ [अ]ध्याय प्रथम प्रकरणमें,—"ऋणकारी पिता शत्रुर्माता स्त्री व्यभिचारिणी" इस [प्र]कारसे है। वृद्धचाणक्यके किसी २ पुस्तकमें,—"पिता च ऋणवान् शत्रु[र्मा]ता शत्रुरशीलिनी" यह पाठान्तर है।

कथारम्भ, श्लोक नं० २२ वृद्धचाणक्यमें यथा,—

अनभ्यासे विषं शास्त्रमजीर्णे भोजनं विषम्।
दरिद्रस्य विषं गोष्ठी वृद्धस्य तरुणी विषम् ॥

कथारम्भ, श्लोक न० २९ वृद्धचाणक्यमें यथा,—

आहारनिद्राभयमैथुनानि समानि चैतानि नृणां पशूनाम्।
ज्ञानं नराणामधिको विशेषो ज्ञानेन हीनाः पशुभिः समानाः

वृद्धचाणक्यका यही ऊपर लिखा पाठ ठीक ज्ञात होता है। कथारंभ, श्लोक नं०२६ व २७ वृद्धचाणक्यमें अविकल हैं। कथारंभ, श्लोक नं० ३२ याज्ञवल्क्य स्मृतिमें अविकल है।

महाभारत अनुशासन पर्व्व ६ अध्याय श्लोक न० ७ में यथा;—

यथा बीजं विनाक्षेत्रमुप्तं भवति निष्फलम् ।
तथा पुरुषकारेण विना दैवं न सिध्यति ॥

कथारम्भ, श्लोक नं० ३८ वृद्धचाणक्यमें यथा,—

माता रिपुः पिता शत्रुर्बालो याभ्यां न पाठ्यते ।
सभामध्ये शोभते न हंसमध्ये बको यथा ॥

कथारम्भ, श्लोक नं० ३९ चाणक्यमें अविकल है, और श्लोक नं० ४ का पाठ चाणक्यकी भिन्न २ पुस्तकोंमें पृथक् २ रीतिसे है, यथा;—"दूर शोभते मूर्खो लम्बमानपटावृतः" 'लम्बशाटपटावृतः' इत्यादि ।

कथारम्भ, श्लोक न० ४२ महाभारत वनपर्व्व प्रथम अध्याय श्लो नं० २७ यथा;—

बुद्धिश्च हीयते पुंसां हीनैः सह समागमात् ।
मध्यमैर्मध्यतां याति श्रेष्ठतां याति चोत्तमैः ॥

कथारम्भ, श्लोक नं० ४७ "गुणा गुणज्ञेषु गुणा भवन्ति" इस स्थानं "गुणा गुणज्ञा गुणिनो भवन्ति" यह पाठान्तर है ।

मित्रलाभ, श्लोक न० २ महाभारतमे अनेक स्थलपर है, वनपर्व्व दूसर अध्याय श्लोक नं० १६ शान्तिपर्व्व—मोक्षधर्म ११४ अध्यायके श्लोक न० ४ और ३३० अध्यायके श्लोक न० २ को देखो। राजधर्म २९ अध्यायमें 'भयस्थान शतानि च' के स्थानमे 'हर्षस्थानशतानि च' यह पाठ है ।

मित्रलाभ, श्लोक नं० ६ महाभारतमें प्रायः अविकल है, शांतिपर्व्व आपद्धर्म १४० अध्यायके श्लोक न० ३४ को देखो ।

मित्रलाभ, श्लोक न० ७ और ८ महाभारतमें प्रायः अविकल है, केवल 'धृतिः क्षमा' के स्थानमें 'क्षमा घृणा' यह पाठ है, श्लोक न० ८ में 'महात्मन्येव तिष्ठति' इस स्थानमें 'नाऽमहात्मसु तिष्ठति' यह पाठ है, उद्योगपर्व्व—३९ अध्याय श्लोक न० ९६ व ९७ देखो । वनपर्व्वके दूसरे अध्यायमें इन दो श्लोकोंका पाठ इस प्रकारसे है ।

इज्याध्ययनदानानि तपः सत्यं क्षमा दमः ।
अलोभ इति मार्गोऽयं धर्मस्याष्टविधः स्मृतः ॥
अत्र पूर्वश्चतुर्वर्गः पितृयानपथे स्थितः ।
उत्तरो देवयानस्तु सद्भिराचरितः सदा ॥

मित्रलाभ, श्लोक नं० ११ महाभारत अनुशासन पर्व्व दानधर्म ११९ अध्यायमें यथा,–

प्राणा यथात्मनोऽभीष्टा भूतानामपि वै तथा ।
आत्मौपम्येन मन्तव्यं बुद्धिमद्भिः कृतात्मभिः ॥

मित्रलाभ, श्लोक न० ३९ महाभारतमें अविकल है, अनुशासनपर्व-दानधर्म ११३ अध्याय श्लोक नं० ९ देखो ।

मित्रलाभ, श्लोक न० १३ वृद्धचाणक्यके किसी २ पुस्तकमें इसप्रकारसे है यथा,–

मातृवत्परदारांश्च परद्रव्याणि लोष्ठवत् ।
आत्मवत्सर्वभूतानि यः पश्यति स पश्यति ॥

मित्रलाभ, श्लोक न० १९ भगवद्गीतामें अविकलहै ।

मित्रलाभ, श्लोक न० १८ के विविध पाठान्तरहैं,-'नखिनाञ्च नदीनाञ्च शृङ्गिणा शस्त्रधारिणाम्' 'नखिनाञ्च नदीनाञ्च शृङ्गिणा शस्त्रिणां द्विषाम्' इत्यादि । शुक्रनीति तीसरे अध्यायके १४१ श्लोकमें यथा,–

शृङ्गिणां नखिनां चैव दंष्ट्रिणां दुर्जनस्य च ।
नदीनां वसतौ स्त्रीणां विश्वासं नैव कारयेत् ॥

मित्रलाभ, श्लोक नं० २२ का पाठान्तर यथा,–

वृद्धानां वचनं ग्राह्यमापत्काले ह्युपस्थिते ।
सर्वत्रैषां विचारेण भोजनेऽप्यप्रवर्त्तनम् ॥

मित्रलाभ, श्लोक न० २४ महाभारतमे अविकल है । केवल 'पडेते दुःखभागिन' के स्थानमें 'पडेते नित्यदुःखिता' यह पाठान्तर है, उद्योगपर्व ३३ अध्याय श्लोक न० ८८ को देखो । श्लोक न० २९ महाभारतमें अविकल है,

केवल 'क्लिश्यन्ते लोभमोहिताः' इस स्थानमें 'क्लिश्यन्तीहाल्पबुद्धयः' यह पाठान्तर है, शान्तिपर्व आपद्धर्म १८९ अध्याय श्लोक नं० १९ देखो। श्लोक नं० २६ महाभारत आपद्धर्म १८९ अध्या० न० ४ श्लोकमे यथा,-

लोभात्क्रोधः प्रभवति लोभात्कामः प्रवर्त्तते।
लोभान्मोहश्च माया च मानस्तम्भः परासुता॥

मित्रलाभ, श्लोक नं० २९ महाभारत व चाणक्यमें अविकल है।

" " नं० ३४ " उद्योगपर्व्व ३३ अध्याय श्लोक नं० ८० में और शुक्रनीति तीसरे अध्याय श्लोक नं० ९९ में अविकल है। महाभारत सभापर्व्व ५ अध्याय श्लोक न० १२६ कुछ अन्तर पायाजाता-है यथा,-

षडनर्था महाराज! कच्चित्ते पृष्ठतः कृताः।
निद्रालस्यं भयं क्रोधो मार्दवं दीर्घसूत्रता॥

मित्रलाभ श्लोक नं० ३९ वृद्धचाणक्य पृथक्रूपसे यथा,-

लघूनामपि सत्त्वानां समवायो रिपुञ्जयः।
वर्षाधाराधरो मेघस्तृणैरपि निवार्य्यते॥

मित्रलाभ, श्लोक नं० ४१ महाभारत स्त्रीपर्व दूसरा अध्याय, श्लोक नं० ३३ व ३४ इस प्रकारसे है यथा,-

यस्यां यस्यामवस्थायां यत्करोति शुभाशुभम्।
तस्यां तस्यामवस्थायां तत्फलं समुपाश्नुते॥
येन येन शरीरेण यद्यत्कर्म करोति यः।
तेन तेन शरीरेण तत्तत्फलमुपाश्नुते॥

मित्रलाभ, श्लोक न० ४२ वृद्ध चाणक्यमें यथा,-

दारिद्र्यरोगदुःखानि बन्धनव्यसनानि च।
आत्मापराधवृक्षस्य फलान्येतानि देहिनाम्॥

श्लोक नं० ४३ मनुस्मृति सातवा अध्याय, श्लोक नं० २१३, और महा-भारत उद्योग पर्व ३७ अध्याय, श्लोक न० १९ में अविकल है।

मित्रलाभ, श्लोक नं० ५५ महाभारत शान्तिपर्व आपद्धर्म्म १३८ अध्याय, श्लोक नं० १६३ मे यथा,–

अहमन्नं भवान्भोक्ता दुर्बलोऽहं भवान्बली।
नावयोर्विद्यते सन्धिर्वियुक्ते विषमे बले॥

मित्रलाभमें जो दीर्घकर्णनामक विलावका वृत्तान्त है, वह महाभारत उद्योग- १५८ अध्याय,-उलूकदूताभिगमनपर्व श्लोक नं० १९ से नं० ४१ तक, बाव तपस्वीके वृत्तान्तका कुछएक रूपान्तरमात्र है।

मित्रलाभ, श्लोक नं० ५८ महाभारत शान्तिपर्व आपद्धर्म्म १४० अध्याय श्लोक नं० ३३ में यथा,–

भीतवत्संविधातव्यं यावद्भयमनागतम्।
आगतं तु भय दृष्ट्वा प्रहर्त्तव्यमशङ्कया॥

मित्रलाभ, श्लोक नं० ६०, महाभारत शान्तिपर्व आपद्धर्म १४६ अध्याय, श्लोक नं० ५ मे अविकल है, केवल 'छेत्तुः पार्श्वगताच्छायाम्' के स्थानमे— छेत्तुमप्यागताच्छायाम्' यह पाठान्तर है। श्लोक नं० ६१ मनुस्मृति तीसरा अध्याय श्लोक नं० १०१ में और महाभारत उद्योगपर्व ३६ अध्याय श्लोक नं० ३४ में और वनपर्व दूसरा अध्याय श्लोक नं० ५३ मे अविकल है। केवल एतान्यपि सता गेहे' के स्थानमे 'सतामेतानि गेहेषु' यह पाठान्तर है। मित्रलाभ श्लोक, नं० ६४, अनेक पुराणोंमें देखा जाता है, महाभारत शान्तिपर्व-मोक्षधर्म्म १९१ अध्याय श्लोक नं० १२ में यह ठीक अविकल है, महाभारत-अनुशासन-पर्व दानधर्म१२६ अध्याय श्लोक नं० २५में पूर्वार्द्धका कुछ एक रूपान्तर है यथा,–

पिण्डदास्तस्य हीयन्ते न च प्रीणाति वै पितॄन्।
अतिथिर्यस्य भग्नाशो गृहात्प्रतिनिवर्त्तते॥

मित्रलाभमे,–'परस्परं विवदमानानामपि प्रमाणशास्त्राणाम् अहिंसा परमो धर्म्म इत्यत्रैकमत्यम्'–जो है इसका प्रमाण महाभारतमें यथा,–

अहिंसा परमो धर्मस्तथाऽहिंसा परं तपः।
अहिंसा परमं सत्यं यतो धर्म्मः प्रवर्त्तते॥
अहिंसा परमो धर्मस्तथाऽहिंसा परो दमः।
अहिंसा परमं दानमहिंसा परमं तपः॥

अहिंसा परमो यज्ञस्त्वहिंसा परमं बलम् ।
अहिंसा परमं मित्रमहिंसा परमं सुखम् ॥
अहिंसा परमं सत्यमहिंसा परमं श्रुतम् ।
सर्वयज्ञेषु वा दानं सर्वतीर्थेषु चाप्लुतम् ॥

इत्यादि । अनुशासन पर्व, दान धर्म, ११६ अध्याय ।

मित्रलाभ, श्लोक न० ६७, मनुस्मृति ८ अध्याय, श्लोक न० १७ अविकलहै ।

मित्रलाभ, श्लोक नं० ७३, महाभारत शान्तिपर्व, आपद्धम १३८ अध्यायमें पृथक्स्थानोंमे पृथक् २ रूपसे है, यथा,–

न कश्चित्कस्य चिन्मित्रं न कश्चित्कस्यचिद्रिपुः ।
अर्थतस्तु निबध्यन्ते मित्राणि रिपवस्तथा ॥
नास्ति जातु रिपुर्नाम मित्रं नाम न विद्यते ।
सामर्थ्ययोगाज्जायन्ते मित्राणि रिपवस्तथा ॥
नास्ति मत्री स्थिरा नाम न च ध्रुवमसौहृदम् ।
अर्थयुक्त्याऽनुजायन्ते मित्राणि रिपवस्तथा ॥
कारणात्प्रियतामेति द्वेष्यो भवति कारणात् ।
अर्थार्थी जीवलोकोऽयं न कश्चित्कस्यचित्प्रियः ॥

इत्यादि । यह श्लोक कामन्दक नीतिके आठवे सर्गमें इसप्रकारसे है । यथा,–

कारणेनैव जायन्ते मित्राणि रिपवस्तथा
रिपवो येन जायन्ते कारणं तत्परित्यजेत् ॥

मित्रलाभ, श्लोक न० ७४ चाणक्यमें यथा,–

जानीयात्प्रेषणे भृत्यान्बान्धवान्व्यसनागमे ।
मित्रं चापदि काले च भार्यां च विभवक्षये ॥

यही श्लोक गारुडनीतिसारके १०९ अध्यायमे यथा,–

आपत्सु मित्रं जानीयाद्युद्धे शूरं वने शुचिम् ।
भार्यां च विभवे क्षीणे दुर्भिक्षे च प्रियातिथिम् ॥

मित्रलाभ, श्लोक नं० ७५ चाणक्यकी सबही पुस्तकोंमें है, किसी२ पुस्तकमें पूर्व्वार्द्धका पाठ यथा,–'आतुरे व्यसने प्राप्ते दुर्भिक्षे शत्रुसङ्कटे ।'

मित्रलाभ, श्लोक न० ७५ महाभारत उद्योगपर्व्व १२९ अध्याय श्लोक नं० ३९ में यथा,–

सुहृदां हितकामानां यो न तिष्ठति शासने।
प्राज्ञानां कृतविद्यानां स नरः शत्रुनन्दनः॥

मित्रलाभ, श्लोक न० ७८ चाणक्यमें अविकल है। केवल 'तादृशं मित्रम्' के स्थानमे 'यत्नतो बन्धुम्' है। हमारी समझमें यही पाठ श्रेष्ठ है, कारण कि 'मित्रम्' पाठ रहनेसे यह क्लीवलिङ्ग शब्दका विशेषण 'कार्यहन्तारम्' और 'प्रियवादिनम्' ऐसा पुल्लिग नहीं रहसकता।

मित्रलाभ, श्लोक नं० ८३ व ९० चाणक्यमे अविकल है। श्लोक न० ९७ कामन्दक नीतिके चौथे सर्गमें यथा,–

शुचिता त्यागिता शौर्य्यं समानसुखदुःखता।
अनुरागश्च दाक्ष्यं च सत्यता च सुहृद्गुणाः॥

मित्रलाभ, श्लोक न० १००, कामन्दकनीति चतुर्थ सर्गके इन दो श्लोकोंसे सकलित हुआहै, यथा;–

गुणद्वयं परीक्षेत प्रागल्भ्यं प्रतिभां तथा।
कथायोगेन बुध्येत वाग्मित्वं सत्यवादिताम्॥
अस्तब्धतामचापल्यं वैराणां चापि कर्तृताम्।
प्रत्यक्षतो विजानीयाद्भद्रतां क्षुद्रतामपि॥

मित्रलाभ, श्लोक न० १०३, शुक्रनीति प्रथम अध्याय श्लोक नं० ३८ में यथा,–

न संत्यजेच्च स्वस्थानं नीत्या शत्रुगणं जयेत्।
स्थानभ्रष्टा नो विभान्ति दन्ताः केशा नखा नृपाः॥

मित्रलाभ, श्लोक न० १०६, १०७, १०८, १०९, ११०, १११, ११२, वृद्धचाणक्यमें प्राय अविकल हैं।

मित्रलाभ, श्लोक नं० १२१, मनुस्मृति ९ अध्याय श्लोक न० १३ में लगभग अविकल है, यथा,–

पानं दुर्जनसंसर्गः पत्या च विरहोऽटनम्।
स्वप्नोऽन्यगेहवासश्च नारीसंदूषणानि षट्॥

मित्रलाभ, श्लोक नं० २३ महाभारत अनुशासन पर्व्व ३९ अध्याय श्लोक नं० ९ में यथा;—

न चासां मुच्यते कश्चित्पुरुषो हस्तमागतः ।
गावो नवतृणानीव गृह्णन्त्येता नवं नवम् ॥

मित्रलाभ, श्लोक नं० १२६, चाणक्यमें अविकल है । श्लोक न १२७ मनुस्मृति ९ अध्यायके तीसरे श्लोकमें यथा;—

पिता रक्षति कौमारे भर्त्ता रक्षति यौवने ।
रक्षन्ति स्थाविरे पुत्रा न स्त्री स्वातंत्र्यमर्हति ॥

यही श्लोक, मनुस्मृति ५ अध्यायके १४८ श्लोकमें प्रकारान्तरसे है, यथा;—

बाल्ये पितुर्वशे तिष्ठेत्पाणिग्राहस्य यौवने ।
पुत्राणां भर्त्तरि प्रेते न भजेत्स्त्री स्वतंत्रताम् ॥

मित्रलाभ, श्लोक नं० १२८, शुक्रनीतिके तीसरे अध्यायमे यथा,—

मात्रा स्वस्रा दुहित्रा वा नात्यन्तैकान्तिकं वसेत् ।
यथा सम्बन्धमाहूयादाभाष्याश्वास्य वै स्त्रियम् ॥

मित्रलाभ, श्लोक नं० १२९ महाभारत अनुशासन पर्व्व ३९ अध्याय श्लोक नं० ८ में यथा;—

उशना वेद यच्छास्त्रं यच्च वेद बृहस्पतिः ।
स्त्रीबुद्ध्या न विशिष्येते तास्तु रक्ष्याः कथं नरैः ॥

मित्रलाभ, श्लोक नं० १३२ । १३३ यह दोनो वृद्धचाणक्यमे लगभग अविकल हैं, केवल श्लोक नं० १३३ मे 'स तु पण्डितः' के स्थानमे 'स तु जीवति' यह पाठान्तर है । यह दो श्लोक महाभारत शान्तिपर्व राजधर्म ८ अध्याय श्लोक नं० १८ । १९ मे प्रायः अविकल हैं, यथा,—

अर्थेनेह विहीनस्य पुरुषस्याल्पमेधसः ।
विच्छिद्यन्ते क्रियाः सर्वा ग्रीष्मे कुसरितो यथा ॥
यस्यार्थास्तस्य मित्राणि यस्यार्थास्तस्य बान्धवाः ।
यस्यार्थाः स पुमाँल्लोके यस्यार्थाः स तु पण्डितः ॥

मित्रलाभ, श्लोक नं० १३४ लघुचाणक्यमें यथा,—

अविद्यं जीवनं शून्यं दिक् शून्या चेदबान्धवा।
पुत्रहीनं गृहं शून्यं सर्वशून्या दरिद्रता॥

वृद्धचाणक्यमें पाठान्तर यथा,–

अपुत्रस्य गृहं शून्यं दिशः शून्यास्त्वबान्धवाः।
मूर्खस्य हृदयं शून्यं सर्वशून्या दरिद्रता॥

मृच्छकटिक नाटकके मुखबन्धमे यथा,–

शून्यमपुत्रस्य गृहं चिरशून्यं नास्ति यस्य सन्मित्रम्।
मूर्खस्य दिशः शून्याः सर्वं शून्यं दरिद्रस्य॥

मित्रलाभ, श्लोक नं० १३५ मृच्छकटिक नाटकके प्रथम अकमें यथा,–

दारिद्र्यान्मरणाद्वा मरणं मम रोचते न दारिद्र्यम्।
अल्पक्लेशं मरणं दारिद्र्यमनन्तकं दुःखम्॥

मित्रलाभ, श्लोक नं० १३७ लघुचाणक्यमें अविकल है। वृद्धचाणक्यमें पाठभेद है, यथा,–

अर्थनाशं मनस्तापं गृहिणीचरितानि च।
नीचवाक्यं चाऽपमानं मतिमान्न प्रकाशयेत्॥

मित्रलाभ, श्लोक नं० १३८, वृद्धचाणक्यमें है. शुक्रनीतिके तीसरे अध्याय श्लोक नं० १२९ मे यथा,—

आयुर्वित्तं गृहच्छिद्रं मन्त्रमैथुनभेषजम्।
तपोऽपमानदानानि नवैतानि सुगोपयेत्॥

मित्रलाभ, श्लोक नं० १४२ मृच्छकटिकनाटकके प्रथम अकमें यथा,–

दारिद्र्याद्ध्रियमेति ह्रीपरिगतः प्रभ्रश्यते तेजसो
निस्तेजाः परिभूयते परिभवान्निर्वेदमापद्यते।
निर्विण्णः शुचमेति शोकविहतो बुद्ध्या परित्यज्यते
निर्बुद्धिः क्षयमेत्यहो निधनता सर्वापदामास्पदम्॥

मित्रलाभ, श्लोक नं० १५२ का पाठान्तर वृद्धचाणक्यमें यथा,–

सन्तोषामृततृप्तानां यत्सुखं शान्तिरेव च।
न च तद्धनलुब्धानामितश्चेतश्च धावताम्॥

मित्रलाभ, श्लोक नं० १५८ चाणक्यमें अविकल है, और महाभारतके भी अनेकस्थानोंमें दृष्टि आता है, उद्योग पर्व ३७ अध्याय श्लोक न० १८ और १२८ अध्याय श्लोक न० ४९ में यथा;-

त्यजेत्कुल पुरुषं ग्रामस्यार्थे कुलं त्यजेत् ।
ग्रामं जनपदस्यार्थे आत्मार्थे पृथिवीं त्यजेत् ॥

मित्रलाभ, श्लोक नं० १५९, महाभारत शान्तिपर्व राजधर्म १११ अध्याय श्लोक नं० ३२ में अविकल है। श्लोक नं० १६१ का पाठभेद वृद्धचाणक्यमें इसप्रकार है। यथा,-

संसारकूटवृक्षस्य द्वे फले अमृतोपमे ।
सुभाषितरसास्वादः सङ्गतिः सुजनैः सह ॥

मित्रलाभ, श्लोक नं० १६४ वृद्धचाणक्यमें अविकल है; केवल 'परीवाह'के स्थानमें 'परिस्रव' पाठभेद है। श्लोक नं० १६८महाभारत शान्तिपर्व मोक्षधर्म ३२१ अध्यायके श्लोक न० ३९२ मे यथा,-

धनेन किं यन्न ददाति नाश्नुते बलेन किं येन रिपुं न बाधते। श्रुतेन किं येन न धर्ममाचरेत् किमात्मना यो न जितेन्द्रियो वशी ॥

मित्रलाभ, श्लोक न० १७९ महाभारत उद्योगपर्व ३३ अध्याय श्लोक न २७ में व और पर्व्वोंमें अविकल है। श्लोक न० १८० वनपर्व्व ३१२ अध्याय श्लोक नं० ९ में इस प्रकारसे है, यथा,-

पठकाः पाठकाश्चैव ये चान्ये शास्त्रचिन्तकाः ।
सर्वे व्यसनिनो मूर्खा यः क्रियावान्स धार्म्मिकः ॥

मित्रलाभ, श्लोक न० १८२ महाभारतके बहुतस्थानोंमें अनेक प्रकारसे है, शान्तिपर्व्व मोक्षधर्म १७४ अध्यायमें यथा;-

सुखस्यानन्तरं दुःखं दुःखस्यानन्तरं सुखम् ।
सुखदुःखे मनुष्याणां चक्रवत्परिवर्ततः ॥

मोक्षधर्मके स्थानान्तरमें यथा;-

एवमेव किलैतानि प्रियाण्येवाऽप्रियाणि च ।
जीवेषु परिवर्त्तन्ते दुःखानि च सुखानि च ॥

वनपर्वके २८९ अध्यायमे यथा;—

सुखदुःखे हि पुरुषः पर्यायेणोपसेवते।
न ह्यनन्तं सुखं कश्चित्प्राप्नोति पुरुषर्षभ॥
सुखमापतितं सेवेदुःखमापतितं वहेत।
कालप्राप्तमुपासीत सस्यानामिव कर्षकः॥

वनपर्वके २६० अध्यायमे यथा,—

सुखस्यानन्तरं दुःखं दुःखस्यानन्तरं सुखम्।
पर्यायेणोपसर्पन्ति नरं नेमिमरा इव॥

मित्रलाभ, श्लोक न० १९० महाभारत वनपर्व दूसरा अध्याय श्लोक न० ७३ में इसप्रकारसे है. यथा,—

अर्थस्योत्पादने चैव पालने च तथा क्षये।
सहन्ते च महद्दुःखं हन्ति चैवार्थकारणात्॥

मित्रलाभ, श्लोक न० १९१ महाभारत वनपर्व दूसरा अध्याय श्लोक न० ४८ मे अविकल है। श्लोक न० १९३ महाभारत वनपर्वके दूसरे अध्यायके श्लोक नं० ३९ मे अविकल है। श्लोक न० १९९ महाभारत शान्तिपर्व्व मोक्षधर्म १७७ अध्यायके श्लोक नं० २६ मे इस प्रकारसे है, यथा,—

ईहाधनस्य न सुधा लब्धे चिन्ता च भूयसी।
लब्धनाशो यथा मृत्युर्लब्धं भवति वा न वा॥

मित्रलाभ, श्लोक न० २०३ कामन्दकनीति चतुर्थसर्ग श्लोक न० ७४ मे अविकल है। श्लोक न० २०४ चाणक्यमें अविकल है। मित्रलाभ, श्लोक न० २०९ महाभारत—आदिपर्व्व—सभवपर्व्व अध्याय ७४ श्लोक न० ७९ मे अविकल है। वृद्धचाणक्यमे इसका पाठान्तर यथा,—

सा भार्या या शुचिर्दक्षा सा भार्या या पतिव्रता।
सा भार्या या पतिप्रीता सा भार्या या प्रियंवदा॥

श्लोक न० २१० चाणक्यमें अविकल है। श्लोक न० २११ महाभारत शान्तिपर्व्व आपद्धर्मके १४८ अध्यायमे इस प्रकारसे है। यथा,—

न सा स्त्री ह्यभिमन्तव्या यस्यां भर्त्ता न तुष्यति।
तुष्टे भर्तरि नारीणां तुष्टाः स्युः सर्वदेवताः॥

अग्निसाक्षिकमित्येव भर्त्ता हि दैवतं परम् ।

मित्रलाभ श्लोक नं० २१४ महाभारत शान्तिपर्व्व राजधर्म ५७ अध्यायके ४० नं० श्लोकमे अविकल है, केवल, 'लोकेऽस्मिन्' के स्थानमें 'लोकस्य' यह पाठभेदहै । श्लोक नं० २१५; महाभारत व कामन्दनीति इत्यादिके अनेक स्थानोंमें, अनेक प्रकारसे देखाजाताहै, शान्तिपर्व्व राजधर्म ७५ अध्यायमे यथा,-

पर्ज्जन्यमिव भूतानि महाद्रुममिव द्विजाः ।
नरास्तमुपजीवन्ति नृपं सर्वार्थसाधकम् ॥

मित्रलाभ, श्लोक नं० २१६, कामन्दकनीति द्वितीयसर्ग श्लोक नं० ४३ प्राय अविकल है, परन्तु किञ्चित् पाठभेद है, यथा,-

नियतविषयवर्त्ती प्रायशो दण्डयोगा-
ज्जगति परवशोऽस्मिन्दुर्लभं साधुवृत्तः ।
कृशमथ विकल वा व्याधितं वाऽधनं वा
पतिमिव कुलनारी दण्डभीत्याऽभ्युपैति ॥

मनुस्मृति ७ अध्याय श्लोक नं० २२ भी इसके अनुसारहै, यथा,-

सर्वो दण्डजितो लोको दुर्लभो हि शुचिर्नरः ।
दण्डस्य हि भयात्सर्वं जगद्भोगाय कल्पते ॥

मित्रलाभ, श्लोक नं० २२२ के अनुरूप श्लोक, महाभारत शान्तिपर्व्व राजधर्म २७ अध्यायमे यथा,-

सर्वे क्षयान्ता निचयाः पतनान्ताः समुच्छ्रयाः ।
संयोगा विप्रयोगान्ता मरणान्तं हि जीवितम् ॥

मोक्षधर्म ३३० अध्यायमें भी इसप्रकारसे है । मित्रलाभ श्लोक नं० २२५ चाणक्यमें अविकलहै । सुहृद्भेद, श्लोक नं० ३ चाणक्यमें अविकलहै । श्लोक नं० ६ माघकविके शिशुपालवध काव्यके दूसरे सर्ग श्लोक नं० ३२ में अविकल है । श्लोक नं० ७ महाभारत उद्योगपर्व १३३ अध्याय श्लोक नं० २९ मे अविकलहै । केवल, 'निरुत्साह निरानन्दनम्' स्थानमें 'निरामर्य निरुत्साहम्' यह पाठभेद है । श्लोक नं० ८ मनुस्मृति ७ अध्याय श्लोक नं० ९९ व १०१ मे लगभग अविकलहै यथा,-

अलब्धं चैव लिप्सेत लब्धं रक्षेत्प्रयत्नतः।
रक्षितं वर्द्धयेच्चैव वृद्धं पात्रेषु निक्षिपेत्॥
अलब्धमिच्छेद्दण्डेन लब्धं रक्षेदवेक्षया।
रक्षितं वर्द्धयेद्वृत्त्या वृद्धं दानेन निक्षिपेत्॥

सुहृद्भेद श्लोक नं० ९ के पूर्वार्द्धका पाठभेद वृद्धचाणक्यमें यथा,—'श्लोकेन वा तदर्द्धेन तदर्द्धार्द्धाक्षरेण च'। श्लोक नं० १० व ११ वृद्धचाणक्यमें अविकलहै। श्लोक नं० १३ में 'साध्यासिद्धिर्विधीयताम्' के स्थानमे 'साध्ये सिद्धिर्विधीयेत' यह पाठभेद है। श्लोक नं० १९ महाभारत अनुशासन पर्व दानधर्म १६२ अध्यायके श्लोक नं० ११ मे यथा;—

न प्राप्तकालो म्रियते विद्धः शरशतैरपि।
तृणाग्रेणापि संस्पृष्टः प्राप्तकालो न जीवति॥

सुहृद्भेद, श्लोक नं० ४७ अनेक पुराणोंमे मिलताहै, इसके अपरार्द्धका पाठान्तर मत्स्यपुराणके १९४ अध्यायमें यथा,—'नेत्रवक्त्रविकारैश्च गृह्यतेऽन्तर्गत मन'। श्लोक नं० ४८ वृद्धचाणक्यमें अविकलहै। श्लोक नं० ४९ महाभारत उद्योगपर्व ३३ अध्याय, श्लोक नं० ४० में यथा,—

अनाहूतः प्रविशति अपृष्टो बहु भाषते।
अविश्वस्ते विश्वसिति मूढचेता नराधमः॥

सुहृद्भेद, श्लोक नं० ५२ कामन्दकनीति ५ सर्ग श्लोक नं० २२ मे यथा,—

कोऽत्रेत्यहमिति ब्रूयात्सम्यगाज्ञापयेति च।
आज्ञां चावितथीकुर्याद्यथाशक्त्या विलम्बितम्॥

सुहृद्भेद, श्लोक नं० ५६। ५७। ५८ में जो अनुरक्त और विरक्तप्रभुका लक्षण है, वह मत्स्यपुराण राजधर्म १९० अध्यायमें कुछएक बदलाहुआ पाया-जाता है। श्लोक नं० ६१ महाभारत उद्योगपर्व ३९ अध्यायके श्लोक नं० २ प्राय: अविकल है, यथा,—

अप्राप्तकालं वचनं बृहस्पतिरपि ब्रुवन्।
लभते बुद्ध्यवज्ञानमवमानं च भारत॥

सुहृद्भेद, श्लोक नं० ६२ शुक्रनीति द्वितीय अध्यायके श्लोक नं० २२१ में प्राय: अविकल है, केवल 'अपृष्टेनापि वक्तव्यं भृत्येन हितमिच्छता'—इस स्था-

नमें 'अपृष्टोऽपि हितान्वेषी ब्रूयात्कल्याणभाषितम्' यह पाठान्तर है । श्लोक न० ६६ वृद्धचाणक्यमें प्रायः अविकल है, केवल 'पादेषु' के स्थलमें 'पादाग्रे पाठान्तर है, किसी २ पुस्तकमें 'क्रयविक्रयवेलायाम्' के स्थानमें 'यथैवास्ते तथै वास्ताम्' यह पाठान्तर देखाजाताहै । श्लोक न० ६९ महाभारत उद्योगपर्व ३३ अध्याय श्लोक न० ६५ प्रायः अविकल है, केवल 'तथैवैतान्' के स्थानमें 'यथावत्तान्' यह पाठान्तर है । श्लोक न० ७३ में बुद्धिमाननुरक्तोऽयमिहो भयगुणो जनः' इस स्थानमे 'बुद्धिमाननुरक्तोऽयमय शूर इतो भयम' यह पाठान्तर दृष्टि आता है ।

सुहृद्भेदके श्लोक न० ८० । ८१ दोनों मनुस्मृति अध्याय श्लोक नं० ११ । १२ मे अविकल है, केवल 'पद्मास्ते' के स्थलमें 'पद्मा श्रीः' यह पाठभेद है । श्लोक न० ८६ माघकविके शिशुपालवधकाव्यके सौलहवे सर्गके श्लोक न० २९ में अविकल है । सुहृद्भेद, श्लोक नं० ८९ से श्लोक न० १०५ तकमे जो राजाकी कोषरक्षाव्यवस्था, और अनुजीवीलोगोंके कार्य देखनेकी व्यवस्था है, वह कामन्दकनीति, शुक्रनीति, आदिके अनेक स्थानसे सारसंकलन करके ग्रहण कीगई है । श्लोक न० १०८ कामन्दकनीति ५ सर्ग श्लोक न० ८२ में प्रायः अविकल है, यथा,-

आयुक्तकेभ्यश्चोरेभ्यः परेभ्यो राजवल्लभात् ।
पृथिवीपतिलोभाच्च प्रजानां पञ्चधा भयम् ॥

सुहृद्भेद, श्लोक नं० ११० महाभारत-आदिपर्व-सभवपर्व-दुष्यन्तोपाख्यानमे और महाभरतके दूसरे स्थानोंमेंभी अविकल है । श्लोक न० ११३ महाभारत उद्योगपर्व ४० अध्याय, श्लोक न० ७ में, व अनुशासनपर्व ३८ अध्याय श्लोक नं० २५ में अविकल है । श्लोक न० ११७ लघुचाणक्यमें अविकल है, वृद्धचाणक्यमे पाठान्तर यथा,-'आहारो द्विगुण. स्त्रीणाम्' के स्थानमें 'स्त्रीणा द्विगुण आहारः', 'बुद्धिस्तासा चतुर्गुणा' के स्थलमें 'लज्जा चापि चतुर्गुणा', 'षड्गुणो व्यवसायश्च' के स्थानेन 'साहस षड्गुण चैव' पाठभेद है । श्लोक न० ११९ । १२० चाणक्यमे अविकल है । श्लोक न० १२५, मुद्राराक्षसनाटकके चौथे अकमे अविकल है । श्लोक न० १३३. महाभारत-उद्योगपर्व ३७ अध्याय श्लोक न० १६ मे यथा,-

सुलभाः पुरुषा राजन्सततं प्रियवादिनः।
अप्रियस्य तु पथ्यस्य परिणामः सुखावहः॥

सुहृद्भेद, श्लोक न० १४१, महाभारत—शान्तिपर्व—राजधर्म ८९ अध्याय श्लोक न० २९ में यथा,—

न परस्य प्रवादेन परेषां दण्डमर्पयेत्।
आगमानुगमं कृत्वा बध्नीयान्मोक्षयेत वा॥

सुहृद्भेद, श्लोक न० १४५, शिशुपालवधकाव्यके दूसरे सर्गमें अविकल है। श्लोक न० १४६, चाणक्य और महाभारतके पृथक् २ स्थानोंमें पृथक् २ रूपसे है, शान्तिपर्व—आपद्धर्म १४० अध्याय श्लोक न० ३० में यथा,—

दण्डेनोपनतं शत्रुं यो राजा न नियच्छति।
स मृत्युमुपगृह्णाति गर्भमश्वतरी यथा॥

सुहृद्भेद, श्लोक न० १५१ वृद्धचाणक्यमें है, 'को वास्ति राज्ञां प्रियः' के स्थलमें 'को नाम राजप्रियः', 'कः कालस्य भुजान्तरं न च गतः', के स्थलमें 'कः कालस्य न गोचरत्वमगमत्' इत्यादि पाठान्तर हैं।

सुहृद्भेद, श्लोक न० १६८, महाभारत-स्त्रीपर्व्व-दूसरा अध्याय श्लोक० १४ में इस प्रकारसे है यथा,—

हतोऽपि लभते स्वर्गं हत्वा च लभते यशः।
उभयं नो वहुगुणं नास्ति निष्फलता रणे॥

मनुस्मृति, सातवा अध्याय, श्लोक न० ८९ में यथा,—

आहवेषु मिथोऽन्योन्यं जिघांसन्तो महीक्षितः।
युध्यमानाः परं शक्त्या स्वर्गं यान्त्यपराङ्मुखाः॥

सुहृद्भेद, श्लोक न० १७७ महाभारत-शान्तिपर्व्व-आपद्धर्म १४० अध्याय श्लोक न० १४७ मे इसप्रकारसे है, यथा,—

पुत्रो वा यदि वा भ्राता पिता वा यदि वा सुहृत्।
अर्थस्य विघ्नं कुर्वाणा हन्तव्या भूतिमिच्छता॥

विग्रह, श्लोक न० २।३ कामन्दकनीति प्रथम सर्ग श्लोक नं० १०।१२ अविकलहै, और श्लोक न० २ का शुक्रनीति प्रथम अध्याय श्लोक न० ६९ अविकल है। श्लोक न० ४ शुक्रनीति चतुर्थ अध्याय, प्रथम प्रकारण श्लोक न० १९ में इसप्रकारसे है, यथा,—

उपदेशो हि मूर्खाणां क्रोधायैव शमाय न।
पयःपानं भुजङ्गानां विषायैवामृताय न॥

विग्रह, श्लोक न० ७ माघकाविके शिशुपालवधकाव्यके दूसरे सर्गके श्लोक न० ४४ मे अविकल है। श्लोक न० १०।११ वृद्धचाणक्यमें अविकल है श्लोक न० १६ कामन्दकनीति १२ सर्ग श्लोक न० ८ मे इसप्रकार है, यथा,—

उद्यतेष्वपि शस्त्रेषु यथोक्तं शासनं वदेत्।
रागापरागौ जानीयात्प्रकृतीनां च भर्त्तरि॥

विग्रह श्लोक न० २१ में 'प्रसाद कुरुते पत्युः सम्पत्तिं नाभिवाञ्छति' की जगह अनेक पुस्तकोंमें 'प्रसाद· कुरुते भर्तुः सपत्तिं नाभिजानता' यह पाठ देखाजाताहै, परन्तु अर्थ न लगनेसे यह अपपाठ जानपडताहै। श्लोक न० २१ वृद्धचाणक्यमे अविकल है।

श्लोक न० २७।२८। २९ महाभारत और अनेक पुराणोंमे कुछ २ वदले हुए हैं इनमें श्लोक न० २७ का महाभारत अनुशासनपर्व—दानधर्म १४६ अध्याय श्लोक न० ३९ में इसप्रकारसे है, यथा,—

परुषाण्यपि चोक्ता या दृष्टा क्रुद्धेन चक्षुषा।
सुप्रसन्नमुखी भर्त्तुर्या नारी सा पतिव्रता॥

विग्रह, श्लोक नं० ३० का शेषार्द्ध अंगिराजीके वचनमें कुछ एक वदला हुआ देखाजाताहै; यथा—'तावत्कालं वसेत्स्वर्गे भर्त्तारं याऽनुगच्छति' के स्थानमें अङ्गिराजीका वचन 'तावन्त्यब्दानि सा स्वर्गे भर्त्तारं याऽनुगच्छति' इसप्रकारसे है। श्लोक नं० ३१ अङ्गिराजीके वचन और महाभारतमें अविकल है। श्लोक नं० ३३ मनुस्मृतिके पंचम अध्याय श्लोक न० १५१ में अविकल

है। श्लोक न० ३८ कामन्दकनीति—द्वादशसर्ग—श्लोक नं० १३ में प्रायः अविकल है, केवल 'तीर्थाश्रमसुरस्थाने' इस स्थानमे 'तीर्थाश्रमाश्रयस्थाने' और 'सवदेत्' के स्थानमे 'सवसेत्' यह पाठान्तर है। श्लोक नं० ३९ गरुडपुराणके ११४ अध्यायमें इसप्रकारसे है, यथा,—

षट्कर्णो भिद्यते मंत्रश्चतुष्कर्णश्च धार्यते।
द्विकर्णस्य तु मंत्रस्य ब्रह्माऽप्येको न बुध्यते॥

विग्रह, श्लोक न० ४० महाभारत आश्रमवासिकपर्व ५ अध्याय श्लोक न० २४ मे प्राय. अविकल है, यथा,—

मन्त्रभेदे हि ये दोषा भवन्ति पृथिवीक्षिताम्।
न ते शक्याः समाधातुं कथञ्चिदिति मे मतिः॥

यही कालिकापुराणके ८९ अध्यायमें इसप्रकारसे है, यथा;—

दूषणं मंत्रभेदेषु नृपाणां यद्विजायते।
न तच्छक्यं समाधातुं दक्षैर्नृपशतैरपि॥

विग्रह, श्लोक न० ४२। ४३ मनुस्मृति सप्तम अध्याय श्लोक न० १९८। १९९ में प्राय· अविकल है;—

साम्ना दानेन भेदेन समस्तैरथवा पृथक्।
विजेतुं प्रयतेतारीन्न युद्धेन कदाचन॥
अनित्यो विजयो यस्माद्दृश्यते युध्यमानयोः।
पराजयश्च संग्रामे तस्माद्युद्धं विवर्जयेत्॥

इसका अनुरूप श्लोक महाभारत—शान्तिपर्व—राजधर्म ६९ अध्यायमें यथा,—

वर्जनीयं सदा युद्धं राज्यकामेन धीमता।
उपायैस्त्रिभिरादानमित्युवाच बृहस्पतिः॥
सान्त्वेन तु प्रदानेन भेदेन च नराधिपः।
यमर्थं शक्नुयात्प्राप्तुं तेन तुष्येत पंडितः॥

विग्रह, श्लोक नं० ४९ का शेषार्द्ध अर्थात्—'हस्तिना सह युद्धं हि नराणां मृत्युमावहेत्'। इस जगह अनेक पुस्तकोंमें 'न युद्धं हस्तिना सार्द्धं नराणा

पादयुद्धवत् ' यह पाठ है । विग्रह श्लोक न० ९१ का कामन्दकनीति १० सर्ग श्लोक नं० ३९ में प्रायः अविकल है, यथा,-

कौर्म्मसङ्कोचमास्थाय प्रहारमपि मर्षयेत् ।
काले प्राप्ते तु मतिमानुत्तिष्ठेत्क्रूरसर्पवत् ॥

यही मत्स्यपुराणके १८९ अध्यायमें यथा,-'गूहेत्कूर्म इवाङ्गानि रक्षेद्विवरमात्मनः' इत्यादि । इसका अनुरूप श्लोक, महाभारत शान्तिपर्व्व-आपद्धर्म १४० अध्याय, श्लोक नं० २४ में यथा,-

नास्यच्छिद्रं रिपुर्विद्याद्विद्याच्छिद्रं परस्य तु ।
गूहेत्कूर्म इवाङ्गानि रक्षेद्विवरमात्मनः ॥
बकवच्चिन्तयेदर्थान्सिंहवच्च पराक्रमेत ।
वृकवच्चावलुम्पेत शरवच्च विनिष्पतेत् ॥

विग्रह, श्लोक नं० ५३ मनुस्मृति सातवां अध्याय, श्लोक न० ७४ में अविकल है, कालिका पुराण ८९ अध्यायमें यह कुछ एक बदला हुवा है, यथा;-

शतमेको योधयति दुर्गस्थो यो धनुर्धरः ।
शतं दश सहस्राणि तस्माद्दुर्गं प्रशस्यते ॥

विग्रह, श्लोक न० ६२ कामन्दक नीति अष्टम सर्ग न० ६२ श्लोकमें प्रायः विकल है, यथा;-

छिद्रं कर्म च वित्तं च विजानाति निजो रिपुः ।
दहत्यन्तर्गतश्चैव शुष्कवृक्षमिवानलः ॥

विग्रह श्लोक नं० ६४ महाभारत उद्योगपर्व्व ३५ अध्याय श्लोक न० ५८में प्रायः अविकल है, यथा,-

न सा सभा यत्र न सन्ति वृद्धा न ते वृद्धा येन वदन्ति धर्म्मम् । नासौ धर्म्मो यत्र न सत्यमस्ति न तत्सत्यं यच्छलेनाभ्युपेतम् ॥

विग्रह, श्लोक न० ६७ चाणक्यमें अविकल है, श्लोक न० ६९ कामन्द-कनीति दशम सर्ग श्लोक नं० २८ में प्रायः अविकल है, यथा,-

भूमिर्मित्रं हिरण्यं च विग्रहस्य फलत्रयम्।
यदैतन्नियतं भावि तदा विग्रहमाचरेत् ॥

विग्रह, श्लोक न० ७२। ७३। ७४। ७५ यह चार कामन्दकनीति १८ सर्ग ४४। ४५। ४६। ४७ इन चार श्लोकोसे प्रायः अविकल ग्रहण किये गये हैं। कामन्दकनीतिसे यह चार श्लोक यथा;-

नद्यद्रिवनदुर्गेषु यत्र यत्र भयं भवेत्।
सेनापतिस्तत्र तत्र गच्छेद्व्यूहीकृतैर्बलैः ॥
नायकः पुरतो यायात्प्रवीरपृतनावृतः।
मध्ये कलत्रं स्वामी च कोषः फल्गु महद्धनम् ॥
पार्श्वयोः समयोरश्वा वाजिनां पार्श्वयो रथाः।
रथानां पार्श्वयोर्नागा नागानां चाटवीबलम्।
पश्चात्सेनापतिः सर्वं पुरस्कृत्य कृती स्वयम्।
यायात्सन्नद्धसैन्यौघः खिन्नानाश्वासयञ्छनैः ॥

विग्रह, श्लोक न० ७६ इत्यादि कईएक श्लोकोंके मिलता श्लोक महाभारत शान्तिपर्व-राजधर्म १०० अध्यायमें यथा;-

अकर्दमामनुदकाममर्यादामलोष्ठकाम्।
अश्वभूमिं प्रशंसन्ति ये युद्धकुशला जनाः ॥
अपङ्कगर्त्तरहिता रथभूमिः प्रशस्यते।
नीचद्रुममहाकक्षा सोदका हस्तियोधिनाम् ॥
बहुदुर्गा महाकक्षा वेणुवेत्रसमाकुला।
पदातीनां क्षमा भूमिः पर्वतोपवनानि च ॥
पदातिबहुला सेना दृढा भवति भारत।
रथाऽश्वबहुला सेना सुदिनेषु प्रशस्यते ॥
पदातिनागबहुला प्रावृट्काले प्रशस्यते।
गुणानेतान्प्रसंख्याय देशकालौ प्रयोजयेत् ॥

इत्यादि । विग्रह, श्लोक नं० ७९ कामन्दकनीति अष्टादश सर्ग, श्लोक न० २२ । २३ का संक्षेपमात्र है, यथा,–

अविच्छित्तं कोपभयादभ्यासनारिपोर्बलम् ।
वासयेत्कर्षयेच्चैनं दुर्गकंटकशोधनैः ॥
नित्यमाटविकं सैन्यं दुर्गकंटकशोधनैः ।
परदेशप्रवेशे च पुरा कुर्वीत पण्डितः ॥

विग्रह, श्लोक नं० ८१ महाभारत भीष्मपर्व ४२ अध्यायमें इस प्रकारसे है, यथा,–

अर्थस्य पुरुषो दासो दासस्त्वर्थो न कस्यचित ।
इति सत्यं महाराज बद्धोऽस्म्यर्थेन कौरवैः ॥

विग्रह, श्लोक नं० ८३ कामन्दक नीति १८ सर्ग श्लोक न० ३३ । ३४ इन दोनोंका सक्षेपमात्र है, यथा,–

प्रवीरपुरुषैरेतैस्तिष्ठेयुः परिवारिताः ।
अभेदेन च युद्धयेरन्रक्षेयुश्च परस्परम् ॥
फल्गुसैन्यस्य यत्किञ्चिन्मध्ये व्यूहस्य तद्भवेत ।
युद्धवस्तु च यत्किञ्चित्प्रायस्तज्जघने भवेत् ॥

विग्रह, श्लोक न० ८३ का शेषार्द्ध मनुस्मृति सप्तम अध्यायके श्लोक न० १८९ के पूर्वार्द्धसे अविकल ग्रहण कियागयाहै । मनुका श्लोक, यथा,–

उपरुध्यारिमासीत राष्ट्रं चास्योपपीडयेत् ।
दूषयेच्चास्य सततं यवसान्नोदकेन्धनम् ॥

विग्रह, श्लोक न० ८४ का मनुस्मृति सप्तम अध्यायके श्लोक न० १८२ में अविकलहै, यथा,–

स्यन्दनाश्वैः समे युध्येदनूपे नौद्विपैस्तथा ।
वृक्षगुल्मावृते चापैरसिचर्मायुधैः स्थले ॥

विग्रह, श्लोक न० ८५ का मनुस्मृति सप्तम अध्यायके श्लोक न० १९७ के पूर्वार्द्धसे अविकल गृहीत हुआहै । श्लोक न० ८६ कामंदकनीति नवम सर्ग श्लोक नं० ६७ में प्रायः अविकलहै, यथा,–

युवराजेन सन्धाय प्रधानपुरुषेण वा ।
ततः प्रकोपं जनयेदभियोक्तुः स्थिरात्मनः ॥

विग्रह, श्लोक न ८७ कामन्दकनीति अठारहवा सर्गके श्लोक नं० ६२ में इस प्रकारसे है, यथा,—

मृगयासम्प्रयुक्तं वा हन्याच्छत्रुं व्यपाश्रयः ।
अथवा गोग्रहाकृष्ट्या तल्लक्ष्यं मार्गबन्धनात् ॥

विग्रह, श्लोक नं० ९९।१०० यह दो माघकविके बनाये शिशुपालवध काव्यके दूसरे सर्गमें अविकल हैं। श्लोक न० १०४ नागानन्दनाटकमें यह अविकल है, यथा,—

जायन्ते च म्रियन्ते च मादृशाः क्षुद्रजन्तवः ।
परार्थबद्धकक्षाणां त्वादृशामुद्भवः कुतः ॥

विग्रह श्लोक न० १०९, महाभारत शान्तिपर्व राजधर्म ७० अध्यायके श्लोक न० ४ मे अविकल है, केवल 'दाता सत्पात्रवर्षी स्यात्' के स्थानमें 'दाता नाऽपात्रवर्षी स्यात्' पाठभेद है । श्लोक नं० ११० कामन्दकनीतिमें आठवें सर्गके श्लोक न० १९ से अविकल ग्रहण कियागयाहै। यह श्लोक नं० १११।११२।११३।११४ के चार कामन्दकनीति अष्टादशसर्गके श्लोक न० ५०।५१।५२।और ६२ से प्राय अविकल लियेगयेहैं; कामन्दकनीतिके वह चार श्लोक नीचे लिखेहैं, यथा,—

कन्दराशैलगहननिम्नगावनसंकटे ।
दीर्घेऽध्वनि परिश्रान्तं क्षुत्पिपासाहितक्लमम् ॥
व्याधिदुर्भिक्षमरकैः पीडितं दस्युविद्रुतम् ।
पंकपांशुजलक्लिन्नं व्यस्तं पुञ्जीकृतं पथि ॥
प्रसुप्तं भोजनव्यग्रमभूमिष्ठमसंस्थितम् ।
चौराग्निभयवित्रस्तं वृष्टिवातसमाहतम् ॥
अवस्कन्दभयाद्रात्रौ प्रजागरकृतश्रमम् ।
अवसन्नाहकश्रान्तमपराह्णे विनाशयेत् ॥

विग्रह श्लोक न०' ११९, महाभारत—उद्योगपर्व ३४ अध्याय श्लोक न० १२ में अविकल है। मनुस्मृति और कामन्दकनीति इत्यादिके जिन श्लोकोंमें व्यसनके विषयमें लिखाहै, यह ११८ श्लोक उसकाही सक्षेपमात्र है। श्लोक न० १२० अनेक प्राचीन प्रबन्धोंमें देखाजाताहै। १२२ नं० श्लोक चाणक्यमे अविकल है। श्लोक नं० १२३ महाभारत—उद्योगपर्व ३८ अध्याय श्लोक नं० ३० में प्रायः अविकल है, यथा;—

दैवतेषु च यत्नेन राजसु ब्राह्मणेषु च।
नियन्तव्यः सदा क्रोधो बालवृद्धातुरेषु च॥

उद्योगपर्व छत्तीस अध्यायममें औरप्रकारसे, यथा,—

ब्राह्मणेषु च ये शूराः स्त्रीषु ज्ञातिषु गोषु च।
वृन्तादिव फलं पक्वं धृतराष्ट्र पतन्ति ते॥
अवध्या ब्राह्मणा गावो ज्ञातयः शिशवः स्त्रियः।
येषां चान्नानि भुञ्जीत ये च स्युः शरणागताः॥

विग्रह, श्लोक नं० १२५, माघकविप्रणीत शिशुपालवध काव्यके दूमरे सर्गमे अविकल है। नं० १२९ और १३० के यह दो श्लोक, महाभारत—शान्तिपर्व राजधर्मके १०२ अध्यायमे श्लोक न० २० । २१ से कुछ बदलकर ग्रहण कियेहैं, महाभारतके यह दो श्लोक यथा;—

परस्परज्ञाः संहृष्टास्त्यक्तप्राणाः सुनिश्चिताः।
अपि पंचशतं शूरा मृद्नन्ति परवाहिनीम्॥
अपि वा पञ्च षट् सप्त संहताः कृतनिश्चयाः।
कुलीनाः पूजिताः सम्यग्विजयन्तीह शात्रवान्॥

विग्रह, श्लोक नं० १३२, कामन्दकनीति चतुर्थ सर्गके श्लोक न० २४ का कुछ एक बदल है, कामन्दकनीतिका वह श्लोक यथा,—

त्यागः सत्यं च शौर्यं च त्रय एते महागुणाः।
प्राप्नोति हि गुणान्सर्वानेतैर्युक्तो नराधिपः॥

विग्रह, श्लोक न० १३४ महाभारत उद्योगपर्व ३८ अध्याय श्लोक न० ४३ में इसप्रकारसे है, यथा;—

यत्र स्त्री यत्र कितवो बालो यत्रानुशासिता।
मज्जन्ति तेऽवशा राजन्नद्यामश्मप्लवा इव॥

विग्रह, श्लोक न० १३५ के पूर्वार्द्धमे—'हर्षक्रोधौ यतौ यस्य कोपस्त्वलव्ययेन च'। इस स्थानमें—'हर्षक्रोधौ समौ यस्य शास्त्रार्थे प्रत्ययस्तथा'। यह पाठभी किसी २ पुस्तकमे देखाजाताहै। श्लोक न० १३७ 'मज्जतोऽकार्यसागरे' के स्थानमे 'सकीर्णस्येव दन्तिनः' और 'सुशिष्टैरेव दीयते' के स्थानमें 'सुहृत्सचिवचेष्टितम्' यह पाठ भी किसी २ पुस्तकोंमें है। विग्रह श्लोक नं० १३८ में 'वनात्तु प्रच्युतः सत्यम्' के स्थानमें किसी पुस्तकके बीच 'वनाद्विनिर्गतः शूरः' ह पाठ है, और सम्पूर्ण श्लोकका पाठान्तर, यथा,—

नक्रः स्वस्थानमाश्रित्य गजेन्द्रमपि कर्षति।
स एव प्रच्युतः स्थानाच्छुनापि परिभूयते॥

विग्रह, श्लोक नं० १४२ महाभारत शान्तिपर्व आपद्धर्म १४० अध्याय श्लोक न० १२ मे प्राय. अविकल है: यथा,—

सुमंत्रितं सुविक्रान्तं सुयुद्धं सुपलायितम्।
आपदास्पदकालेन कुर्वीत न विचारयेत॥

विग्रह, श्लोक न० १४४ वेणीसहार नाटकमे अविकल है। श्लोक नं० १४६ अनेक प्राचीन प्रबन्धोमें कुछ २ वदलाहुआ है, कामन्दकमें यथा,—

स्वाम्यमात्यश्च राष्ट्रं च दुर्गं कोषो वलं सुहृत्।
परस्परोपकारीदं सप्ताङ्गं राज्यमुच्यते॥
पौरश्रेण्या सहाष्टाङ्गमपि राज्यं प्रकीर्त्तितम्।

अमरकोषमे यथा,—

स्वाम्यमात्यसुहृत्कोषराष्ट्रदुर्गबलानि च।
राज्याङ्गानि प्रकृतयः पौराणां श्रेणयोऽपि च॥

शब्दरत्नावलीमें यथा,-

स्वाम्यमात्यः सुहृत्कोषो राष्ट्रदुर्गबलं तथा ।
पौरश्रेणी च राज्याङ्गं प्रकृतिश्च भवेद्द्वयम् ॥

विग्रह, श्लोक न० १४८ कामन्दकनीति चतुर्थसर्ग, श्लोक न० ४२ में इसप्रकार है, यथा,-

नरेश्वरे जगत्सर्वं निमीलति निमीलति ।
सूर्योदये यथाऽम्भोजं तत्प्रबोधे प्रबुध्यते ॥

विग्रह, श्लोक न० १९० । १९१ यह दो श्लोक महाभारत और पुराण इत्यादिके अनेक स्थानोमें कुछ २ पाठभेदसे लिखेहुए हैं ।

सन्धि प्रकरण—श्लोक नं० ९ से अनागतविधाता, प्रत्युत्पन्नमति, व यद्भविष्यनामक तीन मत्स्योकी जो कथा हैं;—वह महाभारत—शान्तिपर्व—आपद्धर्मके १३७अध्यायसे लीगई हैं। महाभारतमें यह कथा श्लोकबद्धहै, और हितोपदेशके बीच गद्यमे लिखीहुई हैं, इन कथाओके सूचनार्थ प्रथम श्लोक दोनो ग्रन्थोंमेंही प्राय. अविकल हैं, केवल 'यद्भविष्य' के स्थानमें महाभारतके बीच दीर्घसूत्र नामान्तरमात्र है । इन कथाओकी सूचनाका प्रथम श्लोक वृद्धचाणक्यमेभी देखाजाताहै ।

सन्धि श्लोक न० ११, महाभारत—शान्तिपर्व—आपद्धर्म १४० के श्लोक ० ३७ में इस प्रकारसे है, यथा,-

योऽरिणा सह सन्धाय सुखं स्वपिति विश्वसन् ।
स वृक्षाग्रे प्रसुप्तो वा पतितः प्रतिबुध्यते ॥

सन्धिमे जो एक दृष्टान्त है कि, मुनिके प्रसादसे एक चूहा व्याघ्र होकर मुनिकाही वध करनेकोलिये तैयार हुआ था, यह कथा महाभारत शान्तिपर्व राजधर्मके ११६ । ११७ अध्यायोसे संगृहीत हुई है, संग्रह करनेमें विष्णुशर्माजीने कथाको कुछेक बदलडालाहै ।

सन्धि, श्लोक न० १९ का माघकविप्रणीत शिशुपालवधकाव्यके दूसरे सर्गमें
वेकल है। श्लोक न० २० कामन्दकनीति–चतुर्थसर्ग श्लोक न० ४९ में
य: अविकल है, यथा,–

मदोद्धतस्य नृपतेः सङ्कीर्णस्येव दंतिनः।
गच्छन्त्यन्यायवृत्तस्य नेतारः खलु वाच्यताम्॥

सन्धि, श्लोक न० २१,महाभारत–उद्योगपर्व ३७ अध्याय श्लोक न० १७
अविकल है, केवल 'प्रियाप्रियम्' के स्थानमें 'प्रियाप्रिये' यह पाठान्तर है,
२। २३। २४ यह तीन श्लोक, कामन्दकनीति नवमसर्गके ५९। ७५
ोर ६१ इन तीन श्लोकोंसे यथाक्रम अविकल गृहीत हुऐ हैं। केवल 'सुहृद्बलम्'
। स्थानपर कामन्दकमें 'सुहृद्वनम्' और श्लोक न० २४ में 'युद्दे विनाशो
वति' के स्थानपर कामन्दकमें 'नाशो भवति युद्धेन' यह पाठ है।

सन्धिमे सुद उपसुन्दनामक दो दैत्योंकी कथा है, जो महाभारत आदिपर्व
ज्यलाभपर्व २१० अध्यायसे २१२ अध्यायतक अति विस्तारसे वर्णित है।

सन्धि, श्लोक नं० २६। २७। २८। २९। ३०। ३१। ३२।
३। ३४। ३५। ३६। ३७। ३८। ३९। ४०। ४१। ४२
३। ४४। ४५। ४६। ४७। ४८। ४९। ५०। ५१। और ५२
। सत्ताईस श्लोक यथाक्रमसे कामन्दकनीति नवमसर्ग श्लोक न० ४२। ४३।
४४। ४५। ४६। ४९। ५१। ५२। २३। २४। २५। २६।
२७। २८। २९। ३०। ३१। ३२। ३३। ३४। ३५। ३६।
३७।३८। ३९। ४०। ४१ इन सत्ताईस श्लोकोंसे गृहीत हुए है, केवल दो
एक स्थानोमे कुछ २ पाठभेद है।

सन्धि, श्लोक न० ५५ कामन्दकनीति ९ सर्ग श्लोक न० ७७ में
प्राय अविकल हैं. केवल 'सम सुतत:' के स्थानपर 'सतम्प्रतत:' पाठभेद है।
श्लोक न० ६१ का अनुरूप भाव महाभारत–स्त्रीपर्व्व ७ अध्याय श्लोक नं०
२५ में यथा,–

न तत्क्रतुसहस्रेण नोपवासैश्च नित्यशः ।
अभयस्य हि दानेन यत्फलं प्राप्नुयान्नरः ॥

सन्धि, श्लोक नं० ६९ कामन्दकनीति दशम सर्ग श्लोक नं० ३६ प्रकारसे है, यथा;-

काले सहिष्णुर्गिरिवदसहिष्णुश्च वह्निवत् ।
स्कन्धेनापि वहेच्छत्रून्प्रियाणि समुदाहरन् ॥

शुक्रनीति तीसरा अध्याय श्लोक नं० १३३ में यथा,-

वहेदमित्रं स्कन्धेन यावत्स्यात्स्वबलाधिकः ।
ज्ञात्वा नष्टबलं त तु भिन्द्याद्घटमिवाश्मनि ॥

महाभारत-आपद्धर्म १४० अध्याय श्लोक नं० १८ में यथा;-

वहेदमित्रं स्कन्धेन यावत्कालविपर्ययः ।
प्राप्तकालं तु विज्ञाय भिन्द्याद्घटमिवाश्मना ॥

सन्धि, श्लोक नं० ७१ महाभारत-वनपर्व दूसरा अध्याय श्लोक नं० ४ में अविकल है, केवल, 'द्रव्यसञ्चयः' के स्थानपर 'रत्नसञ्चय' और 'मुह्येत्' स्थानपर 'गृध्येत्' यह पाठान्तर है; शान्तिपर्व-मोक्षधर्म २०५ अध्याय श्लो नं० ४ में, और ३३० अध्याय श्लोक नं० १४ में यह अविकल है। केवल 'ऐश्वर्यम्' के स्थानपर 'आरोग्यम्' और 'मुह्येत्' के स्थानपर 'गृध्येत्' य पाठान्तर है।

सन्धि, श्लोक नं० ७२ महाभारत-शान्तिपर्व-राजधर्म २८ अध्याय श्लो नं० ३६ में और मोक्षधर्म १७४ अध्याय श्लोक नं० १६ में ठीक अविकल है। श्लोक नं० ७६ महाभारत-शान्तिपर्व-राजधर्म २८ अध्याय श्लो नं० ५२ में अविकल है। केवल 'येन केनचित्' के स्थानमें 'जातु केन चित्' यह पाठभेद है, और शान्तिपर्व-मोक्षधर्म ३१९ अध्याय श्लोक नं० ९ में इसका रूपान्तर है, यथा,-

पथि संगतमेवेदं दारैरन्यैश्च बन्धुभिः।
नायमत्यन्तसंवासो लब्धपूर्वो हि केनचित् ॥

न्धि, श्लोक नं० ७९ महाभारत-शान्तिपर्व-मोक्षधर्म ३३१ अध्याय श्लोक
९ में प्राय. अविकल है, यथा,-

स्रवन्ति न निवर्त्तन्ते स्रोतांसि सरितामिव।
आयुरादाय मर्त्यानां रात्र्यहानि पुनः पुनः ॥ ९ ॥

सन्धि, श्लोक न० ८७ शान्तिशतक २ और दूसरे प्राचीन प्रबन्धोंमें देखा-
ा है। श्लोक न० ८८ मनुसंहिता ६ अध्याय श्लोक न० ६६ मे प्रायः
वेकल है, यथा,-

दूषितोऽपि चरेद्धर्मं यत्र तत्राश्रमे रतः।
समं सर्वेषु भूतेषु न लिंगं धर्मकारणम् ॥

सन्धि, श्लोक न० ८९ महाभारत शान्तिपर्व राजधर्म ११० अध्याय श्लोक
ं० २३ में प्रायः अविकल है, यथा,-

यात्रार्थं भोजनं येषां सन्तानार्थं च मैथुनम्।
वाक्सत्यवचनार्थाय दुर्गाण्यतितरन्ति ते ॥

सन्धि, श्लोक नं० ९० महाभारत-उद्योगपर्व ४० अध्याय श्लोक न० २१
में इसप्रकारसे है, यथा,-

आत्मानदी भारत पुण्यतीर्था सत्योदका धृतिकूला-
दयोर्मिः। तस्यां स्नातः पूयते पुण्यकर्मा पुण्यो ह्यात्मा
नित्यमंभोऽभ एव ॥

सन्धि, श्लोक न० ९१ महाभारत शान्तिपर्व राजधर्म ९ नवम अध्याय श्लोक
न० ३३ मे प्रायः अविकल है, यथा-

जन्ममृत्युजराव्याधिवेदनाभिरभिद्रुतम् ।
अपारमिव चास्वस्थं संसारं त्यजतः सुखम् ॥

सन्धि, श्लोक नं० ९२ महाभारत, शान्तिपर्व्व—राजधर्म्म २९ अध्याय श्लोक नं० २२ में इस प्रकारसे है यथा,—

दुःखमेवास्ति न सुखं तस्मात्तदुपलभ्यते ।
तृष्णार्तिप्रभवं दुःखं दुःखार्तिप्रभवं सुखम् ॥

सन्धि, श्लोक नं० ९९ के पूर्वार्द्धका पाठान्तर यथा,—

कामः क्रोधस्तथा लोभो हर्षो मानो मदस्तथा ।

यही श्लोक कामन्दकनीति प्रथमसर्ग श्लोक नं० ९ में यथा,—

कामः क्रोधस्तथा लोभो हर्षो मानो मदस्तथा ।
षड्वर्गमुत्सृजेदेनमस्मिंस्त्यक्ते सुखी नृपः ॥

सन्धि, श्लोक नं० १०० कामन्दकनीति चतुर्थ सर्ग श्लोक नं० ३१ में प्राय. अविकल है, यथा,—

स्मृतिस्तत्परताऽर्थेषु वितर्को ज्ञाननिश्चयः ।
दृढता मन्त्रगुप्तिश्च मन्त्रिसम्पत्प्रकीर्त्तिता ॥

सन्धि, श्लोक नं० १०१ भारविकविप्रणीत किरातार्जुनीय काव्यके दूसरे सर्ग में अविकल है । श्लोक नं० १०४ को प्राचीन प्रबन्धोंमें अविकल देखा जाता है, श्लो० नं० १०५ कामन्दकनीति—चतुर्थसर्ग श्लोक नं० १४० में अविकलहै श्लोक नं० १०८ चाणक्यमें है, इस श्लोकके विविध पाठान्तर देखे जाते हैं, महाभारत शान्तिपर्व आपद्धर्म १४० अध्याय श्लोक नं० ६२ में इस प्रकार है, यथा,—

शूरमञ्जलिपातेन भीरुं भेदेन भेदयेत् ।
लुब्धमर्थप्रदानेन समं तुल्येन विग्रहः ॥

सन्धि, श्लोक न० १०९ कामन्दकनीति तीसरा सर्ग श्लोक न० ३३ कुछ एक अदलबदल है, यथा,--

स्वभावेन हरेन्मित्रं सद्भावेन च बान्धवान्।
स्त्रीभृत्यान्प्रेमदानाभ्यां दाक्षिण्येनेतरं जनम् ॥

सन्धि, श्लोक नं० ११० ।१११। ११२ । ११३। ११४।११५।११६। ११७ । ११८ । ११९ । १२० । १२१ । १२२ । १२३ । १२४ । १२५ । १२६ । १२७ । १२८ । १२९ । १३० । और १३१ यह ...ाईस श्लोक यथाक्रमसे कामन्दकनीति ९ नवम सर्गके प्रथम श्लोकसे श्लोक ... २२ तकमें अविकल दृष्टि आते हैं केवल दो एक स्थानोंमें कुछ२ पाठभेद है । ...क न० १३० का पाठ कामन्दकनीतिमें जिसप्रकारसे है वही ठीक ज्ञात ...ाहै, कामन्दकोमे इसप्रकारसे है, यथा, -

एक एवोपहारस्तु सन्धिरेतन्मतं हि नः ।
उपहारस्य भेदास्तु सर्वेऽन्ये मैत्रवर्जिताः ॥

सन्धि, श्लोक न० १३२, कामन्दकनीति ३ सर्ग, श्लोक नं० ९ के स्थानमें ...ल 'आधिव्याधिपरीतापैः' के स्थानमें 'आधिव्याधिपरीताय' यह पाठ है, ...क न० १३३ कामन्दकनीति तीसरा सर्ग श्लोक न० १२ मे ठीक अविकल ... श्लोक न० १३४ का अतिप्राचीनकालके राजालोगोंके ताम्रफलक निबद्ध दान-...में दिखलाई देताहै । कोलब्रुक साहबके मिसिलेनियस एसके प्रथमखड ३०१ ... दिखाताहुआ दानप। देखो । श्लोक नं० १३५ कामन्दकनीति सर्गके श्लोक ...० १३ में प्रायः अविकल है. केवळ पूर्वार्द्धमें 'मृगतृष्णासम वीक्ष्य ससारं ...णभगुरम्' के स्थानपर कामन्दकमें 'जगन्मृगतृष्णातुल्य वीक्ष्येदं क्षणभगुरम्' ...र पाठभेद है । श्लोक न० १३६ का, रामायण वाल्मीकीय अयोध्याकाण्डके ...ौल्याविलापमें इसप्रकारसे है, यथा,--

अश्वमेधसहस्रं च सत्यं च तुलया धृतम् ।
तूलयित्वा तु पश्यामि सत्यमेवातिरिच्यते ॥

यही श्लोक, महाभारत-आदिपर्व-सम्भवपर्व ७४ अध्याय श्लोक न० में प्राय: अविकल है यथा,-

अश्वमेधसहस्रं च सत्यं च तुलया धृतम् ।
अश्वमेधसहस्राद्धि सत्यमेव विशिष्यते ॥

इति कात्यायनकुमार पं० बलदेवप्रसाद-मिश्र-संकलित
हितोपदेशपरिशिष्ट समाप्त ॥

पुस्तकमिलनेका ठिकाना-

खेमराज श्रीकृष्णदास,

"श्रीवेङ्कटेश्वर" स्टीम् प्रेस-बंबई.

